प्रेमिकगुरु

निगमानन्द

सारस्वत ग्रन्थावली-५

अथवा

प्रेमभक्ति तथा साधन पद्धतियाँ

भक्तिर्भगवतः सेवा भक्तिः प्रेमस्वरूपिणी ।
भक्तिरानन्दरूपा च भक्तिर्भक्तस्य जीवनम् ॥

—भक्तितत्व

परिव्राजकाचार्य

श्रीमत् स्वामी निगमानन्द परमहंस

के द्वारा प्रणीत

अनुवादक—डा० कालीकिंकर चक्रवर्ती

[मूल्य २५'०० रूपये
Rs.25-00 P

प्रकाशक—
स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती
आसाम वंगीय सारस्वत मठ
पो० हालीशहर
जिला—२४ परगना
पश्चिम बंगाल

PREMIK GURU

By

Swami Nigamananda
Paramahansa

Hindi Edition—1979
Rs. 25·00 Only

[प्रथम हिन्दी संस्करण—१९७९]

प्राप्तिस्थान

१। आसाम वंगीय सारस्वत मठ
पो० हालीशहर, जिला—२४ परगना
पश्चिम बंगाल

२। महेश लाईब्रेरी
२/१ श्यामाचरण दे स्ट्रीट, कालेज स्कोयर
कलकत्ता-७३

३। सर्वोदय बुक स्टल,
हावड़ा स्टेशन, पो० हावड़ा, जिला—हावड़ा

मुद्राकर
श्रीअमलेन्दु शिकदार
जयगुरु प्रिन्टिं वर्कस्
१३/१, हायात् खान लेन
कलकत्ता-९
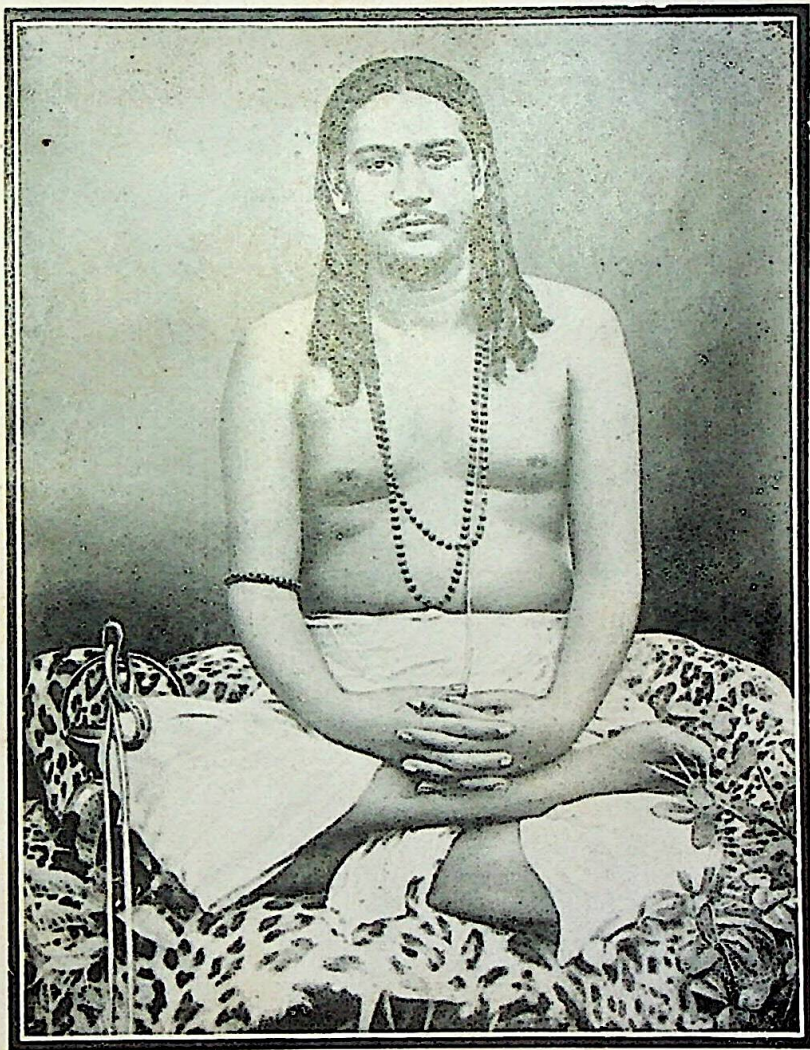
श्रीमत् स्वामी निगमानन्द सरस्वती परमहंसदेव
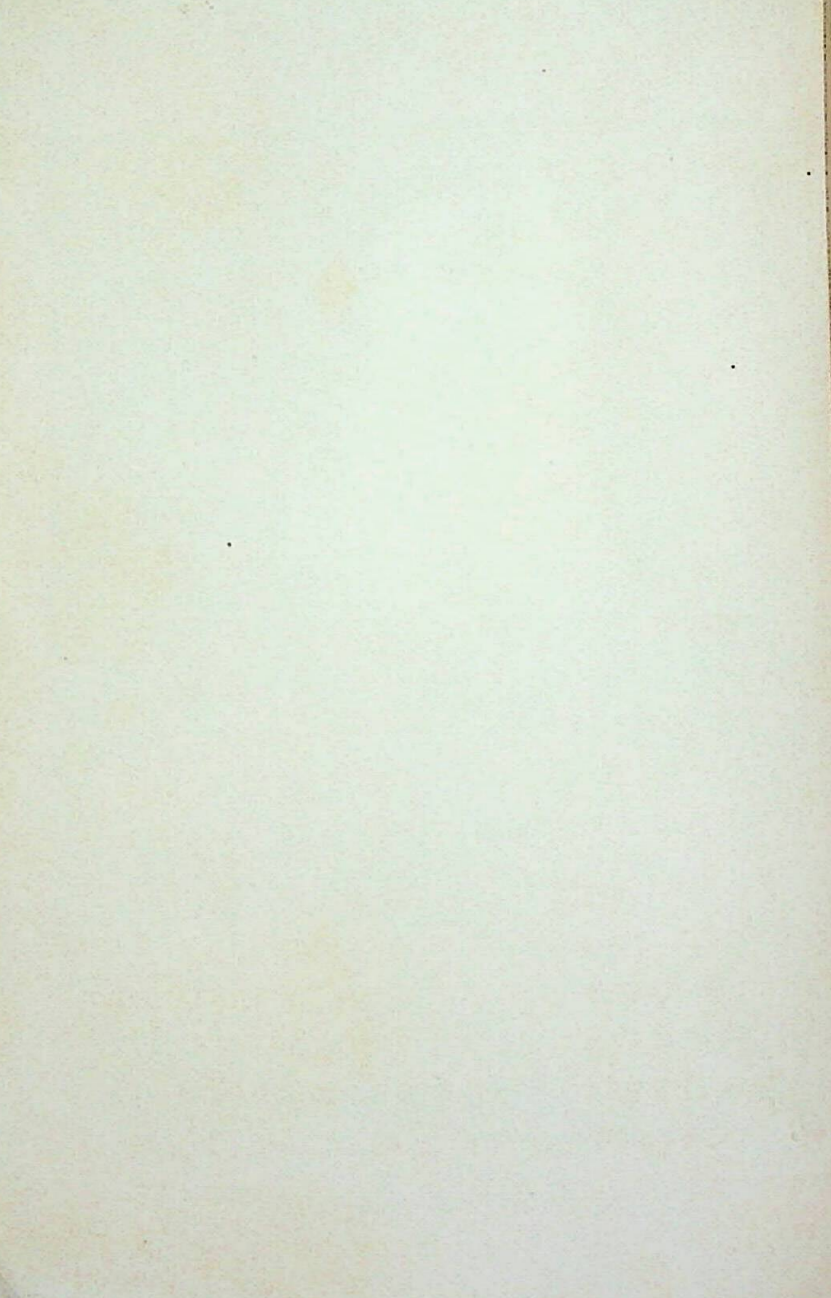
ॐ तत् सत्

उत्सर्ग

देवी !

हृद मन्दिर और मानस पट पर खींच लिया है चित्र तेरा,
स्थान उसमें अब भी अनेक, हृदय नहीं कोई क्षुद्र मेरा !
साध जगत की प्यारी वस्तु, जिसकी तुमको आस,
लाकर सबको भर दुँगा मैं इस प्रतिमा के पास ।
साँझ सवेरा या शुभ्र चाँदनी हो, खोल रखुँ मैं हृदय के पट को,
ढूढ़ू तुमको निभृत कुटिर में, भूला कर अपनी सत्ता तक को ।
सहश्र ओंकारों की जपमाला को, स्थापित कर हृद पट पर,
शरद शेफालिका की चढ़ा अंजलि, नमुँ तेरी पद पंकज मनहर ॥

हे प्रेममयी ! तुम्हारी प्रेम प्लावन के द्वारा लाई उर्बर मिट्टि ने ही तो हमारे इस उसर हृदय को सरस बनाया है। जब मैं अन्धकार में दिकभ्रान्त होकर ठोकरें खाता फिर रहा था, उस समय तुमने ही तो मेरे हृदय में सर्वप्रथम प्रेम का दीप जलाया है। गुरु बन कर, उस सुप्त प्राण में तुम्हीं ने तो प्रेम का बीज बोया है। वही बीज आज बृक्ष बनकर फल-फूलों से भर उठा है। उसी का साक्षीस्वरूप "प्रेमिकगुरु" तुम्हारे ही उद्देश्य में निवेदन कर रहा हूँ ।

एक प्रार्थना और है—मुझ जैसा दीन हीन, तुम जैसी राज-राजेश्वरी से कैसे कहे कि यदि उस फूल के साथ मैं अपनी आँसुओं की भेंट न चढ़ा दूँ, तो मुझे शान्ति नहीं मिलेगी।

हे रसमयी! मनोमयी मुर्ति का रूप लेकर मेरे हृदय में बैठ जाउ और मेरी पूजा ग्रहण करो—मुझे प्रेम में इस प्रकार प्लावित कर दो कि तुम्हारे, प्रेमसागर में मेरा प्रेमप्रवाह मिल कर एक बन जाये। सिन्धु में बिन्धु मिल जाये। सुनो मेरी पूकार!

कृपाकर इस प्रेम में ऐसा प्लावन ला दो कि पत्थर भी पिघल जाये। आओ, और मेरा यह उपहार ग्रहण करो।

तुम्हारा प्रेमभिखारी
श्रीनलिनीकान्त

ग्रंथकार का वक्तव्य

श्वेतांवरं श्वेतविलेपयुक्तं मुक्ताफलाभूषितदिव्यमूर्तिम् ।

बामांगपीठे स्थितदिव्यशक्तिं मन्दस्मितं पूर्णकृपानिधानम् ॥

इस ध्यान मंत्र का लक्ष कल्पतरु श्रीगुरु है जिनकी कण मात्र कृपा बिना प्रेम भक्ति को लाभ करना संभव नहीं। उसी प्रेम-सिन्धु-दीन-बन्धु की दया से "प्रमिकगुरु" आपके करकमलों में प्रेमानन्द से अर्पण कर रहा हूँ।

प्रेमभक्ति अहैतुक होती है। उसका एकमात्र हेतु साधु-गुरु की कृपा है। प्रेममय भगवान अथवा उनके भक्तों की कृपा बिना हम इसे लाभ नहीं कर सकते। जिस भक्ति की चर्चा मात्र से ही हृदय रोमांचित हो उठता है, उस प्रेम का तत्व भाषा के द्वारा प्रकाश करने की चेष्टा बिड़म्वना मात्र है। इसीलिये प्रेम-भक्ति का विषय आते ही प्रायः बागाडम्वर अथवा भाव एवं भाषा में एक कृत्रिम उचाछ्वस सा उठने लगता है। किन्तु भक्ति स्वतः ही हृदयग्राहिणी होने के कारण, इसकी चर्चा से बुद्धिमान का हृदय पुलकित, साधु का हृदय आनन्दयुक्त, और भक्त का हृदय नृत्य करने लगता है। इस कठिन भक्तितत्व को मुझ जैसा भक्तिहीन व्यक्ति कैसे व्यक्त कर सकता है ?

जिसकी कृपा से पंगु चलने लगता है, गुंगा भी बोल उठता है—उसी की कृपा से मैं 'प्रेमिकगुरु' लिखने बैठा हुँ। इस

पुस्तक में यदि कुछ सुन्दरता दीखाई पड़े तो वह श्यामसुन्दर की द्युति समझिये और यदि कुछ असुन्दर नजर में आये तो वह मेरे हृदय का उच्छ्वास है। स्वरूपतः भगवान, भक्ति और भक्त एक है। अतः भगवान की तरह भक्ति भी सर्वथा पूर्ण होती है। यदि इस ग्रंथ में भक्ति की पूर्णता विकसित न हुई हो, तो वह दोष मेरा है।

भक्तितत्व में साधनभक्ति, भावभक्ति, प्रेमभक्ति आदि नाना प्रकार के भेद बर्तमान रहते हुये भी, स्वरूपतः वे एक हैं। भक्ति साधना के आरंभ से लेकर प्रेम लाभ करने तक, साधक के क्रमोन्नत अवस्था की स्तरों के नामानुसार भक्ति को विभिन्न नामों में विभक्त किया गया है। किन्तु भक्त मात्र का लक्ष उसी प्रेम को लाभ करना होता है। इस पुस्तक में साधनभक्ति के बिधिवत अनुष्ठानों से लेकर क्रमशः असमोर्ध-प्रेममाधुर्य लाभ तथा साधन स्तर की अवस्थाओं के विषय का बर्णन है। प्रेमभक्ति के किसी भी अंग को हम परित्याग नहीं कर सकते। बर्तमान बैष्णव समाज में प्रमभक्ति के प्रचलित सब प्रकार के साधन पद्धतियों की आलोचना इस पुस्तक में की गई है। सर्बसाधारण के लिये यह उपयोगी बन सके—इसी उद्देश्य से ऐसा किया गया है। केवल मात्र विशुद्ध किसी एक पंथ को प्रकट करने से, वह सबके अभाव को नहीं मिटा सकता। मनुष्य मात्र की प्रतिभा, प्रकृति तथा रूचियों भिन्न हुआ करतीं हैं। अतः यदि उन्हें अपनी प्रकृति या रूचि के अनुसार साधन पंथ न मिला, तो साधारण लोगों को

उपकार की आशा कम है। यदि दूकान में हम एक ही प्रकार का कपड़ा रखें तो अधिकांश क्रेता लौट जायेगें यद्यपि कुछ उसे पसन्द करेंगे। इसीलिये मैंने इस पुस्तक को भक्तसमाज के सब सम्प्रदायों के उपयुक्त बनाने के लिये, इसमें प्रत्येक मतवाद को ही पंथ मान कर उनके रहस्यों की विबृति दी है। बिधिवत तथा रागात्मिका दोनों प्रकार के विषयों को समान बल दिया गया है। यहाँ गौड़ीय सम्प्रदाय का गोपीभाव, रामानुज-सम्प्रदाय का दास्यभाव, बल्लभाचारीयों का वात्सल्यभाव, पंचरसिकों का सहजभाव आदि विभिन्न सम्प्रदायों के भिन्न भिन्न भावों और उनकी साधन पद्धतियों को समान मर्यादा दी गई है। भाव साधना की शास्त्रीय, अशास्त्रीय अथवा बिधिवत, बिधिहीन, सब पंथों की आलोचना यहाँ की गई है। इस पुस्तक में शास्त्रों के प्रमाण, ज्ञानी भक्तबर्गों के प्रबचन और पदावलीयों का संग्रह मिलेगा।*

यह पुस्तक प्रायः शेष हो चला था कि वृन्दावन, पूरी, कलकत्ता, नवद्वीप आदि स्थानों के प्रमुख गोस्वामी तथा वैष्णवगणों द्वारा हस्ताक्षरित एक विज्ञापन मेरे हस्तगत हुआ। उसका सारमर्म था—"भ्रष्ट तान्त्रिक और वैष्णवगण साधना के

---

* श्रीमद्रूप गोस्वामी का 'भक्ति-रसामृतसिन्धु', 'उज्ज्वल-नीलमणि'; श्रीयुगल किशोर दास गोस्वामी का 'उज्ज्वल रसचिन्तामणि'; श्रीयुत रसमय दास का 'रससार', आदि वैष्णव ग्रंथ इस पुस्तक के पूर्व-स्कन्ध हैं और प्रेमभक्तितत्व ही इसकी प्रधान भित्ति है।

नाम पर सुरा और नारी को लेकर समाज में व्यभिचार को बढ़ा रहे हैं। अतः साधन कार्य के लिये यदि कोई वैष्णवी की सहायता लेता है तो वह वैष्णव संम्प्रदाय का गरय नहीं होगा।" वास्तव में भ्रष्ट तान्त्रिक तथा वैष्णवों के व्यभिचार ने देश को प्लावित कर दिया है। धर्म की आड़ लेकर न जाने कितने अधर्म अनुष्ठान किये जा रहे हैं। उसको दमन करने के लिये वैष्णव समाज के श्रेष्ठ व्यक्तियों का आग्रह प्रशसनीय है। किन्तु सत्य को उद्‌घाटित करने के निमित्त मैं यह कहने के लिये बाध्य होता हूँ कि विधिवत उपायों को परित्याग कर सत्य को आबृत करने की चैष्टा वे न करें। यद्यपि गोपी की (नारी) सहायता बिना भी रागमार्ग के साधक गोपी-भक्ति को लाभ कर सकते हैं किन्तु जिन्होंने समझ-बुझ कर साधना मैं साधक-गोपी (नारी) का आश्रय लिया है, क्या वे वैष्णव नहीं ? क्या वैष्णव-चुड़ामणि जयदेव, विद्यापति, चंडोदास या विल्वमंगल आदि को गौड़ीय संम्प्रदाय के गोस्वामी वैष्णव नहीं कहेगे ? इनमें से अधिकांश ने, केवल उसलिये कि

नारो को अवैध रूप से लिया—ब्राह्मण होते हुये भी धोवन और वेश्या को साधना का आश्रय बनाया, उन्हें वैष्णव चूड़ामणि न कह कर क्या व्यभिचारी कहेंगे ? उनके भावविह्वल कंठों से निःसृत केवल कविता यदि किसी के कर्णकुहर में प्रवेश करे, तो उसके हृद-तंत्रीयों में नया स्वर ध्वनित हो उठता है—हृदय कन्दर में एक माधुर्य रस फूट निकलता है ; जिसे तो गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के प्रवर्तक प्रेमावतार श्रीगौरांगदेव भी अति श्रद्धा के साथ सुना करते

थे। जैसा कि श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत में लिखा मिलता है—

चंडीदास व विद्यापति तथा राय के नाटक गीति।
कर्णामृत श्रीगीतगोविन्द सुनत महाप्रभु अति प्रीति ॥
दिन रात सुनत संग स्वरूप रामानन्द।
बस गावत चलत सब परम आनन्द ॥

अतएव हम यह कैसे कह सकते हैं कि वह पथ गौरांग महाप्रभू के द्वारा अनुमोदित नहीं था? यदि उनलोगों के प्रति, महाप्रभू को श्रद्धा भक्ति नहीं रही होती, तो उन की पदावलियों उन्हें आकृष्ट नहीं करती। मुझे तो ऐसा लगता है कि श्रीचैतन्यदेव जिस उज्ज्वल रसात्मक प्रेमभक्ति की महिमा को प्रचार करने के निमित्त इस जगत में अवतीर्ण हुये थे, उस परमपुरुषार्थ को लाभ करने के दूर्गम पथ को सुगम करने के लिये ही उन्होंने अपने आविर्भाव से पहले इन रसिक भक्तों को पृथ्वी पर भेजा था।

क्या विज्ञापन के गोस्वामीगण चंडीदास आदि जैसे उज्ज्वल रसात्मक प्रेम-भक्ति के साधकों को तथा वैष्णव-निकुंज के सुकंठ कोयलों का वर्जन कर सकते हैं? क्या वे वैष्णव सम्प्रदाय से उनलोगों की स्मृति अथवा अस्तित्व का लोप कर सकते है? अतएव यदि हम यह कहें कि गोस्वामीगणों ने अपने सम्प्रदाय के कलंक को छुपाने की चेष्टा की है अथवा 'समाज के मंगलार्थ' शब्द को लिख कर सत्य की अपव्याख्या की है, तो क्या अत्युक्ति हागी? उनको इस प्रकार लिखना चाहिये था—"उज्ज्वल रसात्मक साधन अत्यन्त दुष्कर होता है। अटल-हृदय वीर भक्त को छोड़ कर

रमणी की सहायता से किसी के लिये भी व्यभिचार के इस अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण होना असंभव है। अतः राय रामानन्द की तरह उचित अधिकारी बने बिना जो साधक गोपी (नारी) का आश्रय लेकर मथुरा के उज्ज्वल रसात्मक साधन के नाम पर समाज को पंकिल, सम्प्रदाय को कलुषित, धर्मपथ को अपवित्र तथा देश में व्यभिचार के श्रोत की वृद्धि कर रहे हैं, उनलोगों को हम गौड़ीय वैष्णव संम्प्रदाय-भुक्त नहीं मानते। जनसाधारण से मेरी बिनती है कि वे उन्हें स्वेच्छाचारी तथा विपथगामी समझें।"

यदि वे ऐसा नहीं करते हैं तो गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय का साधक गोपी के पदाश्रय द्वारा प्रेमरस लाभ करने के पथ को, अस्वीकार करना होगा और इस प्रकार सत्य को झुठलाना होगा। बंगाल के श्रद्धेय वैष्णवों के द्वारा इस पथ के उद्भावन से जिस महत कीर्ति तथा गौरब की प्रतिष्ठा हुई है, उससे उनकी मनीषा तथा अनुसंधित्सा की प्रशंसा मैं बार बार करते नहीं अधाता।

इस सम्पर्क में हमारा कर्त्तव्य है कि इस मधुर भक्तिरस को देश, काल, पात्र की विवेचना करने के पश्चात ही प्रकट करना अथवा गुप्त रखना उचित होगा। यह पथ या तो किसी के लिये उपयोगी नही अथवा किसी के लिये अत्यन्त कठिन है। जिन लोगो ने घृणित समझ कर इस लौकिक उज्ज्वल रस को प्राप्त करना नहीं चाहा, वे भागवतोज्ज्वल इस रस से दूर रहेंगे अथवा शान्ति-प्रीति-वात्सल्य रस के विपरीत स्वभाववाले भक्तगण इसको अपना विपरीत मार्ग समझ कर इस उज्ज्वल भक्तिरस से वंचित रहेंगे।

अतएव वैसे भक्तों के समत्त इसको प्रकट करना उचित नहीं है। जो भक्त अपने को भागवतोज्ज्वल रस ज्ञाता मानते है, उनके लिये भी यह अत्यन्त कठिन हैं। वैसे सर्वज्ञानी भक्त क निकट भी इसको प्रकट करना नहीं चाहिये। साधारण लोगों का प्रश्न तो उठता ही नहीं। उनके समक्ष तो यह पथ सर्वथा गोपनीय है। मेरे 'तान्त्रिकगुरु' ग्रंथ के कुलाचार तथा पंच मकार के सम्पर्क में भी मेरी यही राय प्रयोज्य है। विशेष कर इस ग्रंथ के "साधना के स्तर तथा सिद्ध के लक्षण" शोर्षक प्रबन्ध में गौड़ोय वैष्णव सम्प्रदाय के आधुनिक साधकों के बारे में जो कुछ कहा गया है उससे अधिक यहाँ कहना निरर्थक है। इस प्रवन्ध में पाठक को गौड़ोय वैष्णव सम्प्रदाय के प्रधान शाखाओं का बिबरण, साधना के आचार, उनका उद्देश्य तथा उनकी युक्तियों का वर्णन मिलेगा। आप स्वयं समझ सकेंगे कि भूतनाथ बने बिना भूत से यदि हम छोड़छाड़ करे तो भूत हमारी गर्दन मड़ोड़ देगा। अतएव किसी भी पथ या मतवाद को सम्प्रदाय से अलग न हटा कर यदि आपमें शक्ति है तो सम्प्रदाय से भ्रष्ट तथा व्यभिचारी व्यक्तियों को बाहर निकाल फेंकिये। ऐसा न करने पर भ्रष्ट व्यभिचारी लोगों के कारण आपकी हँसी उड़ेगी और आप सत्य से दूर हटते जायेंगे।

उस ग्रंथ में उज्ज्वल रसात्मक मधुर भक्तिरस और उसकी प्राप्ति के उपायों का विशद वर्णन मिलेगा। जो व्यक्ति उसके अधिकारी न हों, वे इसकी आलोचना करने के पश्चात अन्य भाव-भक्ति अथवा साधनभक्ति का आश्रय लें तो अच्छा है। इस पुस्तक

में सब प्रकार के भक्ति की आलोचना की गई है क्यों कि यह पुस्तक किसी विशेष सम्प्रदाय के लिये नहीं है। सभी नरनारी भक्ति के अधिकारी हैं। इस ग्रंथ की सुशीतल छाया का आश्रय सब पा सकेंगे। द्वीतिय स्कंध में मुक्ति का स्वरूप और उसकी लाभ करने के उपायों का विस्तृत वर्णन मिलेगा। सन्यास धर्म पर प्रचलित पुस्तक न रहने के कारण, सन्यास धर्म तथा उसके अधिकारी के विषय में भी यहाँ आलोचना की गई है। इसके पठने पर जाल सन्यासी आपको प्रतारित नहीं कर सकेंगा इस स्कन्ध में शंकर, गौरांग आदि अवतारगण तथा उनके धर्म मतवादों में सामंजस्य के विषय में भी विशेष आलोचना की गई है।

अन्त में उज्ज्वलाख्य मधुर-भक्तिरस साधन पिपासु भक्तों के निकट मेरी यह विनतो है कि कलिकाल के लोग जो स्वभावतः अधिक दूर्वल हैं, उनके लिये इसकी साधना अधिक कठिन प्रतीत होगी। इसीलिये चंडीदास आदि वीर भक्तों की तरह परकीया रमणी के साथ कठोर साधना में अग्रसर न होकर श्रीजयदेव की तरह स्वकीया धर्मपत्नि के साथ कामानुगा-साधन करना ही उचित होगा। शास्त्र में भी उसकी व्यवस्था है—

शेषतत्वं महेशानि निवीर्य्ये प्रवले कलौ।
स्वकीया केवला ज्ञेया सर्व्वदोषविवर्जिता॥

—महानिर्वाणतन्त्र

अतएव मूढ़ता वशतः यदि कोई परकीया रमणी में अनुरक्त होकर प्रकृत साधनाओं में असमर्थ हो तो उसे अवश्य ही रौरव के

अन्धकारमय गुफ़ा में प्रवेश करना पड़ेगा। सब दृष्टिकोण से विवेचना करते हुये यही उचित प्रतीत होता है कि साधक स्वकीया धर्मपत्नि के साथ कुल तथा रस-साधना की दीक्षा ले तो अच्छा होगा।

हे पाठक! इस ग्रंथ में अनेक अप्रचलित शष्द तथा कठिन तत्व की चर्चा मिलेगी। अतः भ्रम का होना अत्यन्त स्वाभाविक है। हे धर्मानुसरणकारी साधकगण! आप हंस की तरह भाषा तथा शुद्धि आदि दोषों को त्याग कर, प्रेम भक्ति के माधुर्य की यदि किंचित भी अनुभव कर सके, तो मैं अपना श्रम सफल समझुँगा। किमधिक विस्तारेण।

श्रीगौरांग-सेवाश्रम
८, अग्रहायण, रास पूर्णिमा
बंगाव्द—१३१९

भक्तपदारविन्दभिक्षु
दीन—**निगमानन्द**

प्रकाशक का निवेदन

बहुत दिनों से मेरे मन में एक साध थी कि आचार्यदेव के द्वारा लिखित मूल पाँचों ग्रंथ, भारतवर्ष के विशाल जनसाधारण के उपकार के लिये, राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रकाशित हों। शनैः शनैः योगीगुरु, ब्रह्मचर्य-साधन, ज्ञानीगुरु तथा तान्त्रिकगुरु का अनुवाद हिन्दी में प्रकाशित हो चुका है। आज उनका सर्वशेष महाग्रंथ प्रमिकगुरु के प्रकाश करते हुये, मैं अपने को धन्य समझ रहा हुँ। इसी बीच इस ग्रंथ का दसवाँ संस्करण बंगला भाषा में शेष हो चला है। इसके प्रति बंगाल भाषा भाषी का समादर देख कर, हमें आशा है कि हिन्दी भाषी भी इसका उतना ही आदर करेंगे।

इस ग्रंथ का अनुवाद तथा प्रूफ संशोधन डाः कालीकिंकर चक्रवर्ती महाशय ने किया है। सैकड़ों कार्य में उलझे रहते हुये भी उन्होंने अपना समय नष्ट करके, सारस्वत मठ के उपकार के लिये जो कठिन कार्य का संपादन उन्होंने किया है, ऊसके लिये उनको हम धन्यवाद क्या दें? वे तो अहर्निश गुरुकृपाधारा में स्नान कर रहे ही हैं, फिर भी हम सब लोग उनकी सर्वांगीन कल्याण कामना करते हैं।

अन्त में मैं यही कहुँगा कि जिन लोगों के लिये यह ग्रंथ प्रकाशित किया जा रहा है, यदि वे छापेखाने की त्रुटियों की उपेक्षा करके, इस पुस्तक को पढ़ कर ज्ञान लाभ कर सकें, तो हम अपने श्रम को सार्थक तथा अपने को धन्य समझेगे।

दोलपूर्णिमा
१३८५ वंगाब्द

विनीत—
स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती
प्रकाशक

सूचीपत्र

———

पूर्वस्कन्ध

प्रेमभक्ति

प्रेमिकगुरु

पूर्वस्कन्ध—प्रेमभक्ति

भक्ति कहते किसको हैं ?

भक्तिलाभ करने से पहले हमें यह समझना पड़ेगा कि भक्ति कहते किसको हैं ?

सा परानुरक्तिरीश्वरे।

—शांडिल्यसूत्र

शांडिल्य ऋषि कहते हैं—परमेश्वर के प्रति परम अनुरक्ति को ही भक्ति कहते हैं। जिसके होने पर भगवत् कृपा आकृष्ट होता हो तथा समस्त वासनायें मिट जाती हों, वही भक्ति है। सरल भाषा में हम कह सकते हैं कि भगवान के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है। यथा—

सा कस्मै परमप्रेमरूपा।

—नारदसूत्र

ज्ञान-कर्म, वासना-कामना, सुख-दुःख, धर्म-अधर्म, धन-ऐश्वर्य, स्त्री-

पुत्र, यहाँ तक कि अपने आप को भूल कर भगवान के प्रति जो ऐकान्तिक अनुरक्ति होती है, उसी को भक्ति कहते हैं। भक्तप्रवर प्रह्लाद ने भगवान से कहा—

या प्रीतिरविवेकिनां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥

—विष्णुपुराण

"अविवेकीगण जिसप्रकार इन्द्रिय विषय के प्रवल आसक्त होते हैं, हे भगवान! मेरे हृदय में तुम्हारे प्रति उसी प्रकार की आसक्ति हो।" इसका भावार्थ है कि विचार शुन्य होकर भगवान के प्रत्ति हमारी भक्ति ही सच्ची भक्ति है।

जिसने भी इस भक्ति को लाभ किया हो वही भक्त है। भक्त भगवान में आत्महारा हो जाता है। वह भक्तिभाव में विभोर होकर भगवान को अपना समझ कर उसे सर्वत्र देखता है। भक्त उसे जल-स्थल, चन्द्र-सूर्य, ग्रह-नक्षत्र, समुद्र-वादल, गंगा-गोदावरी, काशी-प्रयाग, अग्नि-वायु, पीपल और बटवृक्ष, सर्वत्र विश्वव्यापी देखता है और देखकर आत्मसमर्पण करता है। अपनी मन वुद्धि अहंकार आदि समस्त तत्वों को उसके चरणों में अर्पण कर वह कृतार्थ हो जाता है। भक्त आकुल कठों से भगवान को कहता है—प्रभो! मैं तो तप पूजा होम व्रत नियम कुछ भी नहीं जानता। मैं तुम्हें छोड़कर और कुछ भी नहीं जानता और न कुछ चाहता। तुम्हें पाकर ही मैं कृतार्थ बनुगाँ। हे मेरे प्राणाधिक! मुझ पर दया करो, मुझे अपने चरणों की धूल बना लो।

उसी तरह भगवान भी भक्त के अधीन है। वह भक्तों के उपहार को सर्वाधिक प्रेम के साथ ग्रहण करता है। भक्ति पूर्वक यदि उसे पूकारा जाय तो वह आये बिना रह नहीं सकता। यदि भक्ति रहे तो पोतल की प्रतिमा भी अन्न खा लेती है, नथ पहनलेने के वहाने पाषाण प्रतिमा के नाक में छेद हो जाता है। भक्ति के कारण शालग्राम शिला अलंकार पहनने के लिये हाथ पसारता है। भक्ति के द्वारा संसार में सबकुछ संभव है। भक्त-चुड़ामणि प्रह्लाद की भक्ति से विगलित होकर स्फटिक स्तम्भ को चीर, भगवान नृसिंह मूर्तिका रुप लेकर आविर्भूत हुये। भगवान भक्त के अधीन होता है। भक्ति के सामने भगवान खिलौना बन जाता है चाहे उससे हम जैसे भी खेलें।

समस्त इन्द्रियशक्ति के साथ मन का तद्गत भाव ही भक्ति है। अतएव भक्ति को इच्छाशक्ति की ऐकान्तिक स्वमुखी बृत्ति कह सकते हैं। इच्छा-शक्ति(will force) में ऐकान्तिक गति रहने के कारण ही वह मूर्ति का रुप धारण करता है। अधिक ठंडक से समुद्र का जल जम कर जिस प्रकार बर्फ बन जाता है, उसी प्रकार निर्विकार अनन्त चिन्मय भगवान भक्त की ऐकान्तिक इच्छा से चिद्घन बन कर प्रकाशित होता है। जगन्मय, मनोमय रुप में आकर प्रकटित होता है। जिस प्रकार विद्वान वुद्धिमान तथा अत्यन्त प्रतापशाली जज अपने पूत्र के अनुरोध से घोड़ा बन कर उसे आनन्द प्रदान करता है, उसी प्रकार ज्ञानमय, शक्तिशालो तथा शक्तिमय विराट भगवान भी

भक्तों की प्रार्थना से मनोमय रुप में आविर्भूत होता है। जिस जज साहब से बात करने में दूसरे भय से संकुचित होते हैं, वहाँ उनका पूत्र अपनी मूछों को ऐंठ कर उन्हें घोड़ा बनने पर बाध्य करता है। उसी तरह जहाँ अन्य लोग भगवान के विश्वरूप तथा विराट विभूति को देख कर आत्महारा हो जाते हैं, वहाँ भाग्यवान भक्त जो उसे 'अपना' समझता है, उसके लिये वह इच्छानुसार मूर्ति का रूप लेकर उसके सामने उपस्थित होता है। भगवत कृपा के विना इस तत्व को समझना असंभव है।

कुछलोग सोचते हैं कि ज्ञान भक्ति का विरोधी है; इसी कारण हमारे यहाँ वहुत दिनों से ज्ञान और भक्ति का द्वन्द्व चलता आ रहा है। ज्ञान और भक्ति में कौन बड़ा है, यह तर्क अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका है। आज भी ज्ञान मार्ग के साधक भक्तिमार्ग वालों को 'विटल' कह कर कटाक्ष करते है। उसी तरह भक्तिमार्ग वाले ज्ञानमार्ग वालों को 'अरसिक' कह कर उपेक्षा करते हैं। इन लोगों का चित्त हिंसा द्वेष के द्वारा कलुषित रहने के कारण उन्हें यह सोचने तक का अवसर नहीं मिलता कि उनके इस आचरण का भविष्य-परिणाम क्या होगा? भक्त कहता है—"ज्ञान में शक्कर का मिठास तो है किन्तु उसमें रस नहीं होता'। ज्ञानी कहता है—'भक्ति दूध की तरह सुपेय तो है किन्तु उसमें मिठास नहीं होती।' परन्तु वे यह नहीं समझते कि कर्म के आवर्तन से शक्कर दूध

में घुल कर त्रिसमन्वयघनामृत अति सुस्वादु शरबत बन जाता है। ज्ञानी यह नहीं समझ पाता कि शक्कर यदि दूध में घुल भी जाये फिर भी उसका अस्तित्व लुप्त नहीं होता। भक्त यह स्वीकार नहीं करता कि शक्कर के कारण यदि दूध का स्वाद अन्य प्रकार भी लगे फिर भी वह रूपान्तरित नहीं हो सकता, शक्कर केवल उसके माधुर्य को और बढ़ा देता है। इसके अतिरिक्त ज्ञानी और भक्त न जाने यह स्वीकार क्यों नहीं करते कि ज्ञान और भक्ति के शुभ मिलन पर ही धर्म प्रतिष्ठित है। इस मर्म रहस्य को साधारण लोगों के न समझने के कारण ही हिन्दुधर्म रूप कल्पबृक्ष पर हजारों जंगली घास उग आये हैं और उस बृक्ष को सुखे हुये कांड में परिणत कर दिया है।

अतएव ज्ञान कभी भी भक्ति का विरोधी नहीं; यद्यपि ब्यवहारिक ज्ञान भक्ति का विरोधी प्रतीत हो सकता है। बिना ज्ञान के भक्ति का क्या महत्व है? क्या चित् के बिना आनन्द का विकाश संभव है? मन का संस्कार ही इन्द्रियों के माध्यम से विषय के वोध में विकशित होता है। विकाश होने पर ज्ञान होता है और ज्ञान होने पर भक्ति जागती है। भक्तिलाभ होने पर फिर ज्ञान का प्रयोजन नहीं रहता। शास्त्र में भी मिलता है—

ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य ज्ञानं पश्चात् परित्यजेत्।

—उत्तरगीता

ज्ञान के द्वारा ज्ञेय वस्तु के लाभ करलेने पर फिर ज्ञान का क्या प्रयोजन? जव साधक ज्ञान के द्वारा उसको जान पाता

है तो वह ज्ञान को दूर भगा देता है अथवा ज्ञान स्वयं दूर भाग खड़ा होता है। ज्ञान और भक्ति सहोदर भाई बहन हैं। ज्ञान से छुप कर यदि भक्ति कहीं चली जाय तो समय आने पर ज्ञान अपनी छोटी बहन भक्ति को डाँट-फटकार करता हुआ उसे वहाँ से ले आ सकता है। यही कारण है कि हृदय में भक्ति का विकाश होते हुये भी हम देखते हैं कि कुछ समय के पश्चात् वही हृदय दानव के तांडव नृत्य का अखाड़ा बन जाता है। फिर वहाँ भक्ति के स्थान पर नास्तिक्य का कठोर कर्कश शब्द सुनाई पड़ता है। किन्तु यदि ज्ञान, भक्ति को ले जाकर कहीं पर बैठा दे तो वहाँ भक्ति को कोई संकोच नहीं होता। ज्ञान बड़ा भाई होने के नाते उसके सामने छोटी बहन भक्ति लज्जा से संकुचित रहती है। ज्ञान पुरुष है, वह सर्वत्र जा नहीं सकता। भक्ति बालिका है, अतः उसकी गति अन्तःपूर में अबाध रहती है। जहाँ तर्क और बुद्धि का कसरत चलता है वहाँ भक्ति नहीं जाया करती। उसके लिये शुद्धबुद्धि और शान्त स्थान चाहिये। वह तर्क-वितर्क से दूर रहती है। किन्तु भाई होने के नाते बुद्धि के साथ रहने में उसे कोई आपत्ति नहीं होती। जहाँ पर भाई बहन साथ अवस्थान करते हैं, वह स्थान देवी के आलोक से उद्भासित हो उठता है—पारीजात के गन्ध से सुवासित हो उठता है। स्वर्ग की मन्दाकिनी अपनी ऊर्ध्वगामी क्षीरधारा से उस स्थान की विधौत करती है। वहाँ ज्ञान अन्तराल में छुप कर स्नेह से अपनी बहन को निरीक्षण करता है और बालिका बहन

बिना किसी संकोच के न जाने कितनी खेल खेलती है, कितना आनन्द पाती है, कितनी लीला करती है। शुभ्रा, शीतला, मधुरा, पीयुषवरणा, अशोक-आनन्दमयी बालिका रूपीणी भक्ति, भक्त के हृदयासन पर मूर्तिमती आधिष्ठात्री देवी के रूप में उपविष्ट होकर हृदय का द्वार खोल देती है और द्वार के खुलते ही जगत आनन्दमय हो उठता है। हृदयतन्त्र से शान्ति की सहस्र प्रेमधारा प्रवाहित होने लगती है। भक्त यह देख कर कृतार्थ हो जाता है कि सब उसी आनन्दमयी की गोद में नृत्य कर रहा है।

अतएव ज्ञान, भक्ति के पथ का बाधक नहीं बनता। उन दोनों भाई बहन में बड़ा प्रेम है। एक को छोड़ कर दूसरा पल भर भी नहीं रह सकता। यदि आपको कोई ज्ञानी प्रतीत हो तो अनुसंधान करने पर पता चलेगा कि उसके पीछे लज्जा से बिनम्र संकुचित सी भक्ति अपने बड़े भाई का हाथ पकड़ कर खड़ी है। उसी प्रकार भक्तका हृदय ढूँढने पर पता चलेगा कि भक्ति की गोद में ज्ञान बैठा हुआ है। भक्तिके संकुचित होते ही ज्ञान सामने आ खड़ा होता है। प्रेम की मुर्तिमती सरल गोपबालिकायें जब श्याम की बाँसुरी के स्वर को सुन, भक्ति से उन्मत्त होकर बिवश हो, चादिनी रात मैं, उन के पास दौड़ पड़ीं तो श्रीकृष्ण ने ज्ञानहीन गोपबालाओं को ढाढस देकर समझाया कि वे इस तरह के उद्भ्रान्त उच्छ्वास को रोकने की चेष्टा करें। इस पर निरक्षर गोपबालाओं के उत्तर ने

श्रीकृष्ण को किस प्रकार निरुत्तर कर दिया था उसका उल्लेख श्रीमद्‌भागवत में मिलता है। इसीलिये मैं कह रहा था कि किसी एक का आधिक्य देखकर हम अन्य के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं कर सकते। एक के रहने पर अन्य के अवस्थान को भी हमें मानना ही पड़ेगा क्योंकि उन दोनों का सम्पर्क अच्छेद्य है। सुतरां ज्ञान भक्ति का विरोधी तो है ही नहीं वरन् वह भक्ति को साथ ले आता है। प्रश्न उठ सकता है कि भक्ति यदि समस्त हृदय को अधिकार करले तो ज्ञान का क्या प्रयोजन है ? जिसने आम को खाया है उसके लिये आम के रसायनिक विश्लेषन का क्या दरकार है ? ज्ञान तो अकेला ही सर्बत्र जा सकता है किन्तु क्या वह अपनी छोटी बहन भक्ति को अकेला जाने देगा ? यदि वह चला भी जाये तो बड़ा भाई उसे कोस कर घर लौटा लाता है। ज्ञान के बिना भक्ति कहीं भी नहीं जा सकती। अतः ज्ञान, भक्तिका विरोधी नहीं, उसका प्रतिष्ठाता है। किन्तु भक्ति प्रतिष्ठित हो जाने पर ज्ञान का प्रयोजन नहीं रहता। भक्ति स्वयं हँसती, गाती, नृत्य करती और रंग विरंग के खेल खेलती रहती है।

ज्ञान का अर्थ है, ईश्वर की सत्ता में पूर्ण विश्वास। कुछ शब्दों या पुस्तकों के पढ़ लेने से ज्ञान नहीं होता। संशय शुन्य होकर भगवान के अस्तित्व में विश्वास करना या साधारण शब्दों में ईश्वर में ईश्वर सत्ता को उपलब्ध करना ही ज्ञान है। संशयचित्त रहने पर भक्ति टिकेगी किस पर ? अतः यह सिद्ध

हुआ कि ज्ञान के बिना भक्ति हो नहीं सकती। कर्मयोग के द्वारा जब चित्त परिशुद्ध हो जायेगा, ज्ञानयोग के द्वारा आत्मा-परमात्मा का ज्ञान हो जायेगा, तब जाकर भक्ति हृदय पर अपना आसन बिछा कर बैठेगी।

केवल मात्र इस भक्ति के द्वारा ही भगवान प्राप्त हो सकता है। जीव में कितनी शक्ति है कि वह अनन्त शक्ति को पा सके या जीव को कितना ज्ञान है कि वह खद्योत होकर सूर्य को प्रकाशित कर सके? भगवान ने भक्ति और भक्त की श्रेष्ठता के बारे में स्वयं कहा है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मंतव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न में भक्तः प्रणश्यति॥

—श्रीमद्भगवद्गीता

—हे अर्जुन! अति दुराचारी भी यदि अनन्यचेता होकर मेरा भजन करे तो उसे साधु समझो क्योंकि उसने सम्यक ज्ञान लाभ किया है। जो इस प्रकार मेरा भजन करता है वह शिघ्र धर्मात्मा बन कर नित्य शान्ति को प्राप्त करता है। हे कौन्तेय! याद रखो कि मेरे भक्तका कभी बिनाश नहीं होता।

भक्त किस प्रकार अविनाशी होता है, उसके स्वरूप के सम्पर्क में भगवान कहते हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।
मैय्यर्पित मनोवुद्धिर्यो में भक्तः स मे प्रियः॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षाभर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारंभपरित्यागी यो मद्भक्तः स में प्रियः॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स में प्रियः॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्ण सुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥
तुल्य निन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमति भक्तिमान् में प्रियो नरः॥
ये तु धर्मामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

—श्रीमद्भगवद्गीता १२।१३-२०

जो भक्तिमान व्यक्ति द्वेषशुन्य, कृपालु, ममताविहीन, निरहंकारी, सुख-दुःख में समज्ञानी, क्षमावान, सतत प्रसन्नचित्त, जितेन्द्रिय, तथा दृढ़निश्चय होते हैं, जिन्होंने अपने मन बुद्धि को मुझ पर समर्पण किया हो, वे हमारे प्रिय हैं। जिनसे लोग उद्विग्न नहीं होते, जो लोगों से उद्विग्न नहीं होता और जो अनुचित हर्ष, विषाद,

भय तथा उद्वेग रहित होता है, वह हमारा प्रिय होता है। जो निःस्पृह, शुचि, दक्ष, पक्षपात रहित, तथा मनःपीड़ा शुन्य और सर्व उद्यम प्ररित्यागी होता है तथा जिसने सकाम कर्मों का परित्याग किया हो, वह मेरा प्रिय है। जो शोक, हर्ष, द्वेष, आकांक्षा तथा पापपुण्य को परित्याग कर भक्तिमान बन सका है—वह हमारा प्रिय है। जिसने सब आसक्तियों को परित्याग कर शत्रु, मित्र, मान-अपमान, शीत उष्ण, सुखदुःख, निन्दा-प्रशंसा को तुल्य समझता है, जो मौन रहता है, यत्किंचित लाभ से सन्तुष्ट रहता है, सदा एक ही स्थान पर निवास नहीं करता, जिसका मत स्थिर होता है उसकी भक्ति भी स्थिर होती है, वही हमारा भक्त है। जो मत् परायण बनकर श्रद्धा से उपर कहे गये धर्म रुपो अमृत का पान करता है, वह हमारा अत्यन्त प्रिय भक्त है।

हे पाठकगण! भक्त होने के गुणों को तो आप समझ गये होंगे। केवल भभूत लगाने, चेंदा लेने, बाल मुड़ाने, जटा बढ़ाने, या कंठी बाँधने से ही कोई भक्त नहीं बन जाता। उपरोक्त लक्षणों के रहने पर ही वह भक्त कहलाने के योग्य है। यदि आँखें मूँद कर मछली की तरह मुँह फाड़ कर बीच बीच में कोई चिल्लाता रहे—'हे गोपीवल्लभ' 'हे प्राणवल्लभ' तो उसे साधना नहीं कहते। भगवान कहते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता १२।६-७

जो मुझको अपना समस्त कर्म समर्पण पूर्वक मत्परायण होकर अनन्य पराभक्ति के द्वारा मेरा ही ध्यान तथा उपासना करता है, मैं उसे शिघ्र इस मरणशील संसार-सागर से उद्धार कर लेता हूँ ।

अतएव भक्ति ही भगवत् आराधना का प्राण है । बन्धा नारी का सन्तानोत्पादन जिस प्रकार निष्फल होता है, उसी प्रकार भक्तिहीन ब्यक्ति का जप तप उपासना सब व्यर्थ हो जाता है । सच्चा साधक भक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं माँगता । भक्ति में भक्त की अवस्था किस प्रकार होती है, उसे हम व्यक्त नहीं कर सकते ।

भक्ति की साधना करते करते प्रेमभक्ति का उदय होता है । फिर भक्त शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा कान्ता आदि उच्चतर प्रेम की लीला माधुरी में विभोर हो जाता है । साधक सर्वत्र भगवान का ही अस्तित्व दर्शन करता है, वह समझ पाता है—

विस्तारः सर्वभूतस्य विष्णोर्विश्वमिदं जगत् ।
द्रष्टव्यमात्मवत् तस्मादभेदेन विचक्षणैः ॥

—विष्णुपुराण

यह विश्व-जगत सर्वभूत विष्णुका बिस्तार मात्र है। इसी कारण बिचक्षण व्यक्ति दूसरे के साथ अपने को अभेद देखता है । यदि भेद ज्ञान रहे तो वह कभी भी भक्ति का अधिकारी नहीं बन सकता ।

पूराण का हरगौरी मूर्ति, ज्ञान और प्रेम का ज्वलन्त दृष्टान्त है। महादेव ज्ञान के मूर्ति हैं, तो गौरी प्रेम की। शिव के त्याग की कर्कशता, गौरी की प्रेममाधुर्य से उज्ज्वल हो उठता है। यदि आलोक शीशे की चिमनी के द्वारा आवृत न रहे तो वह कर्कश और अनुज्ज्वल दीखाई पड़ेगा किन्तु चिमनी से आच्छादित कर देने पर वह स्निग्ध तथा उज्ज्वल प्रकाश देने लगता है। उसी प्रकार ज्ञान में प्रेम का आवरण रहे तो ज्ञानालोक का स्निग्ध तथा मधुरोज्ज्वल ज्योति साधक को तृप्ति प्रदान करता है।

भक्तियोग के सिद्ध हो जाने पर भक्त, भक्ति की शक्ति से जगत रूपी जगन्नाथ को अपने साथ लय कर लेता है।

———

भक्ति-तत्त्व

जीवात्मा, परमात्मा का भिन्न प्रकाश होने के कारण, जीव मात्र में ही भगवान क़ा अपनापन होता है। अतः भावभक्ति जीव का स्वभावधर्म है। माया के द्वारा आच्छन्न होने के कारण जीव आत्मा का स्वरूप और अपने स्वाभाविक धर्म को भूल कर विभ्रान्त होकर भटक रहा है। किन्तु भगवान ने बद्धजीव के स्वभाव में कृपावश. एक ऐसा अभाव छोड़ रखा है जिसके कारण एक न एक दिन वह अपने विस्मृत सम्पद को ढूँढने में प्रवृत्त होता है और भगवान का प्रकृत भक्त बन जाता है। अस्तु,

विकृत बद्ध जीव के स्वभाव के सार्वभौम स्वरूप का यदि हम अन्वेषण करें तो भगवद्भक्ति को समझना सरल होगा।

जिसके द्वारा हम शब्द-स्पर्श आदि विषयप्रपंच को जान पाते हैं, उसको इन्द्रिय कहते हैं। वाह्य और अन्तर के दृष्टिकोण से यह दो प्रकार का होता है—अन्तःकरण और वाह्यकरण। वाह्येन्द्रिय फिर दो प्रकार का होता है—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। प्रत्येक इन्द्रिय के भिन्न भिन्न अधिष्ठित देवता होते हैं। उन्हीं के प्रसाद से इन्द्रियगण सामर्थ लाभ करते हैं और अपने अपने विषय की ओर कार्य करने के लिये अग्रसर होते हैं। फिर विषयान्तर में ये देवतायें एक दूसरे के साथ मिल कर एक बन जाते हैं। इस प्रकार इनके एक बन जाने को एक स्वाभाविक शक्ति है। इसी शक्ति के कारण वे संसारदशा में निश्चिन्त होकर अपने स्वरूप में अवस्थित नहीं रह सकते। परानुरक्ति की यह शक्ति किसी को अर्जित नहीं होती, उसे विधाता ने विश्वसंसार की सृष्टि के साथ ही दे दिया है। केवल इन्द्रिय ही क्यों, परमाणु से लेकर परमतत्व तक सभी उसी वृत्ति के वशीभूत हैं ओर वे अवश होकर एक अन्य के साथ मिलना चाहता है। कहीं विराट पर्वत हवा से मिलने के लिये रेणु बन कर सूक्ष्म बालुकण में परिणत हो रहा है तो कहीं वालुकामय सूक्ष्म अणु परस्पर से मिलकर धीरे धीरे पर्वत बनना चाह रहा है। धरती वृक्ष और वृक्ष धरती बनकर परस्पर के मिलन आकांक्षा का परिचय दे रहा है। चराचर जगत का प्रत्येक पदार्थ

इसी प्रकार रूपान्तरित होकर विभिन्न बस्तुओं में परिणत हो रहा है। यह उनके एक दूसरे के प्रति अनुरक्ति का ही फल है।

सृष्टिकाल में जगतपिता जगदीश्वर ने सृष्ट पदार्थों में एक ऐसे बस्तु का अभाव रखा है जो सार्वभौम तथा सुस्पष्ट है। उसी अभाव को पूर्ति के लिये जलस्थल के सारे पदार्थ एक दूसरे को आलिंगन कर रहे हैं और आलिंगन करने के पश्चात् भी जब उनकी आशा पूर्ण नहो होती तो उससे अलग हो कर अन्य बस्तु की ओर धावित होतो हैं। प्राकृत समस्त बस्तु उसी अभाव के द्वारा सृष्ट हुआ है। अतएव जगत के अभावमय पदार्थ के द्वारा कभी किसी का अभाव मिट नहीं सकता। अपने क्षुद्र अभाव की पूर्ति के लिये जब हम किसो के पास जाते हैं तो उस पूर्ति से अधिक, सृष्टि के उस अभाव के कारण हमें अन्तःसारशुन्य होना पड़ता है। पूत्र या पत्नी के प्यार या स्नेह में जितना आनन्द हमें मिलता है उससे लाखों गुण अधिक क्लान्त, हमें उन्हें सुख से रखने के प्रयास में होना पड़ता है। अतः अभावमय प्रकृत पदार्थों के द्वारा किसी का स्वाभाविक अभाव कभी नहीं मिट सकता। उस अभाव के प्रतिकार को दवा भी उसीके पास है जिसने अभाव से जगत को बनाया है। इस अभाव को पूर्ण करने के निमित्त इन्द्रियों की स्वाभाविक वृत्ति को ही आसक्ति या भक्ति कहते हैं। यदि अभाव-विशिष्ट प्राकृत पदार्थों के प्रति भागें तो उसे आसक्ति कहते हैं और सर्वभाववर्जित अखंडानन्द स्वरूप भगवान के प्रति इनकी गति हो तो उसे भक्ति कहते हैं।

इन्द्रियाँ इस मायामय नश्वर जगत की ओर धावित होकर कभी भी शाश्वत सुख को प्राप्त नहीं कर सकतीं। सामयिक सन्तोष के लिये भले ही वह आपात-सुखकर किसी वस्तु पर आसक्त हो पड़े किन्तु तृप्ति का अभाव मिलते ही वह उससे विरत हो कर किसी अन्य पदार्थ से मिलने की आकांक्षा करने लगता है। जीव पूर्ण सुख को प्राप्त करने के लिये व्याकुल है जो सुख उसे पूर्णानन्दमय के आंशिक जगत के किसी भी पदार्थ में नहीं मिलता। और अतृप्तहृदय जीव उसी सुख के अन्वेषण में मृगतृष्णा की तरह भटकता फिरता है। परिवर्तनशील इस जगत के निदारुण दुःख को भोगलेने के पश्चात् जब साधुसंग, शास्त्रादि की कृपा से वह समझ पाता है कि अभावमय, मायामय इस जगत प्रपंच से इन्द्रियों की क्षुधा कभी मिट नहीं सकती, तो विषय से प्रति निवृत्त होकर अनन्त माधुर्य के उत्स परमपुरुष भगवान में अनुरक्त होकर स्थिर होता है। सच्चिदानन्दविग्रह भगवान में इन्द्रियों के लोभनीय पदार्थों का कोई अभाव नहीं है। संसार की समस्त चित्ताकर्षक भाव, उस सर्वकारण भगवान के अनन्त रूप रस आदि का आभास मात्र है। इसीलिये यदि दैवात इन्द्रियों की गति उस ओर हो जाये और यदि उस अनन्त सुख का आस्वादन एक बार कोई करले तो फिर उसके प्रत्यावर्तन होने की संभावना नहीं रहती। उस स्थिति में वह पतितपावन गंगा के जल प्रवाह की तरह, समस्त बाधाओं को अतिक्रम कर इन्द्रियों के सौ मुखों को भगवान के माधुर्य सागर में लीन कर देता है।

सच्चिदानन्द रसमय भगवान की ओर इन्द्रियों की ऐकान्तिक प्रवणता को ही भक्ति कहते हैं।

प्रत्येक जीव का जीवन स्रोत सर्वदा उसी सच्चिदानन्दसागर की ओर प्रवाहित हो रहा है। क्षण मात्र के लिये भी वह अपने को परितृप्त समझ कर शान्त तथा निश्चिन्त नहीं रहता। जब तक जीवन का प्रवाह, उस प्रेमसागर में न मिले, तब तक कोई निश्चिन्त नहीं होता। फिर भी लोग धन ऐश्वर्य या वाह्यिक क्रिपाकांड के अहंकार के कारण, स्रोत के आवर्त में पड़ कर कुछ घड़ियों के लिये अपने को तृप्त समझ बैठते हैं। किन्तु शिघ्र ही वे अपने भ्रम को समझ पाते हैं। उनका स्वभाव ही उनके अभाव को बतला कर दानवों की तरह तांडव नृत्य करता रहता है। तत् पश्चात् वह फिर वहाँ से भाग निकलता है। जीव आखिर कितना पाप करेगा? उसकी अतृप्ति या तो उसे भीषण पाप में लिप्त करायेगा अथवा उसका स्वभाव अपने भ्रम को समझ कर अनुताप की नरकाग्नि में उसे निक्षेप करेगा। वहाँ से वह दावदग्ध हिरण की तरह पूर्णानन्द-सागर को ओर भागेगा। धनीयों का बाहरी अभाव अल्प रहने के कारण, उच्च जीव होकर भी पशुओं की तरह वह अंधा होता है। अतः मल, मूत्र, हाँड़-मांस से भड़े पिंजड़े के भोग लालसा में वह अपने को भूला बैठता है। जीवन स्रोत के आवर्त को अतिक्रम करना उसके लिये संभव नहीं होता। किन्तु रोग, शोक, या अन्य किसी कारणवश यदि मोह का ऐनक टूट जाय

तो वह और अधिकतर वेग से उस नित्यानन्दसागर की ओर धावित होता है।

प्रेममय भगवान की व्यवस्था में कितनी करुणा छुपी है। पुत्र चाहे स्नेहमयी माता पर सैंकड़ों अत्याचार, उत्पीड़न करे पर माता सर्वदा पुत्र के मंगल की प्रार्थना करता है, उसी प्रकार मनुष्य उनके अहैतुकी प्रेम को भूल कर संसार की अनित्य वस्तुओं में मत्त रहने पर भी भगवान सर्वदा उसको मंगल-पथ पर चलने की बुद्धि देता है। कभी कभी बद्ध जीव उसके इस मंगलमय व्यवस्था के रहस्य को उद्घाटित न कर सकने के कारण, सर्वदा उसको कटु शब्दों के द्वारा संबोधन करता है। भगवान की जो शक्ति जीव को सर्वदा अनन्त उन्नति के सोपान पर ले चलती है तथा उसे पूर्ण मंगल और आनन्द के पथ पर आकर्षण करती है, वही कृष्ण है। जिस शक्ति के द्वारा हम उनकी ओर आकृष्ट होते है, वही भक्ति है।

सांसारिक जीव को जिस प्रकार संन्तान के प्रति स्वाभाविक प्रेम उत्पन्न होता है, उसी प्रकार जन्म-जन्मान्तर के संस्कार के कारण, साधु संग होते ही किसी किसी भाग्यवान के हृदय में स्वाभाविक भक्ति का उदय होता है। भक्त, उस निर्धन की तरह होता है जो सर्वदा अपने बहुमूल्य रत्नके खो जाने पर, उसी की चिन्ता में मग्न रहता है। वह अपना समय केवल भगवान के ही चिन्तन में व्यय करता है। सर्वगुण-

सम्पन्न उपयुक्त एकमात्र पूत्र को मृत्यु, जिसप्रकार बृद्धा माता के लिये निदारुण संताप का कारण बनता है, उसी प्रकार भक्तिके जाग्रत होते ही भगवान की विरहव्यथा में असहनीय पीड़ा से वह व्याकुल हो उठता है। साधारण भाषा में हम कह सकते हैं कि पूत्र की चिन्ता में माता, पति की चिन्ता में सती, धन को चिन्ता में कृपण, जिस प्रकार व्याकुल रहा करते हैं, उसी प्रकार सब चिन्ताओं को छोड़ कर एक मात्र भगवान चिन्ता में व्याकुल होना ही भक्ति है। यथा—

भक्तिरस्य भजनं तदिहामूत्रोपाधिनैरास्यानामुष्मिन्मनःकल्पनमेव
तदेव च नैष्काम्यमिति ।

—गोपालतापनी

लौकिक तथा पारलौकिक भोगवासना को छोड़कर भगवान में चित्त को समर्पित कर निरन्तर उनके अभाव में रहना ही भक्ति है। उसी भक्ति के भाव को ही नैष्काम्य भाव कहते हैं ; सुतरां भक्ति स्वरूपतः निर्गुण होती है। किन्तु जब वह प्रकृति के गुणत्रय को अवलम्वन बनाकर प्रकाशित होती है तो उसे सगुण कहते हैं। यथा—

भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भाविनि भाव्यते ।
स्वभावगुणमार्गेण पुंसा भावो विभिद्यते ॥

—श्रीमद्भागवत ३।२६।७

—पुरुष के गुणमय स्वभावानुसार प्रधानतः सत्त्वः रजः तमः गुण के अनुसार उसके तारतम्य से भक्ति में भेद होता है। फिर

प्रत्येक गुण को भी तीन भागों में बाँटा गया है। इस प्रकार शास्त्रों में नौ प्रकार के भक्ति का उल्लेख मिलता है।

अभिसंधाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा।
संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कूर्यात् स तामसः॥

—श्रीमद्भागवत ३।२९।८

—तामस स्वभाव व्यक्तिगण हिंसा दंभ या मात्सर्य के वशीभूत होकर दूसरे के अहित साधनार्थ भगवान को भक्ति किया करते हैं। इस प्रकार के सम्पूर्ण भिन्न दृष्टिकोणवाले व्यक्तियों की भक्तिको तामस भक्ति कहते हैं।

विषयानभिसंधाय यश ऐश्वर्यमेव वा।
अर्चादावर्चयेद् यो मां पृथग्भावः स राजसः॥

—श्रीमद्भागवत ३।२९।९

—रजोगुण प्रधान स्वभाव व्यक्तिगण यशः तथा ऐश्वर्य के अभिप्राय से प्रतिमोदित होकर भगवान की अर्चना करते हैं। ये भक्ति के अतिरिक्त विषय को आकांक्षा करते हैं। उनकी भक्ति राजसी कहलाती है।

कर्म्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम्।
यजेद् यष्टब्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः॥

—श्रीमद्भागवत ३।२९।१०

सत्त्वगुण प्रधान स्वभाव व्यक्तिगण अपना कर्म क्षय करने के लिये भगवान पर कर्म को समर्पण करते हैं अथवा अपने वर्णाश्रम-धर्मानुष्ठान के साथ श्रवण-कीर्त्तनादि भक्ति का अनुष्ठान करते हैं।

ये भक्ति के अतिरिक्त मोक्ष की कामना करते हैं, इन भक्तों की कर्मादि मिश्रित भक्ति को ही सात्विकी भक्ति कहते हैं।

अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये जो सकाम भक्ति होती है वह **सगुण** और अविद्यावृत्तिशुन्य चित्त के खोये महामणि की पुनःप्राप्ति की आकांक्षा के लिये परमात्मा के समागम की ऐकान्तिक कामना ही **निर्गुण** भक्ति कहलाती है।

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्वुधौ।
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्यु दाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पूरुषोत्तमे॥
सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्येकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते॥

—श्रीमद्भागवत ३।२९।११-१४

जिस प्रकार पतितपावनी गंगा का जलप्रवाह बाधा विघ्नों को अतिक्रम करता हुआ सर्वदा सैंकड़ों धाराओं में दौड़ती हुई महासमुद्र में जा कर मिलती है उसी प्रकार जो चित्तवृत्ति ज्ञान कर्म आदि के व्यवधानों को अतिक्रम करता हुआ फलाकांक्षा का त्याग कर स्वतः सर्वभूतान्तर्यामि भगवान की ओर प्रतिक्षण जाता रहता है, उसी को निर्गुण भक्ति कहते हैं। इस भक्ति में

किसी प्रकार की कामना नहीं रहती। यह अत्यन्त निर्मल तथा भक्तियों में श्रेष्ठ माना जाता है। जन्म-जन्मान्तर का भक्ति संस्कार रहने पर भी कदाचित किसी भाग्यवान के हृदय में भगवद्गुण के सुनते ही भाव का उदय हो पड़ता है। इस प्रकार के शुद्ध भक्तों की अपनी कोई कामना नहीं रहती। यहाँ तक कि वे सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य तथा एकत्व (सायुज्य) की मुक्ति मिलने पर भी, वे भगवान की सेवा के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहते। इस प्रकार की भक्ति को ही आत्यन्तिक भक्ति कहते हैं जिससे वढ़कर परम पुरुषार्थ और कुछ हो नहीं सकता। त्रैगुण्य के त्याग का, ब्रह्मप्राप्ति ही परम प्राप्ति है—यह सत्य है, किन्तु वह प्राप्ति भी भगवद्भक्ति का आनुसांगिक फल है। भक्ति योग में त्रिगुण को अतिक्रम कर हम ब्रह्मत्व को प्राप्त कर सकते हैं। मन वाह्य इन्द्रियों का राजा है। मन जिस ओर धावित होता है, तदानुतार इन्द्रियाँ भी अपने अपने विषय को ग्रहण करने के निमित्त उसी ओर अग्रसर होती हैं। अतएव यदि अन्तःकरण, सब कुछ छोड़ कर भगवान की ओर धावित हो, तो उसकी इन्द्रियाँ भो निष्क्रिय बन जायेगीं—ऐसी वात नहीं। इन्द्रियाँ मन के वश में रहकर भगवान की ओर अग्रसर होकर अपनी अपनी भावोपयोगी सेवा ग्रहण करती हैं। इस प्रकार सब उपाधियों को छोड़ कर प्रत्येक इन्द्रियों के द्वारा यदि हम निरन्तर भगवान की सेवा करें तो उसे निर्गुण भक्ति कहेंगे।

अब तक जिन तीन भक्तियों का वर्णन हुआ है उन्हें प्रधानतः दो श्रेणीयों में बाँट जा सकता है—पहला गुणमयी अथवा गौण अथवा अपरा तथा दूसरा निर्गुण अथवा मुख्य अथवा परा। गुणमयी सात्त्विकी भक्ति सत्त्वगुण से विच्युत होकर भक्त को निर्विशेष ब्रह्मसुख का अनुभव करवाती है तो निर्गुण भक्ति परिपक्क अवस्था में प्रेमभक्ति बन कर भक्त को सच्चिदानन्दमय भगवद्रूपी गुणलीला के माधुर्यरस का आस्वादन करवाती है। अतएव यह मानना पड़ेगा कि भक्त ब्रह्मसुखानुभव से पहले माया के अधिकार में रहता है।

गुणमयी भक्तियों में पूर्व अवस्था से उत्तर अवस्था श्रेष्ठ है। इनमें सात्त्विकी भक्ति श्रेष्ठ होने पर भी शुद्ध भक्तगण इसके प्रति आदर नहीं दर्शाते क्योंकि इसमें भगवान तथा भगवद्भक्ति के अतिरिक्त अन्य फलों की आकांक्षा रहती है। कुछ साधकों में सात्त्विकीभाव के द्वारा भी ज्ञानोदय हुआ है। 'सत्वात् संजायते ज्ञानम्'—सत्व से ज्ञान का उदय होता है। अतएव इस भगवतवाक्य के द्वारा यही प्रमाणित होता है कि सात्विकी भक्ति के द्वारा ज्ञानोदय असंभव नहीं। ज्ञान के होते ही स्वत: कर्म-बैराग्य का उदय होता है। फिर भक्त कर्म का परित्याग कर ज्ञानमिश्रा भक्ति को लाभ करता है। परिपक्व स्थिति में सर्वदा ज्ञान के विषय का अनादर होते रहने के कारण वह स्वतः अन्तर्हित हो जाता है। भक्त निर्गुण शान्ति को लाभ कर शुद्ध भक्तों में परिगणित होता है। ज्ञान का प्राधान्य रहने के

कारण ऐसे भक्त सायुज्यमुक्ति लाभ करते हैं। सात्विकी भक्ति के अधिकारी भक्तगण जो अश्वमेध आदि कर्मो का समर्पण कर, भगवान में अपनी भक्ति दर्शाते हैं, उन्हें सुखऐश्वर्यमय सालोक्य मुक्ति मिलती है और जो कर्म फलों को अर्पण न कर, केवल अनुष्ठित कर्म समुदाय का समर्पण करते है, उन्हें शान्तरति लाभ होती है। राजसी और तामसी भक्ति में काम्यफल प्राप्त होने के कारण, वहाँ भक्ति रहती नहीं केवल आकांक्षित फल ही उसकी चरम प्राप्ति होती है। काम्यफल लाभ होने पर कदाचित किसी भक्त में भक्ति विद्यमान रह जाती है। भगवान की कृपा से अन्त में वे निर्गुण शान्ति को लाभ करते हैं।

निर्गुण भक्ति प्रधानतः दो अंशों में विभक्त है—एक प्रधानीभूता अथवा ऐश्वर्यज्ञानमिश्रा और दूसरा, केवला अथवा रागात्मिका। कर्मादिमिश्रा सात्विकी भक्ति ही परिपक्व दशा में सत्वगुण को छोड़कर प्रधानोभूता निर्गुण भक्ति बन जाती है। किन्तु केवला भक्ति प्रारंभ से ही निर्गुण होती है। अपक्व दशा में वह रागानुगा तथा परिपक्व दशा में रागात्मिका होती है। प्रधानीभूता भक्ति, शान्त दास्य आदि रस के भेदानुसार पाँच श्रेणियों में विभक्त किया गया है किन्तु केवला भक्ति मात्र चार श्रेणियों में वाँटा गया है। महिम-ज्ञान में प्रेम संकुचित होने के कारण प्रथमा भक्ति की अपेक्षा द्वीतिय भक्ति श्रेष्ठ तथा अधिक विशुद्ध होती है। फिर प्रेम की सेवा में पूर्णतम आनन्द का स्वाद द्वीतिय भक्ति—दास्यादि चतुर्बिध में शृंगाररसात्मक भक्ति को सर्वश्रेष्ठ माना गया

है। यही भक्ति व्रज्रवासी श्रीराधा और गोपीयों में नित्य विराज करता है।

सब भक्ति एक ही तरह पुष्ट नहीं हुआ करती। प्रत्येक भिन्न प्रकार से पुष्ट होती है; भक्ति की पुष्टि का तारतम्य उसकी गुरुत्व तथा लघुत्व के उपर निर्भर करता है। किन्तु सब निर्गुण भक्ति परिपुष्ट होकर रति तथा प्रेम के स्वरूप में शेष होने की योग्यता रखती है। साधन-भक्ति में रति के उदय होते ही वह रति लक्षण बन जाती है और पक्व अवस्था होने पर वह प्रेम के रुप में आत्मप्रकाश करने पर प्रेम लक्षणा बन जाती है। उसी प्रेमलक्षणा भक्ति को ही प्रेम-भक्ति कहते हैं।

अतएव गुणमयी भक्ति को निर्गुण भक्ति की परिपक्व दशा होने तक अधम, मध्यम और उत्तम भेदानुसार, भक्ति को साधन-भक्ति, भावभक्ति और प्रेमभक्ति—तीन श्रेणियों में बाँटा जाता है।

———

साधनभक्ति

हम पहले कह चुके हैं कि प्रेमभक्ति जीव मात्र का स्वाभाविक धर्म है। मायाशक्ति ने जीव के नित्य शुद्ध आत्मस्वरूप तथा उसके विशुद्ध धर्म को आवृत कर रखा है। इसी कारण वह भूतग्रस्थ मानव की तरह विभ्रान्त हो गया है। साधु या शास्त्रों

की कृपा से जब उसमें विस्मृत नित्य संपद की स्मृति जागृत हो उठती है तो वह भगवान की ओर भागता है और इन्द्रियों की प्रेरणा से उसके हृदय में प्रेमभक्ति जाग उठती है। इसीको साधनभक्ति कहते हैं। यथा—

कृतिसाध्य भवेत् साध्यभावा सा साधनाभिधा।
नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु

इन्द्रियों की प्रेरणा अर्थात् कीर्तन दर्शनादि के द्वारा साधित सामान्य भक्ति को ही साधनभक्ति कहते हैं। इसके द्वारा भाव और प्रेम साध्य बनता है। 'भाव और प्रेम साध्य है'—इससे आप कहीं इस भ्रम में न पड़ जायें कि वे कृत्रिम हैं। वास्तव में भाव और प्रेम तो नित्य साध्य वस्तु हैं। इसके लिये साधना का प्रयोजन नहीं होता। अतः जीव के हृदय में अवस्थित प्रेमभक्ति को जगाना ही, साधना है।

बैध तथा रागानुगा के दृष्टिकोण से साधनभक्ति दो प्रकार के हैं। यथा—

यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरुपजायते।
शासनेनैव शास्त्रस्य सा बैधी भक्तिरुच्यते॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु

राग को प्राप्त न कर सकने के कारण अनुराग उत्पन्न न हुई।

केवल मात्र शासन के भय से हो जिसमें प्रवृत्ति का जन्म हुआ हो उसे बैधी भक्ति कहते हैं। *

रागहीन व्यक्तियों में भगवान को पाने की उग्र लालसा नहीं रहती। वे केवल नरक के भय से भगवान की पूजा करते हैं। अतः प्रारम्भ में वह कदापि वर्णाश्रम को परित्याग नहीं कर सकता। अपने आश्रम के धर्मानुष्ठान को तरह भगवत-भजन को वे केवल अपना कर्तव्य समझते हैं। यदि न करे तो शास्त्रविधि का उलंधन दोष घटेगा—इस विचार से वे विधिवत स्वाश्रम धर्म का, श्रवणादि भक्ति का अनुष्ठान किया करते हैं। बैधीभक्ति, सात्विकी भक्ति का ही दूसरा नाम मात्र है। इस भक्ति में भगवान के ऐश्वर्य का ज्ञान विद्यमान रहता है। सुतरां विधिमार्ग के भक्त कभी भी व्रजवासी भक्तों की तरह भगवान के साथ विशुद्ध प्रेमाचार नहीं कर सकते।

बैधीभक्ति आठ प्रकार की होती हैं। बर्णाश्रम धर्मपरायण भाग्यवान व्यक्ति प्रथमतः श्रद्धालु हृदय से दीक्षागुरु के निकट नाम मंत्रादि ग्रहण करता है। वहाँ से उसे कर्ममिश्रा भक्तिसाधन का उपदेश मिलता है। इस सात्त्विकी भक्ति के अनुष्ठान से उसकी श्रद्धा उत्तरोत्तर बढ़ कर निष्ठा, रुचि आदि में परिणत होती है। यदि निष्काम कर्मयोग के साथ, श्रवण कोर्तनादि भक्ति-अंगों का

---

* रागहीन जन भजत, केवल शास्त्र अनुशासन मान।
वही है वैधीभक्ति, जिसका करते शास्त्र बखान॥

—चैतन्यचरितामृत

यथोचित अनुष्ठान किया करें तो वे अवश्य ही ज्ञान का अधिकारी बन कर निर्विकार चित्त की स्थिति को लाभ कर सकते हैं। ज्ञान तो सात्विकी भक्ति का ही फल है। ज्ञानोदय होने पर कर्म स्वयं अन्तर्हित हो जाता है। उस अवस्था में भक्त ज्ञानमिश्रा भक्ति का अधिकारी बन कर ब्रह्मभूत तथा प्रसन्नात्मा बनता है। सिद्ध दशा में इस विधिमार्ग के भक्त निर्गुण शान्तरति को लाभ कर शान्त तथा आत्माराम भक्तों में परिगणित होते हैं। यह प्रसिद्ध है कि शान्त आत्माराम भक्त की निर्गुण भक्ति प्रधानीभूता होती है। वे निर्वाण की आकांक्षा नहीं करते। अतः वे चतुर्विध मुक्ति को लाभ कर बैकुंठ कैलाश आदि लोकों में पहुँच जाते हैं।

ऐसे शान्त आत्माराम भक्त का भक्ति कर्मज्ञानादिशुन्य निर्गुण तो है, किन्तु केवला नहीं। साधन काल में इस प्रकार के भक्तों में महिम ज्ञान प्रबल रहने के कारण सिद्धदशा मे भी वह शेष नहीं होती। अतएव उनकी भक्ति केवला नहीं कहला सकती। अब हम देखेंगे कि रागानुगा भक्ति कैसी होती है।

इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेत् भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु

कामना वाली वस्तुओं के प्रति स्वाभाविक परम आविष्टता तथा प्रेममय तृष्णा ही राग है। रागमयी उस भक्ति को ही रागात्मिका भक्ति कहते हैं। रागात्मिका भक्ति के अनुगत भक्ति को रागानुगा भक्ति कहते हैं। यथा—

रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते ।

—भक्तिरसामृतसिन्धु

बांछित प्रियजनों के प्रति जो प्रेममयी तृष्णा जागती है, वही राग का स्वरूपलक्षण है। राग के अनुरोध से उस अभिष्ट प्रियजन का सर्वदा अनुध्यान करना ही उसका तटस्थ लक्षण है। राग-स्वरूपा भक्ति को ही रागात्मिका भक्ति कहते हैं। ब्रजवासी भक्तगणों में रागात्मिका भक्ति स्पष्ट रूप में वर्तमान है। उस भक्ति के अनुसरण करने से ही उसका नाम रागानुगा भक्ति रखा गया है। अतएव ब्रजवासी भक्तों की प्रेमाचरण के अनुकरण में आराधना की जाये तो उसको रागानुगा भक्ति कहते हैं।

रागानुगा तो रागात्मिका भक्ति का अनुकरण मात्र है। यदि पहला साधन है, तो दूसरा साध्य। रागानुगा भक्ति परिपक्क दशा में रागात्मिका बन जाती है। अतः रागानुगा भक्ति को हम रागात्मिका भक्ति के कल्पलतिका (विकंपित लतिका का पहला निकलता हुआ सुकोमल भाग) का प्रथमोद्भिन्न सुकोमल स्कन्ध कह सकते हैं। प्रथम भक्ति का विषय यदि भक्तस्वरूप ब्रजवासी गुरू हैं तो आश्रय उसका आज्ञाकारी शिष्य है। द्वीतिय भक्ति का विषय ब्रजविहारी श्रीकृष्ण हैं तो आश्रय ब्रजवासी भक्त। प्रथम भक्ति का विषयाश्रय प्रपंच जगत है—प्रकृत देहधारी होकर भी अप्राकृत रूप से बह अन्तर्देह का भूषण है। द्वीतिय भक्ति का विषयाश्रय प्रंपच जगत से परे का है—वह आनन्द चिन्मय प्रेम रस में प्रतिष्ठित है। रागानुगा भक्ति जब परिपुष्ट होकर रागात्मिका

भक्ति में पर्यवसित होती है तो रागानुगा भक्ति विषयाश्रय तथा सिद्धि को लाभ करने के पश्चात् रागात्मिका भक्ति के विषयाश्रय के रूप में आत्म प्रकाश करती है।

रागानुगा भक्ति प्रधानतः दो भागों में विभक्त है—सम्वन्धानुगा और कामानुगा। जो श्रीनन्द-यशोदा गुरुवर्ग श्रीदाम सुवल आदि समवर्गों की तरह श्रीकृष्ण के बाह्यलीला के सुस्वादु रस का अभिलाषी है, उसके अपने सम्वन्धानुरूप भक्ति को सम्वन्धानुगा कहते है। कुछ ऐसे हैं जो महिषीयों की तरह श्रीकृष्ण के साथ शृंगार-रसास्वादन के अभिप्राय से इस प्रकार के भाव का अनुकरण करते हैं—उनके इस कामात्मक भक्ति को हो कामानुगा कहते हैं। कामानुगा भक्ति को फिर दो हिस्सों मैं बाँटा गया है—एक तो संभोगेच्छामयी और दूसरी तद्भावेच्छामयी। जो महिषीयों के भावानुगत होते हैं, उनकी भक्ति संभोगेच्छामयी भक्ति कहलाती है। इस प्रकार की भक्ति में महिषीयों की तरह कुछ अंशों में स्वसुख की इच्छा, महिमज्ञान तथा लोकधर्म आदि भक्तिरोधक भाव विद्यमान रहते हैं। कुछ ऐसे हैं जो लोकवेद इत्यादि सब धर्मो का परित्याग कर लौकिक तथा पारलौकिक सब सुख-साधनों को छोड़कर, गोपीयों के निष्काम तथा परम प्रेममय स्वभाव का अनुसरण करते हैं; उनकी भक्ति तद्भावेच्छामयी कहलाती है।

वैधीभक्ति की तरह रागानुगाभक्ति भी आठ भागों में बाँटा गया है। साधु या शास्त्रों के माध्यम से भगवान के सौन्दर्य

माधुर्य तथा भगवद्भक्त के श्रेष्ठ भाव-माधुर्य को श्रवण कर यदि किसी सौभाग्यशाली व्यक्ति के अन्तःकरण में उसको प्राप्त करने के निमित्त लोभ का संचार हो तो उस समय उसकी बुद्धि शास्त्र की युक्तियों के लिये अपेक्षा नहीं करती। वह लोभनीय ब्रजभाव की ही अभिलाषा करती है। जब मनुष्य में रागात्मिक एकनिष्ठ ब्रजवासी भक्तों की भाव को प्राप्त करने के लिये लोभ होने लगे तो समझना चाहिये कि वह रागानुगाभक्ति के साधन का अधिकारी बन चुका है। ब्रजभावलुब्ध इस प्रकार के भक्त अपनी अभीष्ट की सिद्धि के लिये यथासाध्य उपायों का अन्वेषण करता है—वह साधुओं के यहाँ जाकर, शास्त्रों में डूब कर, उस तत्व को ढूंढने लगता है। फिर शास्त्रों की कृपा से वह अतिशिघ्र समझ पाता है कि दीक्षागुरु के द्वारा उपदिष्ट गुणमयी भक्ति के द्वारा वह ब्रजभाव को प्राप्त नहीं कर सकता। किन्तु यदि ब्रजवासी भक्त का अनुग्रह रहे अथवा शुद्ध प्रणय-रज्जु हृदय को आकर्षित करे तो ब्रज का भाव तथा ब्रज के भगवान दोनों सुलभ हो जाते हैं। सुतरां, उस स्थिति में भक्त केवल लोभपरतन्त्र बन कर ब्रजवासी भक्त की कृपा के लिये सर्वदा उदग्रीव रहता है। फिर भक्त उचित या अनुचित धर्मो तथा श्रुत एवं श्रोतव्य समस्त बिषयों का परित्याग कर, उसके ही श्रीचरणकमल में आत्मसमर्पण करता है। इस प्रकार सब धर्मों को त्याग कर भगवत् स्वरूप श्रीगुरुके चरणों में आत्मसमर्पण करना ही भक्ति की पहली सीढ़ी है।

बैधी भक्ति में श्रवण-कीर्तन आदि जिन साधनाओं का वर्णन

है, वहाँ रागानुगा भक्ति में भी उनकी उपयोगिता दीखलाई गई है। भक्त, भजन के द्वारा ही क्रमशः निष्ठा, रुचि आदि को लाभ कर भनाव का अधिकारी बनता है। जब तक भाव का आविर्भाव वहहीं होता, तब तक वैधी भक्ति का अधिकार चलता है। यथा—

वैधभक्त्यधिकारी तु भावाविर्भवनावधिः।

—भक्तिरसामृतसिन्धु

वैधीभक्ति तथा रागानुगाभक्ति में यही अन्तर है कि भययुक्त शास्त्रविधि के अनुसार जो भजन होता है वह वैधी भक्ति कहलाती है। किन्तु लोभयुक्त विधिमार्ग का भजन रागानुगा भक्ति कहलाती है। वैधी भक्ति यदि नवोदित चन्द्रकिरण का सुकोमल मृदु रश्मि है तो रागानुगा भक्ति त्रिजगतमनोहर वाल सूर्य की उज्ज्वल प्रभा है। प्रथमा भक्ति भक्त को शनैः शनैः निर्गुणावस्था में ले जाती है और उत्तरा-भक्ति भक्त को अतिशिघ्र वहाँ पहुँचा देती है। जिस प्रकार चिन्तामणि के स्पर्श स लोहा सोना बन जाता है, उसी प्रकार बिशुद्ध भक्ति का प्रभाव गुणमय भक्त के हृदय को शिघ्र मायातीत बना कर भावभक्ति का अधिकारी बनाता है।

भावभक्ति

श्रद्धा के साथ साधनभक्ति के उत्कर्ष जब साधना के द्वारा क्रमशः निष्ठा, रुचि आदि परिपक्कदशा की प्राप्त होते हैं—उसे भाव-भक्ति कहते हैं। ब्रजभाव का लोभातुर. जब रागानुगा भक्ति

की साधना करते करते परिपक्व हो जाता है तब वह भावभक्ति का अधिकारी बनता है। भक्तियोग के श्रेष्ठ महात्मा ने कहा है—

शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते ॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु

विशेष शुद्ध सत्व स्वरूप, प्रेमरूप सूर्यकिरणों के सादृश्य तथा रुचि अर्थात् भगवत प्राप्ति की इच्छा और उसके आनुकुल्य तथा सौहार्द्य की अभिलाषाओं के द्वारा चित्त को स्निग्ध करनेवाली जो भक्ति जागती है, उसी को भाव कहते हैं।

सूर्य उठते समय जिस प्रकार धीरे धीरे किरणों प्रकाशित होती हैं, उसी प्रकार प्रेम के प्रथमावस्था को भाव कहते हैं, क्योंकि यही भाव क्रमशः प्रेमदशा को प्राप्त होता है। यथा—

प्रेम्नस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते।
सात्त्विकाः स्वल्पमात्राः स्युरत्राश्रुपुलकादयः॥

—भक्तिरसामृतसिन्धुधृततन्त्रवचनम्

प्रेम के प्रथम अवस्था को ही भाव कहते हैं। फिर अश्रुयुक्त आदि सात्विक भाव समूहों का अल्पमात्रा में उदय होता है। जिन भाग्यवानो को महात्माओं का संग प्राप्त है, उनमें यह भाव दो प्रकार से उदय होता है। एक—साधना में अभिनिवेश और दूसरा—भगवान तथा भगवत भक्तों का अनुग्रह। इनमें साधनाभिनिवेश का भाव प्रायः सब को होता है किन्तु दूसरा भाव कदाचित अथवा प्रायः होता ही नहीं।

बैधी तथा रागानुगा मार्ग के अनुसार अभिनिवेशज साधना के भी दो प्रकार हैं। बैधी साधना का अभिनिवेशज भाव साधक की रुचि को जगाता है और भगवान में आसक्ति पैदा कर रति का आविर्भाव होता है। यहाँ पर रति को भाव समझना पड़ेगा। वह प्रेम-बोधक नहीं होती। भक्तिशास्त्र में रति और भाव को एक ही अर्थ में व्यवहार किया गया है। रागानुगा साधनाभिनिवेशज भाव प्रारम्भ से ही रति लक्षणा होती है। अतः वह क्रमशः परिपुष्ट होकर प्रेमभक्ति में पर्यवसित होती है।

साधना के बिना जो भाव सहसा उत्पन्न हो, उसी को भगवान या भगवद्भक्तों का प्रसाद-जनित भाव कहा गया है। जिनमें भाव अंकुरित मात्र हुआ हो, उनमें शान्ति, अव्यर्थकारिता, विराग, मानशुन्यता, आशावद्धता, समुत्कंठता, नामगान में सर्वदा रुचि, भगवद्गुणगान में आसक्ति तथा उनके साथ रहने में प्रीति आदि समस्त अनुभाव प्रकाशित होते हैं। भाव का लक्षण अन्तःकरण की स्निग्धता होती है।

भक्तों के भेदानुसार भाव के पाँच प्रकार हैं–यथा शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा कान्ता। भगवान भाव का विषय और भक्त उसका आधार स्वरूप होता है जो भगवान के साथ नन्द-यशोदा गुरुवर्गों की तरह, श्रीदाम-सुदामा जैसा समवर्गों की तरह अथवा गोपी महिषीयों की तरह, भाव का अनुकरण करते हैं, वे वास्तव में भावभक्ति के अधिकारी हैं। पहले साधु अथवा

शास्त्रों के माध्यम से ब्रजभाव के असामान्य माधुर्य को सुन कर इन पाँच भावों में किसी एक भाव को प्राप्त करने का लोभ संचारित होता है।

रागात्मिकैकनिष्ठा जे ब्रजवासिजनादयः।
तेषां भावाप्तये लुब्धो भवेदत्राधिकारवान्॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु

रागात्मिक एकनिष्ठ ब्रजवासी भक्तों की भाव प्राप्ति के लिये यदि लोभ उत्पन्न हो तो समझना चाहिये कि वह मनुष्य भाव-भक्ति का अधिकारी है। भक्त, भाव का अवलम्वन कर पहले साधन-भक्ति के द्वारा वैधीमार्ग के अनुसार श्रवण कीर्तनादि करता है। क्रमशः भाव की पूष्टि होती है और वह समझने लगता है कि भगवान वस्तुतः, मेरा प्रभु, मेरा पिता, मेरा सखा, मेरा पूत्र अथवा मेरा स्वामी है। फिर अपने भावानुसार निश्चित रूप से भगवान को भाव का विषय बना लेने के पश्चात बुद्धि को शास्त्र-युक्ति पर निर्भर करने का प्रयोजन नहीं होता। अब वह समझने लगता है कि भगवान तो उसका प्राण है—उसके प्राणों का भी प्राण है। यदि यह सत्य है तो फिर उसको प्राप्त करने के लिये कठोर नियम-संयम व्रत-उपवास, या स्तव-स्तुति का क्या प्रयोजन है? मेरे कृच्छ्र-साधन से उसे सुख कैसे मिल सकता है? वह यह भी समझने लगता है भगवान या भक्त की कृपा बिना भगवत चरण की प्राप्ति नहीं हो सकती। भक्त, उचित-अनुचित तथा सब धर्मों का, श्रुत-श्रोतव्य सव विषयों का परित्याग कर, उसी के

श्रीचरणों में आत्मसमर्पण करता है। प्रेमभक्ति के श्रेष्ठ महात्मा कविराज गोस्वामी कहते हैं—

गोपी भावामृत की लालस जिसको होय।
त्याग वेदधर्म, कृष्ण भजन करे सोय॥

—चैतन्यचरितामृत

भगवान श्रीकृष्ण ने भी गोपीयों की भक्तियोग के द्वारा अपनी बश्यता की उत्कृष्टतम लीला तथा उनके साधुपन की पराकाष्ठा का प्रदर्शन करने के पश्चात अपने अनुष्ठित केवल भावभक्ति को प्रवर्तित करने के निमित्त उद्धव से कहा—

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।
प्रवृत्तिंच निवृत्तिंच श्रोतव्यं श्रुतमेव च॥
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनां।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्था ह्यकुतोभयः॥

—श्रीमद्भागवत ११।१२।१४-१५

हे उद्धव! तुम विहित तथा निषिद्ध कर्म, गृहस्थ तथा संन्यासी का धर्म, श्रोतव्य तथा श्रुत धर्म का परित्याग कर दास्य आदि किसी भाव से मुझे आत्म समर्पण करो। ऐसा करने पर तुम्हें कर्माधिकार या ज्ञानाधिकार का भय नहीं रहेगा। तुम मुझसे निर्भय रहोगे।

प्रेमिक शिरोमणि रागात्मिक भाव में विश्वासी गुरु भी इस तरह की भक्ति और भाव की ऐकान्तिकता को देखकर, भजन क्रिया प्रदान किया करते हैं। इस तरह की निगुढ़ भजन क्रिया, केर्मज्ञानादिशुन्य, विशुद्ध तथा ब्रजबासी भक्तों के निष्काम तथा

प्रेममय स्वभाव को प्राप्त करने के लिये अत्यन्त उपयोगी है। इसक भी दो प्रकार हैं—एक है, प्रतिकूल अवस्था का परिहार और दूसरा, आनुकुल्य का ग्रहण। अविद्या तथा उसके कारण इन्द्रियादि की प्रतिकूलता से आत्मरक्षा करने के पश्चात क्रमशः उन्हें अपने वश में लाना प्रथमांग के अन्तर्गत है। फिर अनुकूल इन्द्रियों की सहायता से नित्यसिद्ध ह्लादिनी शक्ति को प्रकट कर मनोमय सिद्ध देह की पुष्टि-विधान करना—उत्तरांग के अन्तर्गत है। इस भजन क्रिया के द्वारा भक्त अतिशिघ्र अनर्थ के हाथ से रक्षा पाकर क्रमशः प्रेमभक्ति का अधिकारी बन जाता है।

भावाश्रित भक्तगण, ज्ञान कर्म आदि भक्तिरोधक विषयसमूहों का परित्याग करते हैं किन्तु फिर भी ज्ञान-कर्म का समुदय फल उनके पास स्वयं उपस्थित होता है। भक्तिदेवी की दासी, सर्वसिद्धियाँ, उनकी पैर सेवतो है किन्तु शुद्ध भक्तगण इनके प्रति आदर नहीं दिखाते। यहाँ तक कि पंचविध मुक्ति भी उन्हें प्रलोभित करने पर भी, उनका रागात्मिक एकनिष्ठ चित्त इन सबके प्रति आसक्त नहीं होता। रागमार्ग के भावाश्रित भक्तगण सर्वदा भगवान के माधुर्य सागर में निमग्न रहते हैं। उस माधुर्य-स्वाद का गंध सब प्रकार के मुक्ति-सुख से कोटिगुण श्रेष्ठ है। अतएव कृष्ण भाव के लिये भी उनका हृदय विषय पर अभिनिविष्ट नहीं होता। वह सर्वदा भगवान के अनिर्वचनीय प्रेमरससागर में परम आनन्द के साथ तैरता रहता है। भगवान ने कहा है—

ज्ञात्वाज्ञात्वाथ जे वै मां यावान् यश्चास्मि चादृशः ।
भजंत्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः ।।

—श्रीमद्भागवत ११।११।३३

जो ऐकान्तिक भाव से भगवान को आराधना करता है और परम प्रेम की शक्ति से प्रतिक्षण उसी के असमोर्द्ध्व माधुर्य का आस्वादन करता है, उनकी गणना भावमक्ति के सिद्ध भक्तों में होती है।

भावभक्ति के साधन क्रम से भक्तचित्त में रति का उदय होता है और उस भावमय देह में स्वतः ही स्फूर्ति जागती है। जब रति और प्रगाढ़ बन जाती है तो वह प्रेमभक्ति में पर्यवसित होती हैं। फिर भक्त अपने भावमय नित्यदेह में नित्य भागवत संग को प्राप्त करता है।

प्रेमभक्ति

प्रेमभक्ति, आकाश में सूर्य की तरह स्वप्रकाश है। जन्म-जन्मान्तर के संस्कार से कदाचित किसी भाग्यशाली का हृदय भगवत गुणों के श्रवण मात्र से ही प्रकाशित हो उठता है। प्रेमभक्ति का उदय, ज्ञान-योग, निष्काम कर्म आदि साधनाओं के द्वारा नहीं होता। वह अहेतुकी होती है। उसका कोई हेतु नहीं होता। यथा—

स वै पुंसां परो धर्म्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति ॥

—श्रीमद्भागवत १।२।६

किन्तु जिस साधनभक्ति को प्रेमभक्ति का कारण बतलाया गया है, वह कोमल मनवाले कनिष्ठ भक्तों में भक्ति के तारतम्य मात्र को समझाने के लिये कहा गया है। जिस प्रकार कच्चा आम समय आने पर पक जाता है, सुकुमार शिशु क्रमशः युवक बन जाता है, उसी प्रकार कच्चा साधनभक्ति परिपक्व दशा में प्रेमभक्ति बन जाती है। जिस प्रकार गन्ना स्वाद के भेदानुसार गुड़, चिनि, मिसरी, विभिन्न नाम से परिचित होने लगता है, उसी प्रकार निर्गुण भक्ति को ही श्रद्धा, रूचि, आसक्ति आदि भिन्न भिन्न नाम दिये गये हैं। फलतः सब अवस्थाओं में इसका प्रत्येक अंश, आनन्द-चिन्मय और भगवान की तरह प्रकाशवान होता है। भक्तगणों के हृदय में अवस्थित भक्ति देवी की कृपा से ही उसका उदय होता है। यदि ऐसा न हो, तो फिर विशुद्ध प्रेमभक्ति को लाभ करने का अन्य कोई उपाय नहीं।

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयांकितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते ॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु

जिस भाव से चित्त सब प्रकार से निर्मल बने और वह अतिशय ममता सम्पन्न हो जाय, वही भाव जब प्रगाढ़ होता है तो प्रेम कहलाता है।

साधनभक्ति को याजन करते करते रति उत्पन्न होती है। वही रति जब प्रगाढ़ बनती है तो प्रेम बन जाती है।

साधनभक्ति से होता रति का उदय।
प्रगाढ़ रति बनता प्रेम, भरता हृदय ॥

—चैतन्यचरितामृत

इसी प्रेम को प्रह्लाद, उद्धव, भीष्म, नारद आदि ने भक्ति कहा है। दूसरों के प्रति ममता, जब भगवान के प्रति ममता में परिणत होता है तो उसे प्रेम कहते हैं।

अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसंगता।

—नारदपंचरात्र

यही प्रेम दो भागों में विभक्त है—भावोत्थ तथा अतिप्रसादोत्थ। जव अंतरंग भक्तों की निरन्तर सेवा से भाव परम उत्कर्षता को प्राप्त करता है तो वह भावोत्थ प्रेम कहलाता है और जव भगवान हरि स्वयं संगदान करते हैं तो वह अतिप्रसादोत्थ कहलाता है। अतिप्रसादोत्थ प्रेम फिर महात्म्य ज्ञान युक्त तथा केवल अर्थात् माधुर्य मात्र ज्ञानयुक्त दो भागों में वाँटा जाता है। बिधिमार्गानुवर्ती भक्तों का अतिप्रसादोत्थ प्रेम महिमज्ञानयुक्त और रागानुगाश्रित भक्तों का प्रेम केवल अर्थात् माधुर्यज्ञानयुक्त कहा गया है।

भक्ति की साधना करते समय क्रमशः पहले श्रद्धा, साधुसंग, भजन क्रिया, अनर्थनिवृत्ति, निष्ठा, रुचि, आसक्ति और अन्त में प्रेम के भाव का उदय होता है। प्रेम के संचार होते ही स्तम्भ,

स्वेद, रोमांच, स्वरभेद, कम्प, वैवर्ण, अश्रु तथा प्रलय—आठ प्रकार के सात्विक भावों का विकाश होता है।

रागानुगा भक्ति, केवला प्रेमभक्ति की दास्य आदि चतुर्विध भावों में शृंगाररसात्मक भाव सर्वश्रेष्ठ माना गया है। मधुर-रसात्मक साधनभक्ति से मधुरा-रति का उदय होता है। इस रति से ही भगवान के साथ भक्त के विलास का सूत्रपात होता है क्यों कि मधुरा रति ही श्रीकृष्ण तथा तत् प्रेयसियों का आदि कारण है।

किंचिद्विशेषमायांत्या संभोगेच्छा यथाभितः।
रत्या तादात्म्यमापन्ना सा समर्थेति भण्यते॥
स्याद्दृढ़ेयं रतिः प्रेम्ना प्रोद्यन् स्नेहः क्रमादयम्।
स्यान्मानं प्रणयो रागोऽनुरागो भाव इत्यपि॥
वीजमिक्षुः स च रसः स गुड़ः खंड एव सः।
स शर्करा सिता सा च सा पुनः स्यात् सितोपला॥
अतः प्रेमविलासाः स्युर्भावाः स्नेहदयस्तु षट्॥
प्रायो व्यवह्रियन्तेऽमी प्रेम शब्देन सूरिभिः॥

—उज्ज्वलनीलमणि

अपनी संभोग वासना यदि श्रीकृष्ण के संभोग बांछा के साथ एक बन जाय तो उसे समर्था कहते है। यही गोपीकानिष्ठ समर्था रति प्रगाढ़ होने पर प्रेम कहलाता है। जिस प्रकार वीज क्रमशः इक्षु, रस, गुड़, खंड, शर्करा, मिसरी तथा उत्तम मिसरी में परिणत होकर अधिकतर निर्मल तथा सुस्वादु बन जाता है;

उसी प्रकार समर्था रति भी क्रमशः प्रेम बिलास में परिपक्व होकर मान, प्रणय, राग, अनुराग तथा भाव में पर्यवसित होता है।

स्नेह से भाव तक छः प्रकार के प्रेम बिलास को पंडितगण प्रायशः प्रेम कहा करते हैं।

भाव जब प्रगाढ़ बन कर प्रेम बनने लगता है तो भक्त नाचता है, विलुंठित होता हैं, गाता है, चिल्लाता है, अंगड़ाईयाँ लेता है। कभी वह हुँकार मारता है, जिम्हाई लेता है, तो कभी लम्वी साँस लेता है और वह लोकसंग को त्याग देता है। मुख से लार टपकती है तो कभी अट्टहास करता है तो कभी वृथा चक्कर काटता हुआ दीखता है, तो कभी हिक्का सा उठता रहता है। इन विकारों के माध्यम से चित्त के भाव अनुभाव में बदल जाते हैं। क्रमशः ये भाव, विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव, व्यभिचारी भाव तथा स्थायि भाव की सामग्रियों के द्वारा परिपूष्ट होंकर परम रसरूपमय को प्राप्त करता है। साधना के द्वारा सात्विक आदि भाव क्रमशः धूमायिता, ज्वलिता, दीप्ता तथा उद्दीप्ता बन जाते हैं। यदि भाव सर्वदा उत्कृष्ट दशा को प्राप्त होने लगे तो उसे महाभाव कहेंगे। महाभाव ही गोपीकानिष्ठ समर्थारति का चरम विकाश है।

जिस रति को जहाँ तक बढ़ने की योग्यता रहती है यदि वह उस सीमा को प्राप्त कर सके तो वह प्रेमभक्ति कहलाती है। अतएव गोपीकानिष्ठ समर्था रति यदि प्रौढ़ महाभाव दशा को प्राप्त हो जाये तो वह प्रेम भक्ति कहलाने लगती है। यथा—

इयमेव रतिः प्रौढ़ा महाभावदशां ब्रजेत ।
या मृग्या स्याद्विमुक्तानां भक्तानां च वरीयसाम् ॥

—उज्ज्वलनीलमणि

इसी महाभाव के किसी विचित्र दशा में भक्त चिद्घनानन्द भगवान के अनन्त नित्य लीलासमुद्र में निमग्न रहा करते हैं ।

———

भक्ति विषय का अधिकारी

यदि महत संग का विशेष संस्कार रहे और उसमें भगवत आराधना की श्रद्धा जागे, कर्म में अत्यन्त आसक्त न रहे, कभी भी कर्म करने से विरक्त न हो—तो उसे भक्ति योग सिद्धि मिलती है ।

और जिसको वास्तविक वैराग्य का ज्ञान नहीं हुआ हो, संसार में भी विशेष आसक्ति न रहे किन्तु भगवत प्रसंग में किंचित श्रद्धा जाग उठी हो, वही भक्तियोग का अधिकारी है । श्रीमद्भगवद्-गीता में आर्त, तत्वजिज्ञासु, अर्थकामी तथा ज्ञानी—चार प्रकार के व्यक्ति को भक्ति का अधिकारी बतलाया गया है । यथा—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्ज्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हो ज्ञानीनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता ७।१६-१७

सुकृतिशाली पुरुष ही भगवान का भजन करते है। किन्तु पूर्वकृत पुण्य के तारतम्य के अनुसार उन्हें चार श्रेणियों में बाँटा गया है—यथा आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी। इन चार प्रकार के भक्तों में ज्ञानी प्रधान हैं क्यों कि वे सर्बदा भगवान में आसक्त रहते हैं तथा इस असार संसार में भगवान को ही सार समझ कर केवल उन्हीं पर अचला भक्ति रखते हैं। इसी हेतु ज्ञानी को भगवान ने अति प्रिय कहा हैं। भगवान भी उनके प्रियतर होते हैं। किन्तु वे सभी उदार स्वभाव के होते हैं। विशेष कर भगवान ज्ञानी को आत्मस्वरूप समझते हैं क्योंकि वे सर्वात्मिक गति स्वरूप भगवान का ही आश्रय लेते है और भगवान के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के फल की आकाक्षा नहीं करते। अनेक जन्म पार कर लेने के पश्चात ज्ञानी विश्व को आत्ममय देखता है और फिर सर्वत्र आत्मदृष्टि निवन्धक भगवान को भजता रहता है। अतएव ऐसा भक्त अति दूर्लभ होता है। जिसका ज्ञान, विविध वासनाओं के द्वारा अपसृत हुआ हो, वे कामनार्थ भगवान अथवा उनकी दैवी शक्तियों की उपासना करते हैं। इनमें से जिसके प्रति भगवान अथवा भक्तों की कृपा होती है, उसका भाव क्षीण हो जाने के कारण वह शुद्धाभक्ति का अधिकारी बन जाता है।

भूक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावद्भक्ति सुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु

जो मनुष्य भक्तिसुख को चाहता है उसे अन्यान्य विषयसुख की

आशा को त्यागना पड़ेगा। जब तक भूक्ति मुक्तिस्पृहा रूपी पिशाची हृदय में बसी हुई रहेगी, तब तक वहाँ भक्तिसुख का अभ्युदय कैसे हो सकता है? अतः गुणमयी सकाम भक्ति का साधन करते करते जब तक विषयभोग से वैराग्य नहीं होता, तब तक शुद्धाभक्ति का आविर्भाव होना असंभव है। परिपक्व अवस्था आने पर निर्गुण भक्ति, प्रेमभक्ति बन जाती है। अतः भाव और प्रेम साध्य साधन भक्ति को ही वास्तव में भक्ति कहना चाहिये।

इस तरह भक्ति के उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ भेद से अधिकारी तीन प्रकार का है। उसमें उत्तम अधिकारी, यथा—

शास्त्रे युक्तौ च निपुणः सर्वथा दृढ़निश्चयः।
प्रौढ़ श्रद्धोऽधिकारी यः स भक्त उत्तमो मतः॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु

जो शास्त्र और शास्त्रानुगत युक्तियों में विशेषनिपुण है तथा तत्व विचार, साधन विचार और पुरुषार्थ विचार के द्वारा जब वह इस दृढ़निश्चय तथा प्रगाढ़ श्रद्धा पर पहुँचता है कि भगवान ही एक मात्र उपास्य तथा प्रेम का विषय है तो वह भक्तिविषय का उत्तम अधिकारी माना जाता है।

मध्यमाधिकारी, यथा—

यः शास्त्रादिष्वनिपुणः श्रद्धावान् स तु मध्यमः।

—भक्तिरसामृतसिन्धु

जो शास्त्रों में अनिपुण अर्थात् शास्त्रविचार करते समय शक्तिशाली

बाधा आने पर उसके समाधान में असमर्थ किन्तु श्रद्धावान अर्थात् अपने उपास्य देवता के प्रति मन में दृढ़निश्चय हो, उसे मध्यम अधिकारी माना जाता है ।

कनिष्ठ अधिकारी, यथा—

यो भवेत् कोमलश्रद्धः स कनिष्ठो निगद्यते ।

—भक्तिरसामृतसिन्धु

जो शास्त्र तथा शास्त्रानुगत युक्तियों में अनिपुण तथा कोमल श्रद्धावान अर्थात् शास्त्र अथवा युक्तियों के द्वारा जिसका विश्वास खंडित हो जाता है, उसे भक्तिविषयों का कनिष्ठ अधिकारी माना जाता है ।

कनिष्ठ तथा मध्यम अधिकारी भी साधन के परिपक्व दशा में उत्तम अधिकारीयों में गण्य होते हैं । प्रेमभक्ति को लाभ करना ही भक्त मात्र का लक्ष्य होना चाहिये । भूक्ति, मुक्ति को लाभ करना भक्त का उद्देश्य नहीं होता । वस्तुतः भगवान के चरणों की सेवा ने जिसके मन को आप्लुत कर रखा हो, वह कभी भी मोक्ष पाने की स्पृहा नहीं रखता । फिर भी भक्त सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य तथा सारूप्य की मुक्ति का विरोधी नहीं होता । उपयुक्त अवस्थाओं में भी किसी किसी को भगवत विषय के भाव का उद्दीपन होता है । सालोक्य आदि मुक्ति की भी दो अवस्थायें होती हैं—प्रथम अवस्था में प्रधानतः ऐश्वरिक सुख ही वाँछनीय होता है किन्तु द्वीतिय अवस्था में एकमात्र प्रेमस्वभाव-सुलभ सेवा ही काम्य होता है । अतएव सेवारसिक भक्तवृन्द

प्रथम अवस्था को प्रतिकूल समझते हैं। किन्तु जिसने एक वार भी प्रेमभक्ति के माधुर्य का आस्वादन किया हो, भगवान का वह एकान्त अनुरक्त भक्त सालोक्य आदि पंचविध मोक्ष को कदापि स्वीकार नहीं करता। अतः प्रेम-माधुर्य के आस्वादनकारी भक्तों में जिनका मन सच्चिदानन्द विग्रह के चरणों पर आकृष्ट हुआ हो, वे एकान्त भक्तों में श्रेष्ठ होते हैं क्योंकि वास्तव में जो भूक्ति-मुक्ति-स्पृहाशुन्य तथा श्रद्धावान है, वही विशुद्ध भक्ति का अधिकारी होता है। यथा श्रीमद्भागवतमें—

आज्ञायैव गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजते स सत्तमः॥

—जो व्यक्ति अपने वर्णाश्रम का परित्याग कर कृपालु तथा कृपाशुन्यता आदि दोषों को हेय समझ कर विचार करता हुआ भगवान को भजता है, वह साधुओं में उत्तम माना जाता है।

भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—"तुम वर्णाश्रम विहित समुदय धर्म का परित्याग कर मेरे शरण में आओ। विहित कर्मों का अनुष्ठान न करने के कारण जो पाप तुम्हें लगेगा, उसके लिये तुम शोक न करो क्योंकि मैं तुम्हें उन पापों से मुक्त कर दूगाँ"। * अतएव भूक्ति- मुक्ति त्यागी तथा एकमात्र भगवान का प्रेमसेवा आस्वादी ही उत्तम भक्त होते हैं।

---

* सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
—श्रीमद्भगवद्गीता १८।६६

यद्यपि विशुद्ध भक्ति का साधक उत्तम अधिकारी है किन्तु भक्ति के विषय का अधिकार सबको है। केवल गुणभेद या कामनाभेद के फल में अन्तर होता है। भक्ति जीवमात्र का सहज धर्म है। अतएव जिस में जैसी भक्ति जागे वह उसी भक्तिका अनुष्ठान करेगा। किन्तु भक्ति की परिपक्व दशा में सभी निर्गुण भक्ति को लाभ कर कृतार्थ बन सकते हैं।

बैधी और रागानुगा के दृष्टिकोण से भक्ति प्रधानतः दो प्रकार के हैं। भिन्न भक्ति के अधिकारी भी भिन्न होतें हैं। उनका प्रेम-फल भी भिन्न होता है। बर्णाश्रम आदि धर्मों में जो न आसक्त है और न विरक्त, वह वैधी भक्ति का अधिकारी होता है। ब्रजभावलुब्ध शास्त्रों की युक्तियों से निरपेक्ष ब्यक्ति, रागानुगा भक्ति का अधिकारो है। प्रथम अधिकारो केवल शास्त्र-शासन के भय से अथवा कर्तव्य के अनुरोध से शास्त्रयुक्ति सिद्ध भगवद् भजन में प्रवृत्त होता है। किन्तु उत्तम अधिकारी, शास्त्रयुक्तियों के लिये ठहरे बिना ही केवल स्वाभाविक आसक्ति और रुचि के बशीभूत होकर अपने स्वभावसंगत उस भगवद भजन में आसक्त होता है जो प्रमाण से परे है। यदि कोई ब्यक्ति स्वाभाविक आसक्ति को लाभ कर शास्त्र के अनुशासन के द्वारा भी नियन्त्रित रहे तो उसकी भक्ति मिश्रभक्ति कहलाती है। रागानुगा अधिकारी भक्त शास्त्र की अपेक्षा नहीं करता, उसमें स्वभावतः ही बैधीभक्ति के अंग समूहों का उदय होता है। बैधीभक्ति के अधिकारी सर्वदा शास्त्र के मर्यादा की रक्षा करते हैं। वह कभी भी

उस विधि-निषेध की सीमा को पार नहीं करता। किन्तु रागानुगा भक्त ऐसा नहीं होता। वह शास्त्रीय विधि-निषेध को त्याग कर भगवत प्रेम में मत्त होकर श्रीगुरु के चरणों में आत्म समर्पण करता है। वह साक्षात भजन का दीक्षित होता है। रागानुगा भक्तों की भक्ति भक्तकृपा से ही जागती है तथा उन्हीं के संसर्ग में पुष्ट भी होती है। वैधी भक्ति का साध्य-फल मूक्ति को लाभ करना है। कुछ सुख-ऐश्वर्य-उत्तरा मुक्ति को लाभ करते हैं—तो कोई प्रेम-सेवा-उत्तरा मुक्ति को लाभ करते हैं। किन्तु प्रेम-माधुर्य-स्वाद सेवी भक्त इनमें से किसी मुक्ति को ग्रहण नहीं करते। वे शुद्ध प्रेम-सेवा को लाभ करते हैं। सायुज्य मुक्ति तो सब प्रकार के मुक्ति का विरोधी है।

कुछ लोग कहते हैं कि बैधी-भक्ति से ही रागानुगा भक्ति का उदय होता है। मैं इसको सम्पूर्ण सत्य नहीं मानता। वैधी भक्ति तथा रागानुगा भक्ति सम्पूर्ण रूप से पृथक है। एक साधनभक्ति को बहिर्बृत्ति है तो दूसरी अन्तरबृत्ति। यद्यपि दोनों में श्रवण कीर्तनादि लक्षणों की एकता दीखाई पड़ती है तथापि उनमें उपादान का भेद अनेक अंशों में परिलक्षित होता है। वैधी भक्ति का प्रधान अंग जहाँ आनुमानिक उपासना है, वहाँ रागानुगा मार्ग में आनुमानिक उपासना का कोई स्थान नहीं। साक्षात भजन ही उसका श्रेष्ठ अंग है। प्रथमा भक्ति कर्मज्ञानादि-मिश्रा होती है तो द्वीतिया भक्ति आरंभ से ही कर्मज्ञानादि-शुन्य रहती है। वैधी भक्ति में प्रवल महिम

4

ज्ञान बर्तमान है किन्तु रागानुगा भक्ति में महिम ज्ञान प्रायः रहता ही नहीं। विधिमार्ग के गुणमय भक्तों के अनुग्रह से वैधी भक्ति का उदय होता है तो रागमार्ग के निर्गुण भक्तों की अनुकम्पा से रागानुगा भक्ति का संचार होता है। अतएव यह कैसे मान लिया जाय कि बैधी भक्ति से रागानुगा भक्ति उत्पन्न होती है? जो लोग वैधी भक्ति को रागानुगा भक्ति का कारण बतलाते हैं, वे या तो रागानुगा भक्ति के स्वरूप को समझ नहीं पाये हैं अथवा वैधी भक्ति के द्वारा उत्पन्न प्रधानीभूता भक्ति को ही रागानुगा भक्ति समझ बैठे हैं!

ऐसी बात नहीं है कि बैधी भक्ति केवल शास्त्र की युक्तियों के द्वारा ही अनुशासित हो। विधिमार्ग के भक्त, भावोदय तक शास्त्र तथा अनुकूल तर्क पर निर्भर करता है। तत् पश्चात रति के जनमने पर वह शास्त्रयुक्तियों की निर्भरता से दूर रहता है। यह सत्य है कि विधिवत् भक्ति परिपक्व दशा में कर्म-ज्ञानादिशुन्य होकर शुद्धा भक्ति में पर्यवसित होती है। किन्तु उसे हम रागानुगा अथवा रागात्मिका भक्ति कह नहीं सकते। विधिमार्ग का भक्त सिद्धदशा में प्रधानीभूता भक्ति का अधिकारी बन कर आत्माराम शान्त भक्तों में गण्य होता है। इनके भाव में प्रवल महिम ज्ञान वर्तमान रहता है। अतः वैधी भक्ति कदापि रागानुगा भक्ति का कारण नहीं बन सकती। यथा—

सारी दुनिया करती मेरी विधि भक्ति।
विधि भक्ति में ब्रजभाव की नहीं शक्ति ॥

—श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत

भक्ति स्वरूपतः विशुद्ध, निर्गुण तथा स्वाधीन होती है। वह सच्चिदानन्द की सर्वश्रेष्ठ ह्लादिनी शक्ति है। इस शक्ति की बहिर्वृत्ति प्रधानीभूता तथा अन्तर वृत्ति केवला होती है। प्रधानीभूता भक्ति को यदि भक्त हृदय के सत्वादि गुणों का अवलम्वन लेकर प्रकाशित होना पड़े तो वह सामान्य मलीन प्रतीत होती है और तब उसको हम वैधी अथवा गुणमयी कहते हैं। माया के संस्पर्श के कारण यह अल्प मृदु तथा मलीन होती है। उधर केवला-भक्ति अपने स्वरूप में आविर्भूत होती है और प्रवर्तक भक्तों के मायामय हृदय में अवस्थित रह कर भी वह सम्पूर्ण मायासंस्पर्शशुन्य तथा अविकृत रहती है। इसीलिये यह भक्ति प्रारंभ से ही कर्मज्ञानादिशुन्य एवं तीव्र होती है। भक्तों के हृदय में जब तक गुण बर्तमान रहता है तब तक उसे रागानुगा कहेंगे। ऐसे स्थलों में केवल आधार के गुणमयता के कारण आधेय भक्ति भी प्रभात के सूर्य की तरह अपेक्षाकृत मृदुरूप में प्रकाशित मात्र होता है। यदि ऐसा न हो, तो आधार के दोष से वह कदाचि भी स्वरूप से परिभ्रष्ट नहीं होता। यहाँतक कि आधार शिघ्र आत्मसदृश्य निर्गुण बना डालती है। उस विशुद्ध भक्ति के प्रभाव से गुणमय भक्त का हृदय भी अतिशिघ्र मायातीत बन जाता है।

माया की दो वृत्तियाँ हैं—एक विद्या और दूसरी अविद्या। अविद्या माया की वहिर्वृत्ति होती है तो विद्या अन्तर्वृत्ति। भक्त निर्गुण भक्ति को शक्ति के द्वारा हृदय के उस आवरण का भेद करने में समर्थ होता है। भक्ति की साधना में अविद्या के दूर होते ही, विद्या का उदय होता है। उसी विद्या को तत्वज्ञान अथवा आत्मज्ञान कहते हैं। किन्तु आरंभ से ही शुद्ध भक्तों में ज्ञान का अनादर तथा भगवत माधुर्य स्वाद में सुख अनुभव करने के कारण, आत्मज्ञान केवल दर्शन दे कर ही लुप्त हो जाता है। इस प्रकार शुद्ध भक्तों का गुणमय हृदय माया की दोनों वृत्तियों से निष्कृति पाकर सच्चिदानन्दमय भगवद्रूप-गुण-लीला-माधुर्य के पारावार में निमग्न रहता है।

शास्त्र में वंधी भक्ति को मर्यादा मार्ग तथा रागानुगा भक्ति को पूष्टिमार्ग कहा गया है। जो भाग्यशाली श्रेष्ठाधिकारी होता है, वह पूष्टिमार्ग का अबलम्वन करता है। साधारण पामर अधिकारीयों के लिये मर्यादा माग ही विधेय है। कोई भी व्यक्ति जो ईश्वर में विश्वासी है और अल्पकाल के लिये भी जिसका मन भगवान की ओर आकृष्ट होता हो, उसे निश्चित ही भक्ति साधन का अधिकार प्राप्त है। भक्ति, ब्राह्मण, क्षत्रिय, बैश्य आदि किसी भी जाति की बपौती सम्पत्ति नहीं होती। मनुष्य मात्र ही भक्ति करने का अधिकारी है। भक्ति साधन ज्ञातिकुल का भेद नहीं मानता। यथा—

आनिंद्ययोन्यधिक्रियते ।

—शांडिल्यसूत्र

भगवत्-भक्ति का अधिकार चांडाल आदि नीच जाति के लोगों को भी है। यदि चांडाल भी अपना मन-प्राण उनको अर्पण कर, प्रेम-करुणा कंठ से भगवान को पूकारे तो उनके लिये स्थिर रहना कठिन हो पड़ता है। ईश्वर के पास जाति-कुल-मान का आदर नहीं होता। वह तो भक्त का दास है। वह भक्ति-हीन ब्राह्मण को आदर नहीं करता किन्तु भक्तिमान चांडाल कों अपने हृदय से लगाता है। यदि भक्तिहीन मनुष्य सुधा भी चढ़ावे तो वह उसे ग्रहण नहीं करता किन्तु भक्त विष देने पर भी उसे अमृत समझ कर पी लेता है। निषादराज गुहक को भक्ति से द्रवित होकर, श्रीरामचन्द्र ने अपना मित्र मान कर आलिंगन किया। शबरी चांडालिन थी किन्तु भगवान ने उस पर कृपा को। धर्मव्याध तथा चमार रुहीदास की भक्ति कथा को कौन ऐसा हिन्दु है जो नहीं जानता? हरिदास, मुसलमान के गृह में पला किन्तु उसने हरिनाम का प्रचार किया और श्रेष्ठ भक्तों में परिगणित हुआ। भक्ति में भगवान यह भूल गये कि गोप-बालक कौन है, डोम चमार कौन है, और उनके जूठन को भी खाया। भक्ति के संचार होते ही जीव पवित्र बन जाता है। भक्तिमान व्यक्ति ही यथार्थ पंडित अथवा ब्राह्मण होता है। यथा—

अष्टविधा ह्येषा भक्तिर्यस्मिन् म्लेच्छेऽपि बर्तते ।
स विप्रेन्द्रो मुनिः श्रीमान् स यतिः स च पंडितः ॥

—गरूड़पुराण

—यदि अष्टविधा भक्ति म्लेच्छ में प्रकाश पाय तो वह म्लेच्छ नहीं रह जाता, वह विप्रेन्द्र, मुनि, श्रीमान, यति ओर पंडित बन जाता है ।

भक्ति में धनी दरिद्र का विचार नहीं रहता। धनवानों में वाह्य बस्तुओं की आसक्ति रहने के कारण, उनकी आसक्ति दृढ़ नहीं होती। दरिद्र सव आसक्तियों को भगवतमुखी बना कर उत्तमा भक्ति को लाभ करता है। भगवान क्या है, यह 'दीनवन्धु' 'कंगाली शरण', शब्द से ही पता चल जाता है। अर्थ का अभाव कभो भी परमार्थ लाभ में बाधक नही बनता। ऐसी कभी भी नहीं हुआ कि धन-रत्न न रहने के कारण भगवान की कृपा न मिली हो। विशेष कर उनका सम्पद जब हम उन्हीं को देते है तो इसमें हमारा बढ़प्पन कहाँ है? अतएव भक्तों को धन-रत्न का कथा प्रयोजन? आप हृदय से उस चिन्मय चिन्तामणि के चरणों में अपने चित्त को समर्पण कर प्रेम-कारुण्य कंठ से पुकारें—

रत्नाकरस्तवगृहं गृहिणी च पद्मा
देयं किमस्ति भवते पुरुषोत्तमाय ।
आभीरवामनयनाहृतमानसाय
दत्तं मनो यदुपते त्वमिदं गृहाण ॥

—हे यदुपति ! रत्नों का आकर समुद्र तुम्हारा घर है, निखिल सम्पदों की अधिष्ठात्री देवी कमला तो तुम्हारी गृहणी है और तुम स्वयं पुरुषोत्तम हो, हम भला तुम्हें क्या देंगे ? लोग कहते हैं कि आभिरतनय और वामनयन की प्रेममयी रमणियों ने तुम्हारे मन को हर लिया है। फिर मन के सिवा अन्य कुछ अभाव तो तुम्हें है नहीं। अतएव, मैं अपना मन तुम्हें अर्पण करता हुँ। हे प्रेम के वश गोपीजनवल्लभ ! कृपया तुम मुझे ग्रहण करो।

यदि धनवान भी इस दीनभाव को प्राप्त नहीं होते, भिखारी नहीं बनते, तो भगवान की कृपा उन्हें प्राप्त नहीं हो सकती। भगवान श्रीकृष्ण ने दुर्योधन के राजभोग को तुच्छ ज्ञान कर विदुर के खूद को अमृत मान कर प्रेम से खाया।

व्यवहारिक विद्या बुद्धि के न रहने पर भी भगवद्भक्ति लाभ होती है। उसमें सन्देह नहीं कि सत्विद्या भक्ति का सहायक बनता है। किन्तु ऐसी बात नहीं कि मूर्ख व्यक्ति भक्ति का अधिकारी नहीं बन सकता। ऐसा भी देखा गया है कि पंडित का हृदय शास्त्रालोचना करते करते इतना कठोर और नीरस बन गया कि उसमें भक्ति जागती ही नहीं। माँ, बाप, स्वामी, पूत्र, कह कर पूकारने के लिये क्या पंडित होना पड़ता है ? यदि भक्ति का आविर्भाव हो तो भक्त के हृदय में ज्ञान का भंडार स्वयं उद्भासित होने लागता है।

भक्ति के लिये बयस (उम्र) कोई समस्या नहीं होती।

यह भ्रम है कि प्रौढ़त्व के बिना भक्ति का अधिकार नहीं होता। वल्कि वाल्यकाल से ही भक्ति को लाभ करने का प्रयास करना चाहिये। बालक के कोमल हृदय में भक्ति का बीज यदि अंकुरित हो उठे तो अल्पकाल में ही उसको बृक्ष बनने की संभावना रहेगी। शैतान के द्वारा उच्छिष्ट शरीर-मन को लेकर बुढ़ापे में भगवान को सेवा करना विड़म्वना मात्र है। भक्त प्रह्लाद ने कहा है—

कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्म्मान् भागवतानिह।
दुर्ल्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम् ॥

—श्रीमद्भागवत

—बाल्यकाल में ही भागवत धर्म का आचरण करो, जीवन तो बीता समझो। मनुष्य जन्म दूर्लभ है और उसमें भी सफलकाम जीवन को अत्यन्त अध्रुव समझो।

समस्त जीवन अधर्माचरण कर बुढ़ापे में मृत्यु के भय से अस्थिर होने पर भक्ति साधना करने का समय नहीं मिलेगा। विशेषतः भक्तिहीन होकर विद्या अथवा धन का उपार्जन केवल धूर्तता तथा शठता का सहायक मात्र बनता है।

अतएव भक्ति के लिये किसी विशेष जाति, कुल, आयु, धन अथवा विद्या की आवश्यकता नहीं होती। व्याध का आचरण, ध्रुव की आयु, गजेन्द्र की विद्या, सुदाम विप्र का धन, बिदुर का वंश परिचय, उग्रसेन का पौरुष अथवा कुब्जा का रूप, साधारण मनुष्य के लिये चित्ताकर्षक तो है ही नहीं, वरन् उपेक्षा की बस्तु

है। फिर भी उनलोगों ने भगवत कृपा को प्राप्त कर भक्त-शिरोमणि बने। भक्ति-प्रिय भगवान केवल भक्ति के द्वारा ही सन्तुष्ट होते हैं, वह किसी गुण का वशीभूत नहीं होता। यथा—

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलक्रियादिभेदः।

—नारदभक्तिसूत्र

अतएव हम देखते हैं कि भक्ति या भक्तों की न कोई जाति होती है और न उनमें रूप, कुल, धन अथवा क्रिया कर्म का भेद विचार रहता है। सरल विश्वास के साथ जो भी उसको चाहे, वही उसको पाता है। यहाँ तक कि उसके समक्ष कठोर साधनायें भी परास्त हो जाती हैं। अतः संसारी-सन्यासी, बच्चे-बुढ़े, पंडित-मूर्ख, धनी-दरिद्र, सुरूप-कुरूप, ब्राह्मण-चांडाल, सब को भक्ति का अधिकार प्राप्त है। किन्तु भावानुसार कोइ सुखऐश्वर्य से परे की अथवा प्रेम-सेवा से परे की गति को प्राप्त करता है। किन्तु पुष्टिमार्ग का भक्त परिपक्क दशा में केवल शुद्धप्रेम-सेवा को ही प्राप्त करते हैं।

गीतोक्त आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु—सभी मर्यादा मार्ग के अधिकारो हैं। एक मात्र ज्ञानी ही पुष्टि-मार्ग का अधिकारी होता है, जोकि सर्वोत्तम भक्त कहलाता है क्यों कि वह यथार्थ स्वरूप को जानता है और यह भी जानता है कि किस प्रकार भगवान देशकाल आदि के द्वारा अपरिच्छिन्न होते हुये भी, सम्यक रूप से, भक्त की इच्छा पर परिच्छिन्न मुर्ति धारण करते हैं। साक्षात परब्रह्म होते हुये भी जो श्यामसुन्दर तथा मनोमयो मुर्तियों

में प्रकाशित होता है, आत्माराम तथा आप्तकाम होते हुये भी अनात्माराम तथा अनाप्तकाम बनता है, अनन्त होकर भी सान्त बनता है, विराट होते हुये भी स्वराट का रूप धारण करता है। अज्ञानी भक्त उसकी कल्पना तक नहीं कर सकते। यही कारण है कि पाश्चात्यवासी तथा पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से विकृत-मस्तिष्क भारतवासीयों में अधिकांश, इन्हें मुर्तिपूजक, जड़ोपासक तथा कुसंस्कारग्रस्त कह कर, उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। किन्तु भगवान श्रीकृष्ण का कहना हैं कि भक्तों में वे ही उत्कृष्ट होते हैं। अतः पुष्टि मार्ग के साधक को भक्तोत्तम कहा गया है क्योंकि वे उत्तम अधिकारी भी होते हैं।

———

भक्तिलाभ करने के उपाय

कर्मयोग के द्वारा गुण के क्षय हो जाने पर चित्त शुद्ध हो जाता है। तत् पश्चात् ज्ञानयोग के द्वारा जब हम यह समझ पाते हैं कि भगवान ही सब कुछ है तो हृदय में भक्ति जागती है। किन्तु नीरस ज्ञान अथवा नीरस कर्म से कभी कभी हृदय इतना कठिन बन जाता है कि भक्ति की कोमलता उसे स्पर्श नहीं कर पाती। यदि कोई, कर्म को चित्तशुद्धि का उपाय मान कर ज्ञानयोग पर आरोहण करता है तो तनिक अग्रसर होते ही भक्ति को लाभ कर धन्य बन जाता है। भक्त अथवा भगवान को कृपा बिना विशुद्ध

भक्ति को लाभ करने का अन्य कोई उपाय उपलब्ध नहीं है। जिस प्रकार पुत्र के न होने पर पुत्रस्नेह का उद्रेक नहीं होता, उसी प्रकार भगवान अथवा भक्त संग मिले बिना भक्ति का संचार संभव नहीं। सूत्रकार कहते हैं—

महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा ।

—नारदभक्तिसूत्र

महत् कृपा के द्वारा या भगवान की कृपा होने पर ही भक्ति का संचार होता है। भक्तों की कृपा भी भगवान की कृपा के ही अन्तर्गत है। यहाँ तक कि पाषाण हृदयवाला जगाई माधाई भी श्रीगौरांगदेव की कृपा से क्षण मात्र में भक्त बन गया। किन्तु भगवत कृपा किस प्रकार जौर कब बरसेगी, यह मनुष्य के बुद्धि से परे है। इसी कारण शास्त्रकारों ने भक्ति को लाभ करने के लिये साधना की ब्यवस्था भी की है। उस साधना में भक्ति रोधक प्रतिकूल विषयों का त्याग तथा अनुकूल विषयों का ग्रहण करने के लिये कहा गया है। भक्ति जीव की स्वाभाविक सम्पत्ति है। मायामय गुणों के द्वारा आवरित रहने के कारण ही भक्ति का अभाव प्रतीत होता है। यदि साधना के द्वारा हम प्रतिकूल विषयों का परित्याग कर सकें तो फिर भक्ति का विकाश अवश्यम्भावी है। चित्तशुद्धि, साधुसंग, नाम संकीर्त्तन, प्रधानतः भक्ति को लाभ करने की पहली सिढ़ी है। दुसरे साधन केवल उनको परिपुष्टि करते हैं।

———

चित्तशुद्धि

चित्तशुद्धि हिन्दुधर्म का सार है। यदि हिन्दुधर्म के यथार्थ मर्म को ग्रहण करना है तो चित्त शुद्धि को अधिक महत्व देना पड़ेगा। जिसका चित्तशुद्ध न बना हो, वह धर्म के उच्च आसन पर आसीन नहीं हो सकता। चित्तशुद्धि की साधना ही हिन्दुधर्म का मुख्य तथा मूल विषय है। इन्द्रिय दमन तथा रिपुओं का संयम यदि न हो तो हिन्दुधर्म के साधन पथ पर चलना असम्भव है। अतएव चित्तशुद्धि की साधना ही प्रवृत्ति पथ का संयम तथा तपस्या है। सर्वशास्त्रविद् होने पर भी, यदि चित्त शमित अथवा इन्द्रियाँ दमित न हुई हों तो उसे महामूर्ख समझना चाहिये। जिसने रिपुओं को शासन या इन्द्रियों को दमन न किया हो वह केवल भक्ति पथ ही क्यों किसी भी पथ पर चलने के योग्य नहीं बन सकता। और जो संयमी है, जिसका चित्त शुद्ध हो चुका हो—वह हिन्दुसमाज तथा हिन्दुमतानुसार साधु है और वह किसी भी पथ पर अग्रसर होने के योग्य है। धर्म का प्रधान उद्देश्य है कि संयमी बन कर, प्रवृत्तियों को, भक्तिपथ के माध्यम से ईश्वरपरायण बना सकें।

पहले तमः तथा रजोगुण विशिष्ट खाद्यद्रव्य तथा चिन्ताओं को परित्याग कर सात्विक आहार एवं सात्विक चिन्तन का अभ्यास करना पड़ेगा। फिर अन्तःकरण के सात्विक भावों

से पूर्ण होते ही, भक्ति का विकाश होगा। दयाशील भगवान अपने प्रेमी जीव को सर्वदा अपनी करुणांरुपी बाँसरी की ध्वनि के द्वारा, मंगल के पथ पर—आनन्द के पथ पर आकर्षित करते रहते हैं। किन्तु मिट्टी से आवरित लोहेको जिस प्रकार चुम्बक खींच नहीं पाता, उसी प्रकार जीव का हृदय पाप के फल से दूषित रहने पर भगवान की ओर आकृष्ट नहीं होता। साधना के द्वारा जिसका चित्त शुद्ध बन गया हो—हृदय की मलीनता बिदुरित हो गई हो, उसका हृदय ईश्वर की ओर आकृष्ट हुये बिना रह नहीं सकता। फिर आकृष्ट होकर ईश्वर में आसक्ति होते ही भक्ति जाग उठती है। चित्तशुद्धि की साधना से पाप का मल दूर हटते ही भक्ति साधक के हृदय को प्रकाशवान बना देती है। काम, मनुष्य के चित्त को दूषित बनाने का प्रधान उपादान है और इसीलिये वह भक्ति लाभ करने का प्रधान कंटक माना जाता है क्योंकि वह भक्ति की विपरित वृत्ति होती है। एक के रहने पर दूसरे का विकाश संभव नहीं होता। तुलसीदासजीने भी कहा है—

जहाँ काम तहाँ नहीं राम, जहाँ राम तहाँ नहीं काम।
दोनों एकत्र नहीं मिले, रवि-रजनी एक ठाम॥

—दोंहावली

जिस प्रकार रात में सूर्य का दर्शन संभव नहीं, उसी प्रकार कामुक ब्यक्ति के लिये भक्तिलाभ असंभव है। अतएव कठोर ब्रह्मचर्य का पालन करने के पश्चात् काम को दमन करना पड़ेगा। एक मात्र ब्रह्मचर्य के पालन करने से ही सब प्रकार की चित्तशुद्धि हो जाती

है। चित्त शुद्ध होते ही पाप का दमन होता है और कुसंग, कुचिन्ता, काम, क्रोध, लोभ, मद, मात्सर्य, हिंसा, निन्दा, उत्शृंखलता, सांसारिक दुश्चिन्ता, स्वार्थबुद्धि, मिथ्यालाप, चोरी, अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनने का भाव, कुतर्क करने की प्रवृत्ति, धर्माडम्वर, आदि भक्तिलाभ करने के प्रधान कंटक दूर हो जाते हैं। फिर साधक के स्निग्ध तथा शान्त आलोक में भक्ति विकशित हो उठती है।

मेरी पुस्तक 'ब्रह्मचर्य साधन' में काम दमन तथा चित्तशुद्धि के उपायों की विस्तृत आलोचना मिलेगी। यहाँ पर पुनः उनके लिखने की कोई आवश्यकता मुझे प्रतीत नहीं होती। आप यदि चाहें तो उस पुस्तक को क्रय कर पढ़ सकते हैं।

———

साधुसंग

कुसंग यदि भक्ति के पथ का कंटक है तो सत्संग भक्तिलाभ का सहायक है। यथा—

भक्तिस्तु भगवद्भक्तसंगेन परिजायते।

—नारदपुराण

भक्ति भगवद्भक्त के साथ रहने से उपजती है। जिस प्रकार सूर्य किरण बाहर के अंधकार को नाश करता है, उसी प्रकार साधुगण अपनी सद्-उक्तिरूप किरण के द्वारा 'सब प्रकार से हृदय के

अंधकार को नाश करते हैं। श्रीकृष्ण भगवान कहते हैं—

सतां प्रसंगान्ममवीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥

—श्रीमद्भागवत

साधु संसर्ग में केवल मेरी शक्ति विषयक हृदय तथा कान को सुख पहुँचाते वाली कथा ही होती है। उनके संयोग से अतिशिघ्र मुक्ति पथ के पथ पर चलने के लिये क्रमशः श्रद्धा, रति तथा भक्ति का उदय होता है।

भक्त प्रह्लाद ने कहा है—"जब तक विषयाभिमानहीन साधु के पदरज से अभिषिक्त न हो सके, तब तक संसारवासनानाशक भगवान के चरणकमल को कोई स्पर्श नहीं कर सकता।" भक्ति की साधना करते समय सत्संग का करना अनिवार्य है। कर्म से अवकाश मिलते ही साधुसंग और भगवान का नाम गुणगान करना चाहिये क्योंकि मन भगवत चिन्ता से हटते ही वह स्वभावतः रजोगुण और तमोगुण के आवेश में मुग्ध हो पड़ता है और विषय-चिन्ता में मन विक्षिप्त, चंचल तथा दूर्वल हो जाता है। सब काम और सभी अवस्थाओं में यदि हम इन्द्रियों के साथ मन को भी भगवत चिन्ता में लगाये रखें तो क्रमशः भक्ति का आवेश बढ़ता रहता है। चित्त में जब तक भक्ति-भाव का उदय न हो, तब तक साधुसंग और भगवान का नाम कीर्तन सुनते रहने पर क्रमशः भगवान के प्रति हमारी आसक्ति बढ़ेगी। इसीलिये श्रीगौरांग महाप्रभु कहते हैं—

व्यावृत्तोऽपि हरौ चितं श्रवणादौ यतेत् सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनंच तदा भवेत् ॥

साधुसंग का अति आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ता है। हजारों वर्ष तक योग तपस्या करने पर भी जो लाभ नहीं होता, वह एकबार के साधुसंग से होता है। साधुओं के दर्शन मात्र से ही हम पापमुक्त हो जाते हैं। यथा—

गीतायाः श्लोकपाठेन गोविन्दस्मृतिकीर्तनात् ।
साधुदर्शनमात्रेण तीर्थकोटिफलं लभेत् ॥

—गीता का श्लोक पढ़ना पड़ता है, गोविन्द का नाम लेना पड़ता है, तब जाकर पाप विनष्ट होते हैं किन्तु साधुओं के दर्शन मात्र से ही कोटि तीर्थों का फल प्राप्त हाता है। सारे पाप विदुरित हो जाते हैं।

साधुओं का जूठन, उनके पैरों की धूल अथवा चरणामृत के ग्रहण करने से जन्म-जन्मान्तर का संचित पाप नष्ट हो जाता है। अतएव साधुसंग भगवदभक्ति की उत्पत्ति का मूल कारण माना जाता है। साधुओं की सभा में हृदय तथा कर्ण का रसायन-स्वरूप भगवान का नाम सर्बदा आलोचित होता रहता है। वह अमृत वाणी हमारे कानों में जाकर हृदयको जितना पवित्र बनायेगा, उतना ही हम भक्तिमार्ग में क्रमशः रति तथा प्रेम का उदय करबाने में समर्थ होंगे। अतएव साधुसंग ही भगवत् भक्ति का जनक, पोषक, तथा रक्षक है। सत्संग से बढ़ कर, भगवद्भक्ति लाम करने का अन्य कोई श्रेष्ठ उपाय दृष्ट नहीं होता। साधु के दर्शन-

स्पर्शन से, उनके अन्दर के सात्विक परमाणु साधारण मनुष्य के तामस परमाणुओं को परास्त कर, उसमें शिघ्र भक्ति का संचार करते हैं। जिस प्रकार गुवड़े का कीड़ा दूसरे कीड़ों को अपनी तरह बना लेता है उसी प्रकार साधुगण भी दूसरों को अपनी तरह बना लेते हैं। ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं जहाँ पाशंड नास्तिकने भी साधुसंग पाकर अमर जीवन को लाभ किया है। मैं यहाँ एक दृष्टान्त देकर इस प्रसंग का उपसंहार करूँगा कि किस प्रकार साधुसंग से महापापी भी बदल जाता है।

जब महाप्रभू चैतन्यदेव पूरी में अवस्थान कर रहे थे तो कुछ अविश्वासी पामरों ने, उनकी परीक्षा लेने के लिये, एक रूपवती वेश्या को नियुक्त किया। महाप्रभू ध्यान में भगवान के अतुल सौन्दर्य के बीच डूबे हुये थे कि वेश्या जाकर उनके आसन पर बैठ गई और उनके शरीर को स्पर्श किया। स्त्री अंग के स्पर्श से उनका ध्यान टूटा। उनकी आँखें खुलती रहीं और बन्द होती रहीं, मानों वे कभी अपने सुन्दर प्रीतम के पास हों तो कभी उनसे दूर। इस प्रकार कुछ समय बीतने पर उनको ध्यान आया कि पास कोई स्त्रीलोक बैठी है। सोचने लगे—कहीं माता शचीदेवी मेरे लिये ब्याकुल होकर चली तो न आई? ऐसा सोचकर उन्होंने वेश्या को चारों ओर से प्रदक्षिण किया और "माँ" कह कर सम्बोधन करने लगे। फिर उसके स्तनों को पकड़ कर स्तन्यपान किया।

वेश्या ने उनके इस भाव को देखना और उनके संस्पर्श से

मोहित होकर बोली—"मैं तुम्हारी माँ नहीं, एक दुश्चारिणी, पापी हुँ । मैं प्रलोभन में पड़कर तुम्हारा धर्म नष्ट करने के लिये आई हुँ । तुम मुझे पार कर दो नहीं तो मुझे कोई भी गति नहीं मिलेगी ।"

महाप्रभू ने कहा—"माता ! तुम्हें निराश नहीं होना चाहिये । जिस भी उपाय से तुमने जो कुछ संचय किया है, अथवा जिस वस्तु को तुम अपना समझती हो, उसे तुम गरीब दीन-दुखियों में बाँट दो और अपना मस्तक मुंडन करवा कर मेरे पास चले आओ । तत् पश्चात् मैं तुम्हारी व्यवस्था करूँगा ।"

इन शब्दों से प्रबुद्ध होकर वह अपने घर गयी और अपना सर्बस्व बाँट कर अपनी मुंडन करवायी । महाप्रभू ने हरिनाम के मंत्र से उसकी दीक्षा दी । साधुसंस्पर्श से शरीर बेचने बाली वेश्या का घृणित जीवन मधुमय हो गया । तब से वह वेश्या परमाभक्ति की अधिकारीणी बन गई । मेरे पाठक ! क्या आपने साधु-संग के उपकार को देखा ? साधु व्यक्ति की जीवनी को पढ़ना, अच्छे ग्रंथ पांठ, पवित्र चित्रों का दर्शन, भगवत कथा की आलोचना तथा तीर्थभ्रमण आदि साघु संग के अन्तर्गत है ।

———

नाम संकीर्तन

नाम कीर्तन भक्ति पथ का विशेष सहायक है । इससे चित्त का दर्पण साफ होता है और चित्त का समस्त कलंक दूर हो जाता है ।

महादावाग्नि में दग्ध करने वाली निरन्तर विषयवासना बुझ जाती है। चाँदनी में विकसित कुमुदिनि की तरह भगवत् नाम कीर्तन से आत्मा का मंगल प्रस्फुटित हो उठता है। जो ब्रह्मविद्या, असूर्यस्पर्शरूपी बधू की तरह अथवा कुलबधू के अन्तःपूर में अवस्थान की तरह या मनुष्य-हृदय के अति निर्जन स्थान में, छिपा रहता है और सर्वसमक्ष में प्रकट करने की बस्तु नहीं होती, नामकीर्तन उसी ब्रह्मविद्या का जीवन स्वरूप है। इसके माध्यम से आनन्द का सागर तरंगायित होने लगता है। इसके हर ध्वनि में पूर्णामृत का आस्वादन मिलता है और उसी प्रेमरस में डूव कर मनुष्य आत्महारा हो जाता है। लगातार नाम कीर्तन के करने से भक्ति जागती है और मनुष्य निश्चित ही उस परमपद को प्राप्त कर कृतार्थ बन जाता है।

शास्त्रों के सागर को मंथन करने के पश्चात् ही हरिनाम सुधा का उद्भव हुआ है। इस सुधा को पीकर मृत्यु जगत के जीव ने अमृतत्व को लाभ किया है और लाभ करेगा। इसीलिये सभी संप्रदाय के भक्तगण हरिनाम संकीर्तन का अनुष्ठान किया करते हैं। यह सब प्रकार के साधनभक्ति का सर्वप्रधान अंग है। वैष्णव कवि कहते हैं—

नाम ही कृष्ण, भज निष्ठा करि।
संग नाम के हैं, स्वयं श्रीहरि ॥

—श्रीनरोत्तम

सभी शास्त्र इसको मानते हैं कि नाम और नामी अभिन्न होता है। अतएव भगवान को समस्त शक्ति उसके नाम में हो निहित है।

किन्तु नाम अपनी शक्ति को सर्वत्र प्रकाश नहीं करता, वह पात्र के अनुरूप भाव से शक्ति का प्रकाश करता है। जिस प्रकार ज्योतिर्मय सूर्य का प्रतिफलन, काँच, जल आदि स्वच्छ पदार्थों की निर्मलता के तारतम्य पर, निर्भर करता है—उसी प्रकार सर्वशक्तिमान भगवान का नाम भी भक्त के हृदय की स्वच्छता के अनुसार अपनी शक्ति को प्रकाश करता है। हम देखते हैं कि हरिनाम जहाँ परम भागवत लोगों के शुद्धसत्वमय चित्तक्षेत्र में उदित होकर उनके देह की इन्द्रियों को प्रेम के अमृत से प्लावित कर देता है वहाँ कनिष्ठ श्रद्धावान भक्तों के हृदय को केवल अल्प द्रवित मात्र करता है और घोर अज्ञानान्ध अपराधी जीव के हृदय में उस शक्ति का प्रकाश होता ही नहीं। जिस प्रकार सूर्य मलिन मिट्टी में थोड़ा भी प्रतिफलित नहीं होता उसी प्रकार हरिनाम भी अनन्त वासना पंकिल जीव के हृदय में उसी क्षण कोई शक्ति प्रकाश नहीं करती। यथा—

तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद् गृह्यमानैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥

—श्रीमद्भावगत ३।२।२४

हरिनाम भक्तिलता का बीजस्वरूप है। वह निरपराध व्यक्ति के सरस हृदय के क्षेत्र में गिरने पर अतिशिघ्र अंकुर बन जाता है और रति के लक्षण प्रकाश पाने लगते हैं। किन्तु जिसका हृदय अपराधों के भार से पत्थर बन गया हो, उसके चित्तक्षेत्र में नामरूपी बीज पड़ने पर भी, वह अंकुरित नहीं होता और भक्ति

के चिह्न प्रकाशित नहीं होते। अतः अपराधी व्यक्ति नाम कीर्तन करने पर भी भक्ति सुख को नहीं पाता। *

* भक्तिशास्त्र के अनुसार अपराध दो प्रकार के होते हैं—सेवा-अपराध और नाम-अपराध। सेवा-अपराध फिर ३२ प्रकार के माने गये हैं और नाम-अपराध १० प्रकार के। सेवा अपराध हैं—यान-बाहन अथवा पैरों में पादुका पहने भगवद गृह में जाना, भगवान के प्रीतार्थ उत्सव होती रास आदि का न करना, देवता के सामने प्रणाम न करना, जूठे शरीर से अशौच अवस्था में भगवान की वन्दना करना, एक ही हाथ से प्रणाम करना, देवता के सामने होकर चलना, देवता के सामने पैर फैलाना, भगवान के समक्ष जंघा को हाथ से पकड़ कर बैठना, उनकी मूर्ति के सामने सो जाना, उनके सामने भोजन करना, उनके सामने झूठ बोलना, ज़ोर ज़ोर से बातें करना, परस्पर कथोपकथन करना, रोना, कलह करना, गाली गलौज देना, किसी को अनुग्रह करना, साधारण लोगों के प्रति निष्ठूर बातें करना, कम्वल से शरीर को ढक कर सेवा कार्य करना, देवता के सामने दूसरोंको निन्दा अथवा स्तुति करना, अश्लील भाषण करना, अधोवायु का परित्याग करना, सामर्थ रहने पर भी भगवान के उत्सव पर खर्च करने में कुंठित होना, किसी अन्य को देकर अवशिष्ट से भगवान का भोग लगाना, मूर्ति की ओर पीठ दीखा कर बैठनां, श्रीमूर्ति के समक्ष अन्य किसी को प्रणाम करना, श्रीगुरुदेव की, अनुमति बिना लिये उनके निकट बैठ जाना, देवता की निन्दा और अपनी प्रशंसा करना।

अतएव सेवा-अपराध और नाम-अपराध को त्याग कर हमें प्रतिदिन हरिनाम का संकीर्तन करना चाहिये। हरिनाम संकीर्तन के प्रभाव से सारे अभीष्ट पूर्ण होते हैं और सारे पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं। एक मात्र हरिनाम कीर्तन के द्वारा ही प्रेमभक्ति, भगवतसेवा, साधनभक्ति, संसारवासना का क्षय आदि अनन्त फल प्राप्त होते हैं। इसीलिये सभी शास्त्रों में नाम की महिमा बखानी गई है। सब के स्वरों में ही नाम की गौरवगीत सुनाई

नाम अपराध ये हैं—सत् लोगों की निन्दा, अपनी इच्छानुसार नाम का मनन, श्रीगुरुदेव के प्रति अवज्ञा का भाव, वेद तथा वेदानुगत शास्त्रों की निन्दा, ऐसा कहना कि हरिनाम का मनन स्तुतिमात्र है, नाम का अर्थ अपनी कल्पना अनुसार कर लेना, नाम की शक्ति को पाप की प्रवृत्ति में लगाना, दूसरी क्रियाओं को नाम के बराबर समझना, श्रद्धाविहीन लोगों को नाम का उपदेश तथा नाम-महात्म्य का सुनने में अच्छा न लगना।

इन दोनों अपराधियों के हृदय में प्रेम का विकार प्रकाशित नहीं होता। यहाँ तक कि ये अपराधी, अनेक जन्म तक हरिनाम करने पर भी प्रेमभक्ति को लाभ नहीं कर पाते। यथा—

"यद्यपि को श्रवण कीर्तन अनेक जनम।
तवहुँ न पाये कृष्ण चरण सी प्रेमधन॥"

—चैतन्यचरितामृत

पड़ती है। क्रमागत नाम लेते लेते स्वयं प्रेमभक्ति का संचार होने लगेगा। अतः अपने भावानुसार आप अपने लोगों के साथ मिल कर प्रतिदिन नाम कीर्तन करना, भक्तिलाभ का सर्व प्रधान उपाय है। नाम करते करते, आनन्दसागर में लहरें उठेगीं, प्राण में शान्ति मिलेगा और विषय-वासना तिरोहित होकर, शुद्धा भक्ति का संचार होगा।

आजकल बंगाल में प्रायः सर्वत्र हरिनाम संकीर्तन की धूम मची हुई है। यह बड़े ही आनन्द की बात है। किन्तु अधिकांश स्थलों के नामकीर्तन में कीर्तन का अनुष्ठान नहीं हुआ करता। केवल संगीत सुख अथवा वाह्य आनन्द को पाने के लिये ही कीर्तन किये जा रहे हैं। यदि कभी अस्वाभाविक भक्ति के उच्छास के कारण किसी की 'दशा' विकृत व्यवहार का रूप ले लेती है तो मूर्खलोग उसे 'अवतार' समझ कर सेवा करना शुरु कर देते हैं। दशाग्रस्त व्यक्ति अपने को भ्रम से गौर अथवा निताई समझ वैठते हैं और भी न जाने क्या क्या समझ बैठते हैं। अहंकार जागते ही भक्ति शेष हो जाती है।

अभिमानं सुरापानं गौरबं रौरवं ध्रुवं।
प्रतिष्ठा शूकरीविष्ठा त्रयं त्यक्त्वा हरिं भजेत्॥

अभिमान को सुरापान, गौरव को रौरव नरक, प्रतिष्ठा को शुकरी विष्ठा समझ कर हरि का भजन करो। विन्दु मात्र अंह भाव के प्रतिष्ठा की प्रत्याशा करने पर भक्ति का होना असंमव है। कंगालों के देवता प्रेमावतार श्रीचैतन्यदेव अपने भक्तों के साथ प्रेमावेश में

भावोन्मत्त होकर नृत्य किया करते थे। भावभक्ति विहीन जीव व्यर्थ उसका अभिनय क्यों करते फिरते हो ? भावकी मत्तता आये भी तो उसे दवाने की चेष्टा करो। अपनी इच्छा से उसमें भाग लेने पर शिघ्र ही वह उदित भक्ति समाप्त हो जायेगी। दवा कर रखने पर वही महाभाव में परिणत होकर भक्त को आत्महारा बना कर प्रेम के उत्स को उत्सारित कर देगा। उस अवस्था को देख कर तुम्हारे मित्रवर्ग भी धन्य हो जायेंगे। केबल मात्र लोगों की तालीयाँ पाने के लिये, धर्म का यह आडम्वर बड़ा ही घृण्य है। धर्म के मिथ्या आडंवर से, नास्तिकता श्रेय है। अतएव दीखावे की ढोंग को त्याग कर सरल विश्वास से चित्त को समाहित कर दीनतापूर्वक भगवान का नाम गुण कीर्तन करो। महाप्रभू चैतन्य-देव ने कहा है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

—शिक्षाष्टक

'तृण से भी छोटा तथा बृक्ष से भी अधिक सहिष्णु बनकर अभिमान को त्याग दुसरों का सन्मान करो और सदा हरिनाम का कीर्तन किया करो।' पतितपावन दीनदयाल श्रीगौरांगदेवजी ने इस देश में हरिनाम संकीर्तन का प्रचार विशेष रूप से किया है।

इस प्रकार जिसने भगवान के नाम रूपी लीला-कीर्तन ब्रत का पालन किया है, उसके हृदय में नाम-कीर्तन के माध्यम से, अनुराग जागेगा, उसका चित्त द्रवित बनेगा। फिर वह कभी या तो जोर

से हँसेगा अथवा रोयेगा तो कभी व्याकुल होकर चिल्लायेगा। कभी गा उठेगा तो कभी पागलों की तरह नृत्य करने लगेगा।

साधुसंग और नाम संकीर्तन चित्तशुद्धि के साधन हैं जिससे भक्ति स्वयं उदित हो उठती है। पहले श्रद्धा जागती है फिर सद्गुरू से दीक्षा-शिक्षा होती है और तत्पश्चात् वह अधिक उच्च स्तर की साधनाओं में नियुक्त हो जाता है।

भक्ति की ६४ प्रकार की साधनायें

भक्ति साधना का धन है। इच्छा से ही भक्ति जागा नहीं करती। जिस प्रकार संसार का समस्त कार्य अभ्यास के द्वारा होता है उसी प्रकार भक्ति भी अभ्यास से जागती है। किन्तु यह अभ्यास कठिन है। साधनभक्ति में पूजा, जप, होम, ब्रत नियम आदि के द्वारा भगवान पर आत्मसमर्पण करना पड़ता है। फिर पूजा, अर्चना, याग-यज्ञ तथा स्तवकवच आदि के द्वारा ईश्वर को साधना करनी पड़ती है। अरूप को सरूप बनाना पड़ता है। मूर्ति अथवा चित्र बना कर उसको भजना पड़ता है। उसकी लीला का श्रवण, लोला स्थान अर्थात् तीर्थादि का दर्शन, स्मरण, मनन, भाषण आदि साधनभक्ति के अंग है। अंग कहते किसको है ?

आश्रितावान्तरानेकभेदं केवलमेव वा।
एकं कर्मात्र विद्वद्भिरेकं भक्त्यंगमुच्यते॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु

—जिस में वृथा भेद दीखाई पड़े अथवा जिसमें स्वतः ही स्पष्ट रूप से भेद प्रतीत न हो, उस प्रकार के विशेष कर्म को भक्ति का अंग कहते हैं।

भक्ति शास्त्र में असंख्य प्रकार की भक्ति के अंग का वर्णन मिलता है। उनमें मुख्य चौंषठ प्रकार के हैं। इन चौंषठ प्रकार की अंगो को तीन स्तरों में बाँटे गये हैं—प्रथम, द्वीतिय और तृतीय सोपान।

प्रथम सोपान—गुरुपदपंकज में आश्रय ग्रहण, मंत्र दीक्षा, गुरु से तत्वसमूहों का शिक्षालाभ, विश्वास तथा श्रद्धा के साथ गुरु की सेवा, भक्तों के द्वारा आचरित पथ का अनुगामी बनना, स्वधर्म जिज्ञासा, भगवान के प्रसन्नता के लिये भोगविलास का त्याग, तीर्थवास, किसी विषय का अनुष्ठान वहीं तक करना जहाँ तक न करने पर भक्ति लाभ न हो, एकादशी आदि हरिवासरों का यथाशक्ति सन्मान करना और आँवला, पीपल आदि वृक्षों के गौरव की रक्षा करना—ये दस प्रकार के अंग साधनभक्ति के आरंभस्वरूप है अर्थात् इनके करने से भक्ति का संचार होता है।

द्वीतिय सोपान—भगवद्-विमुख लोगों के संसर्ग में दूरी, अनधिकारी व्यक्ति को शिष्य न बनाना, मठादि निर्माण विषयों में निरुत्साह, ग्रंथो तथा चौंषठ प्रकार की कलाओं का अभ्यास अथवा व्याख्या, वाद मात्र का परिवर्जन, यदि कोई बस्तु का लाभ न हुआ हो अथवा लव्ध बस्तु बिनष्ट हो तो उसके लिये चिन्ता न कर दीनता का भाव प्रकाश न करना, शोक मोह आदि के वशीभूत

होना, अन्य देवताओं के प्रति अवज्ञा का भाव न दर्शाना, सेवापराध या नामापराध को उत्पन्न होने न देना, प्राणीयों में उद्वेग की सृष्टि न करना, भक्त और भगवान की निन्दा अथवा उनसे विद्वेष न करना, यहाँ तक कि निन्दा की श्रवण तक का परित्याग—इन दस अंगों के सिवा साधनभक्ति जागा नहीं करती। इसीलिये इन दश अंगों का अनुष्ठान अवश्य कर्तव्यों में से हैं।

यद्यपि ये बीस अंग भक्ति के घर में प्रवेश करने के लिये द्वारस्वरूप हैं तथापि गुरुपदाश्रय आदि तीन अंगों को प्रधान माना गया है।

तृतीय सोपान—वैष्णव-चिह्न धारण, शरीर पर हरिनामाक्षर का अंकन, निर्माल्य धारण, ईश्वर के समक्ष नाचना, दंडवत होकर प्रणाम करना, भगवान की मूर्ति को देखते ही खड़ा हो जाना, अनुब्रजा अर्थात् ईश्वर की प्रतिमूर्ति के पीछे पीछे चलना, ईश्वर के अधिष्ठान-स्थान पर जाना, परिक्रमा, अर्चना, परिचर्या, गीत गाना, संकीर्तन करना, जप, विज्ञप्ति (निवेदन) ग्रहण करना, नैवेद्य का स्वाद ग्रहण करना, चरणामृत का सेवन, धूप-माल्यादि का सौरभ ग्रहण करना, श्रीमूर्ति का दर्शन, श्रीमूर्ति का स्पर्शन, आरति तथा उत्सव का दर्शन करना, भगवान का नाम श्रवण करना, भगवान की कृपा पर दृष्टि डालना, स्मरण, ध्यान, दास्यभाव, सख्यभाव, आत्मनिवेदन, ईश्वर को अपनी प्रिय वस्तु समर्पण, ईश्वर प्राप्ति के लिये सब प्रकार की चेष्टा करना, सब अवस्थाओं में शरणागति, तुलसी का सेवन,

श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रों का पठन, मथुरा की सेवा, वैष्णव की सेवा, सामर्थानुरूप गोष्ठिवर्गों के साथ मिल कर महोत्सव मनाना. कार्तिक के महीने का समादर, श्रीकृष्ण जन्मयात्रा का पालन. श्रद्धापूर्वक श्रीमूर्ति की परिचर्या, भक्तों के साथ श्रीमद्भागवत् के अर्थ का आस्वादन, समभावी तथा अपने से श्रेष्ठ तथा स्निग्ध साधुओं के संग नाम कीर्तन और मथुरामंडली में अवस्थान—चौंवालिस प्रकार के ये अंग, साधनभक्ति के चरम याजन हैं। इनकी साधना से भक्त सिद्धदशा को प्राप्त होता है।

इस प्रकार अलग अलग तथा समष्टि रूप से इनमें इन्द्रिय तथा अन्तःकरण के द्वारा किये जाने वाले ६४ प्रकार की उपासना की चर्चा है जिनकी साधना से हृदय में भक्ति का उदय होता है। साधना का अर्थ है—अभ्यास या अनुशीलन। अनुशीलन या अभ्यास के सिवा कुछ भी लाभ नहीं होता। जहाँ आहार-विहार-गमन जैसा सामान्य कार्य भी अभ्यास पर निर्भर करता है वहाँ मानव की अति उच्च वृत्तियाँ अनुशीलन के बिना कैसे उन्नत होगीं? ईश्वर को अपना चित्त समर्पण कर केवल उनका नाम-कीर्तन. साधुसंग भागवत कथा की आलोचना आदि के द्वारा ही भक्ति का उदय होगा। देवता की अर्चना, पूजा, जप, तप, दान, ध्यान, पुरश्चरण आदि के द्वारा भी भक्ति जाग्रत होती हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां वुधा भावसमन्विताः॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा वोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि वुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता १०।८-१०

—पंडित यह जान कर मेरा भजन करता है कि मैं सबकुछ का कारण हुँ और मुझसे ही सब प्रवर्तित हुये हैं। वह अपना मन-प्राण मुझे समर्पण कर तब मुझे जान पाता है और मेरा नाम कीर्तन कर एकान्त संतोष तथा परम शान्ति को लाभ करता है। वैसे प्रेमचित्त भक्त को मैं बुद्धि प्रदान करता हुँ जिससे वह मुझे प्राप्त कर सके।

बुद्धि का विकाश ही भक्ति है अर्थात् बुद्धि के जागने पर, कौन सत् है, असत् क्या है, अकर्तव्य क्या है, इसे हम जान पाते हैं। फिर स्वयं भगवदबुद्धि का उदय होता है।

जब मनुष्य की समस्त बृत्तियाँ ईश्वर की ओर जाने लगती हैं तो उस अवस्था को भक्ति कहते हैं। फिर उन बृत्तियों का अर्पण ईश्वर पर होने के कारण, उनमें आनन्दस्वरूप प्रतिबिम्बित होकर सुख प्रदान करता है। दर्पण को ओर हँसने पर दर्पण का प्रतिबिम्ब भी हँसता है। जब बृत्तियों ईश्वरमुखी हो जाती हैं तो उनमें उसका स्वरूप प्रतिभात होने लगता है कि वह आनन्दमय है—आकांक्षारहित है और भक्त में भी उसी भाव का उदय होने लगता है। फिर मनुष्य सुखी होता है। उसका

अपना कुछ रह नहीं जाता—वह और कुछ समझता भी नहीं। वही आनन्द उसका आनन्द होता है और उसी भाव में वह बिभोर रहता है। जब समस्त भावों में, बृत्तियों में वासनाओं में कामनाओं में, ज्ञान में, ईश्वर के प्रति अनुरक्ति रहे, तो उसे प्रेमभक्ति कहते हैं। भक्ति से प्रेम जन्म लेती है। प्रेम के जागते ही जीव जीवन्मुक्त हो जाता है।

कुछ लोगों का कहना है कि वर्णाश्रम-बिहित कर्म परंपरा ही भक्ति का अंग है किन्तु भक्तितत्ववेत्ता स्मृति उसे स्वीकार नहीं करती क्योंकि शास्त्र के अनुसार—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

—श्रीमद्भागवत ११।२०।६

—जब तक विषयों के प्रति वैराग्य नहीं उत्पन्न होता अर्थात् निर्वेद नहीं होता अथवा भागवत कथा में श्रद्धा नहीं होती, तब तक वर्णाश्रम-विहित कर्म करते रहना चाहिये।

श्रद्धा के उत्पन्न होते ही वर्णाश्रम-धर्म का प्रयोजन शेष हो जाता है। अतएव उसे हम भक्ति साधना का अंग कैसे कह सकते हैं? कुछ लोग ज्ञान तथा वैराग्य को भक्ति का अंग मानते हैं, किन्तु वह युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। भक्तिमार्ग का अविरोधी, ज्ञान तथा वैराग्य, भक्तिमार्ग मे प्रवेश करने में प्रथम सहायक होता है। अतएव उन्हें हम भक्ति का अंग नहीं मान सकते। साधुओं का मत है कि यदि उत्तरकाल में ज्ञान और

वैराग्य अनुगत रहे तो दोषान्तर की उत्पत्ति होती है और चित्त कठिन बन जाता है क्योंकि महाजनों ने ज्ञान और वैराग्य को चित्तके काठिन्य का कारण बतलाया है। इसका यह कारण है कि अनेक प्रकार के बाद-विचार अथवा अद्भुद अभ्यासों के द्वारा यदि हम तत्व को जानना चाहें तो चित्त में काठिन्य पैदा हो जाता है। अतः भक्ति के सिवा भक्तिलाभ करने का दूसरा कोई उपाय सम्भव नहीं है। ज्ञानसाध्य मुक्ति तथा वैराग्यज्ञान केवल भक्ति के द्वारा ही सिद्ध हो सकता है। कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान तथा अन्य कर्मों के द्वारा जो फल लाभ संभव है, उसे भक्त केवल भगवदबिषयी भक्ति के द्वारा अनायास ही प्राप्त होते हैं। उद्धव को श्रीकृष्ण भगवान ने कहा—

सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽजंसा।
स्वर्गापवर्ग मद्धाम क़थंचिद्‌ यदि वांछति ॥

—श्रीमद्‌भागवत ११।२०।३३

—यद्यपि मेरे भक्त को किसी प्रकार की अभिलाषा नहीं रहती, तथापि भक्ति की उपयोगिता के निमित्त यदि वे कभी स्वर्ग, अपवर्ग अथवा मेरे धाम की वांछा करते हैं तो अनायास ही वे उसको लाभ करते हैं।

अन्तःशुद्धि, वाह्यशुद्धि, तपस्या तथा शान्ति आदि गुण भगवत सेवाभिलाषी भक्तों के पास स्वयं उपस्थित हो जाते हैं। इसलिये उन्हें हम भक्ति का अंग नहीं कर सकते।

बैधी मार्ग के भक्तगण उक्त ६४ प्रकार के साधनभक्ति का आश्रय लेकर परिपक्क अवस्था में शान्ति रति को लाभ कर चतुर्विध मुक्ति को प्राप्त करता है। और रागानुगामार्ग के भक्तगण साधन मुक्ति के मुख्यांग अथवा अनेक अंगों का आश्रय लेकर परिपक्क दशा को प्राप्त करने पर प्रेमभक्ति को लाभ करता है। यथा—

साधो एक या अनेक अंग।
रहे निष्ठा, बहता प्रेम तरंग॥

—श्रीचैतन्यचरितामृत

मुख्यांग हो या बहु अंग, जो भक्ति को एकमात्र आश्रय बनाना है, भक्ति स्वयं भक्तों की निष्ठा से प्रीत होकर उन्हें सिद्धि प्रदान करती है। यथा—

सा भक्तिरेकमुख्यांगाश्रिताऽनेकागिंकाथवा।
स्व वासनानुसारेण निष्ठातः सिद्धिकृन्दवेत्॥

—स्कन्दपूराण

श्रीमद्भागवत को श्रवण कर महाराज परीक्षितने, श्रीमद्भागवत के कीर्तन से शुकदेवने, उसके स्मरण से प्रह्लादने, केवल मात्र चरणों की सेवा से लक्ष्मीने, अर्चना के द्वारा आदिराजा पृथूने, बन्दना के माध्यम से अक्रूरने, दास भाव से हनुमानने, सखा भाव से अर्जुनने तथा आत्मनिवेदन के द्वारा दैत्यराज बलिने, केवल एक मुख्यांग के द्वारा और महाराज अम्वरीषने अनेक अंगों का आश्रय लेकर भक्ति की साधना की तथा ईश्वर के श्रीचरण को प्राप्त कर छोड़ा।

———

चैतन्योक्त साधनपंचक

कंगाली के देवता प्रेमावतार श्रीश्रीचैतन्यदेव, वर्तमान युग के प्रथम सन्ध्या को आविर्भूत हुये थे और समस्त भेदभावों को त्यागकर संसार के प्रत्येक जीव को उन्होंने प्रेम रूपी धन प्रदान किया। आज का अत्यन्त शक्तिहीन जीव भी उन्हीं की अनुकम्पा से सर्वोत्तम प्रेमभक्ति को लाभ करने की आशा रखता है। वास्तव में श्रीचैतन्यदेव की अनुकम्पा बिना कालग्रस्त मानव अन्य किसी भी उपाय से परमप्रेम का अधिकारी नहीं बन सकता। श्रीश्रीमहाप्रभू के पार्षदों ने प्रेमभक्ति को लाभ करने के सुगम पथ निर्देश स्वरूप, जिस भक्तिशास्त्र का प्रणयन किया है, वे सभी प्रकांड पंडित थे। ये शास्त्र उनके अपार्थिव ज्ञान तथा अलौकिक प्रतिभा के साक्षो हैं। उनमें श्रीयुत कृष्णदास कविराज गोस्वामी जो प्रमुख हैं। अनर्पित प्रेमभक्ति के अमृत-सागर में गोंते लगा कर जिस असमोर्ध्व भगवन्माधुर्य का आस्वादन उन्होंने किया था, अपने भावी वंशजों को उसका उपभोग करवाने के लिये, उसका सुगम पथ बतलाकर उन्होंने श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत जैसे ग्रंथ का प्रणयन किया। अतएव उस प्रामाणिक महाकाव्य को आपसब 'कविता' मानकर उड़ा देने को भूल न कर बैठें। वैष्णव शास्त्र का मर्म न समझने के कारण कुछलोग उस ग्रंथ को 'वैष्णबी बुझक्कर' मान कर नाक सिकोंरते हैं। श्रीचैतन्य-

चरितामृत की प्रत्येक बातें दर्शन-विज्ञान की सुदृढ़ आधार पर खड़ी है। वह किसी कौपिनधारी साधारण मनुष्य की अज्ञान-विजरित शुन्य उच्छ्वास नहीं है। हिन्दुओं की पहले तन्त्र, पुराण, स्मृति, श्रुति, दर्शन, उपनिषद् को पड़ने के पश्चात् ही उस कौपिनकंठीधारी वैरागी के बुझक्कर को पढ़ने का प्रयत्न करना चाहिये। तब जाकर यदि कुछ पल्ले आये! उसके भाव से भावित हुये बिना अन्य उसके तत्व को समझ नहीं सकते।

परमदयालु महाप्रभू ने प्रेमभक्ति करने के सुगम पथ का प्रदर्शन किया है। प्रभूपाद सनातन गोस्वामी को उन्होंने कहा था—"सत्संग, कृष्णसेवा, भागवत, नाम तथा ब्रजवास—ये पाँच प्रेमभक्ति लाभ करने के उपाय हैं।" श्रीमत् कविराज गोस्वामी रचित ग्रंथ में गौरांगदेव कहते हैं—

सत्संग-कृष्णसेवा-भागवत-नाम
और ब्रजवास—साधन पंच ये प्रधान।
इन पंचम में एक यदि होये अल्प भी,
जागे सुबुद्धि जनों में कृष्णप्रेम संधान॥

—श्रीचैतन्यचरितामृत

अत्यन्त कठिन और आश्चर्य प्रभावशाली इन पाँच विषयों से श्रद्धा न होकर यदि अल्प मात्रा में सम्वन्ध भी हो जाये तो सुवुद्धि बाले मनुष्य में भाव का उदय हो जा सकता है।

सत्संग –साधुसंग के महिमा की चर्चा हम पहले कर चुके है। साधुसंग के गुण से अस्पर्श कुलटा भी परम भक्ति का अधिकारी बन सकती है। यथा—

प्रसिद्ध वैष्णवी भई परम महन्त ।
जिसके दर्शन को जाते सब संत ॥

—भक्तमालग्रन्थ

साधुसंग ने नारद मुनि को भी नया जीवन दिया था। पूर्व जन्म में वे एक दासी के पुत्र थे। प्रभू के आदेश से साधुओं की सेवा करने के निमित्त उन्हें नियुक्त किया गया और साधुसंग के गुण से उन्हें भक्ति प्राप्त हुई। यथा—

उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैः
सकृत् स्म भुंजे तदपास्तकिल्विषः।
एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतस-
स्तद्धर्म्म एवात्मरूचिः प्रजायते ॥

—श्रीमद्भागवत १।५।२५

ब्राह्मणों की अनुमति लेकर हमनें उनके जूठन खाये जिससे मेरें सारे पाप विदुरित हुये। इस प्रकार हमारा चित्त विशुद्ध हुआ और उसके परमेश्वर भजन रूपी धर्म में हमारी रूचि उत्पन्न हुई। साधुओं की महिमा अपार है। साधुओं की आलोचना तथा सद्ग्रंथ पाठ भी सत्संग के ही अन्तर्गत है। साधुसंग के द्वारा जीवन भक्ति के पथपर उन्नति लाभ करती है।

कृष्णसेवा—कृष्ण सेवा का अर्थ है—श्रीकृष्ण के प्रतिमूर्ति की परिचर्या, गुरुसेवा तथा भक्तसेवा जो वाह्येन्द्रियों के द्वारा सम्पन्न होती हैं। किन्तु अन्तरेन्द्रियों के द्वारा मनोमयी मूर्ति

की सेवा करनी पड़ेगी। संसार के सब जीवों को ईश्वर मानकर श्रद्धा के साथ सेवा करने में ही सच्चो कृष्ण सेवा होती है। इससे उत्कृष्ट उपाय भक्तिलाभ करने के लिये और क्या हो सकता है ?

श्रीमद्भागवत ग्रंथ में महाराज अम्बरीषके उपाख्यान में कहा गया है कि वे मन को श्रीकृष्ण-पदारविन्द में, वाक्य को वैकुंठ गुणानुवर्णन में, हाथों को हरि के मन्दिर मार्जन करने में, कानों को उनके सत्प्रसंग में, नयनों को मन्दिरदर्शन में, अंग को भक्तगात्र स्पर्श में, नाक को श्रीमूर्ति के पदप्रान्त में अर्पित तुलसी के गंध में, रसना को उसके निवेदित अन्नों में, पैरों को श्रीहरिक्षेत्र के प्ररिक्रमण में, मस्तक उनके प्रणाम में और भोग्य विषय को भोगलिप्सु न बना कर, भगवान का दास बना कर, अपना जीवन यापन करने लगे। भगवद्भक्तों को आश्रय करने वाली श्रेष्ठतम इस भक्ति को लाभ करने के लिये ही उन्होंने ऐसा किया। इस तरह उनकी आसक्ति गृह. स्त्री, पुत्र, हाथी, अश्व, सेना, अक्षय-रत्नाभरण, अस्त्र, रत्नभंडार आदि किसो भी बस्तु में नहीं रह गई। क्रमशः परमाभक्ति उनके हृदय को अधिकार कर बैठी। उनका मन एक मात्र हरिपादपद्म पर निमग्न हुआ। भगवान ने स्वयं कहा है—

मम नाम सदाग्राही मम सेवाप्रियः सदा।
भक्तिस्तस्मै प्रदातब्या न तु मुक्तिः कदाचन ॥

—आदिपूराण

—जो व्यक्ति सर्वदा मेरा नाम लेता है और मेरी ही सेवा करने में आनन्द पाता है, मैं उसे मुक्ति नहीं, भक्ति प्रदान करता हूँ।

भागवत—"निगम कल्पतरोर्गलितं फलं"—यह भागवत शास्त्र, वेद रूप कल्पवृक्ष का अमृत फल है, प्रेम भक्ति को लाभ करने के लिये अमृतरसान्वित उस फल को बार बार खाओ। भागवत में अनेक भक्तचरित्र का आख्यान मिलता है। वहाँ भगबान के अनन्त गुण, अहैतुक कृपा तथा असमोर्ध्व-लीलामाधुर्य का वर्णन मिलता है। वहाँ यह भी मिलता है कि किस भक्त ने किस प्रकार से भक्ति को लाभ किया और भगवान ने अपने भक्त को किस प्रकार से कृपा दर्शाया, जिस को पड़ते हुये पाषंड का हृदय भो द्रवित हुये बिना नहीं रहता। जिस शास्त्र में भगवान का स्वरूप वर्णन, लीला कीर्तन, शक्ति प्रचार और भक्तों की कथा पूर्णमात्रा में मिले वही भागवत शास्त्र है। श्रीमद्भागवत ग्रंथ में ये सभी कुछ पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं। इसीलिये तो श्रीचैतन्य महाप्रभू ने भागवत को भक्ति का प्रधान साधन बतलाया है। भागवत शास्त्र के अध्ययन तथा श्रवण करने पर मन भक्ति के पथ पर अग्रसर होता है। केवलमात्र भागवत को पढ़कर महाराज परीक्षित ने भगवत् चरणारविन्द को लाभ किया था। जिस व्रह्म को लाभ करने के लिये योगी-ऋषि-ज्ञानीगण आत्महारा बनते हैं, उसे चिद्घनानन्द विग्रह श्रीकृष्ण के तनु की आभा आख्या देकर भक्ति पथ ने कितना सरल बना दिया है। सुतरां भक्ति को लाभ करने के लिये भागवत का पाठ अत्यन्त

प्रयोजनीय है; हमारा पुराण, उपपूराण आदि सभी भागवत शास्त्र के अन्तर्गत हैं। प्रत्येक पूराण भगवान और भक्त की कहानीयों से परिपूर्ण है। किन्तु यह सत्य है कि श्रीमद्भागवत उन सब में श्रेष्ठ है।

नाम—कीर्तन, श्रवण तथा जप आदि नाम-साधन के अन्तर्गत होने के कारण, भक्ति का सहायक है। नाम, रूप तथा गुणों को उच्च शब्दों के द्वारा उच्चारण करने को कीर्तन, उन्हें श्रद्धा के साथ सुनने को श्रवण और नाम-मंत्रादि को अत्यन्त धीरे से उच्चारण करने को जप कहते हैं। हरि नाम का कीर्तन ही तत्वतः फलाकांक्षी पुरुषों के फल का साधन है। मुमुक्षों के लिये यही मोक्ष साधन बन जाता है और यही ज्ञानी के ज्ञान का फल है। अतएव साधक तथा सिद्ध सब के लिये इससे बढ़कर मंगलमय और क्या हो सकता है? भगवान ने कहा है—

गीत्वा च मम नामानि विचरेन्मम सन्निधौ।
इति ब्रवीम ते सत्यं क्रीतोऽहं तस्य चार्जुन॥

—आदिपूराण

हे अर्जुन! मै सत्य कहता हूँ कि जो ब्यक्ति मेरा नाम लेता हुआ मेरे निकट विचरण करता है, मैं उसका कृतदास बन जाता हूँ।

नाम और नामी अभेद होने के कारण, वह नाम चिन्तामणि-स्वरूप अर्थात् समस्तपुरूषार्थप्रदायक चैतन्यस्वरूप, अपरिच्छिन्न, माया सम्वन्धविरहित तथा माया के अतीत है। इसीलिये भगवान का नाम वास्तव में इन्द्रियों के लिये ग्राह्य होना संभव नहीं होता।

किन्तु मनुष्य नाम इसलिये ग्रहण करता है कि इससे रसना की इन्द्रियाँ उन्मुख अवस्था में भगवान का नाम स्वयं प्रकाशित करती हैं। श्रीगौरांगदेव ने तो बारबार कहा है कि कलियुग में हरिनाम के अतिरिक्त अन्य कोई गति नहीं है—इसकी सत्यता को प्रधानता देने के लिये उन्होंने तीन बार कहा है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलं।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

वास्तव में कलियुग के दूर्बल अधिकारी लोगों के लिये नाम के सिवा दूसरा कोई पथ नहीं दीखाई पड़ता। अयोध्या के राजा दशरथ के द्वारा भूलबस जब अन्धमुनि पुत्र सिन्धु की हत्या होगई तो प्रायश्चित्त करने के लिये वे मुनि वशिष्ठ के आश्रम में पहुँचे। ज्ञानी-श्रेष्ठ, ऋषिश्रेष्ठ वशिष्ठ मुनि, उस समय आश्रम में उपस्थित नहीं थे। वशिष्ठ के सुपुत्र वामदेव ने राजा को उस पाप मोचन के निमित्त संकल्पपुर्वक केवल तीन बार हरिनाम लेने के लिये कहा। लौटने पर वशिष्ठ मुनि ने क्रोधान्ध होकर कहा—"जहाँ एक बार हरिनाम के लेने से कोटि ब्रह्महत्या के पाप का विनाश हो जाता है, वहाँ तुमने राजा को तीन बार हरिनाम क्यों लेने के लिये कहा? ब्राह्मण होकर भी नाम की मर्यादा को तुम समझ नहीं पाये, तुम्हारा जन्म चांडाल की योनि में होगा।"

नाम की महिमा अपार है। वैष्णव सम्प्रदाय वाले कहते हैं—हरिनाम के लेने से इतने पाप दूर हो जाते हैं कि जितना मनुष्य चाहे भी तो नहीं कर सकता है।

एक कृष्ण नाम करता सर्ब पाप नाश ।
प्रेम के लिये करता वह भक्ति का प्रकाश ॥

—श्रीचैतन्यचरितामृत

पूर्व जन्म के नाम के कारण ही देवर्षि नारद में भक्ति का संचार हुआ था । यथा :—

इत्थं शरत्प्राबृषिकावृतु हरे-
र्विशृण्वतो मेऽनुसवं यशोऽमलम् ।
संकीर्त्यमानं मुनिभिर्महात्मभि-
र्भक्तिः प्रवृत्तात्मरजस्तमोपहा ॥

—श्रीमद्भागवत १।५।२८

—इस प्रकार शरत तथा वर्षाकाल में महात्मा मुनिगणों के द्वारा प्रातःकाल मध्यान्ह तथा सायंकाल हरि के अमल यश का संकीर्तन सुन कर मेरे अन्दर रजस्तमोनाशिनी भक्ति का उदय हुआ।

ब्रजवास—ब्रजवास का अर्थ है मथुरामंडल के अन्तर्गत किसी भी स्थान में बास करना। इसी मथुरामंडल के यमुना में कभी प्रेमभक्ति का प्रवल ज्वार आया था। पशुपक्षी तक भी हरिनाम लिया करते थे। बसंत के आगमन से पहले ही वहाँ के वृक्षलता फल पुष्प से लहरा उठते थे। इस मथुरामंडल की चर्चा से ही प्राणों में भक्ति जाग उठती है। आज भी मथुरामंडल के रज रज में प्रति परमाणु में राधाकृष्ण की प्रेम-कथा विखड़ी पड़ी है। अतः वहाँ जाने पर अथवा उस मिट्टी के सर्वांग लेपन से ही यदि हृदय में प्रेम का संचार होता है तो यह विज्ञान सम्मत बात है। केवल

मथुरामंडल ही क्यों, तीर्थ यात्रा मात्र ही पापनाशक तथा भक्ति-उद्दीपक होता है।

किसी विशेष स्थान का अद्भुत प्रभाव अथवा जल का विशेष तेज या मुनिगणों के अधिष्ठान के कारण ही तीर्थ को पुण्य स्थान कहा गया है। प्रत्येक तीर्थस्थान भगवान अथवा महात्माओं की लीलाभूमि होती है। अतएव इस स्थान पर उनकी असाधारण शक्ति, ज्ञान अथवा भक्ति पुंजीकृत रहती है। वहाँ पहुँचते ही पुंजीकृत शक्तियाँ हमें अनुप्राणित करती हैं जिसके फलस्वरूप हमारी तत्ववृत्ति जाग्रत हो उठती है। लोग तीर्थ करने के लिये एक ही मनोवृत्ति को लेकर जाते हैं और फलस्वरूप समष्टि मनोवृतियाँ वहाँ पुंजीकृत ईच्छाशक्ति बन कर प्रादुर्भूत होती है जो तीर्थ वासीयों के हृदय को अनुप्राणित कर उसी रंग में रंग देती है। अतः अपने भावानुसार तीर्थवास या भ्रमण करने पर हृदय में भक्तिभाव जाग्रत होता है। विशेष कर तीर्थ भ्रमण करने का उद्देश्य लेकर नाना स्थानों का परिदर्शन करने पर हमारे मन में भगवान की विश्वसृष्टि के कौशल को बिचित्र घटनायें, नदी, उपसागर, सागर, पर्वत, उपत्यकायें, नाना प्रकार की पशु पक्षीयों से भरा हुआ जंगल, फूलों की बहार आदि को देख किसका हृदय भक्ति रस के नहीं भर उठता ? फिर तीर्थ भ्रमण करते समय अनेक साधु महात्माओं के संगलाभ से हम धन्य हो जाते हैं।

किन्तु यदि प्रेमभक्ति या गोपीभावनिष्ठ प्रेमरस को लाभ करना हो तो उसे मथुरामंडल में ही रहना होगा क्योंकि प्रेमभक्ति

का उत्ताल तरंग मथुरामंडल को छोड़ कर और कहीं नहीं उठता। पुराण में ब्रजभूमि मथुरामंडल के महात्म्य का विशेष वर्णन मिलता है। यथा—

श्रुता स्मृता कीर्तिता च वांछिता प्रेक्षिता गता।
स्पृष्टाश्रिता सेविता च मथुराभोष्टदा नृणाम्॥

—ब्रह्मांडपुराण

—श्रुत, स्मृत वांक्षित, दृष्ट, आश्रित तथा सेवित बनने पर मथुरा, मनुष्य के समस्त अभीष्ट को प्रदान करता है।

किसी आधुनिक भक्त ने इसीलिये कहा हैं—

झोली लेकर आँख बरसा कर कब भटकुँगा ब्रज किनारे।
कंठ कहे किस दिन मैं पिउँ भर करपुट जल जमुना प्यारे॥

परम आनन्दमयी प्रेमलक्षण की सिद्धि त्रिलोक में दूलभ है। किन्तु "परमानन्दमयी सिद्धिः मथुरास्पर्श मात्रतः"—अर्थात् मथुरा के स्पर्श मात्र से ही सिद्धि लाभ हो जातो है। इसीलिये श्रीश्रीगौरांगदेव ने व्रजवास को भक्ति लाभ करने का प्रधान साधन बतलाया है।

भक्ति के इन पाँच अंगों की साधना से ही सर्व अभिष्ट सिद्ध होते हैं। यहाँ तक कि यदि इनमें अल्प श्रद्धा भी रहे फिर भो मनुष्य परम श्रेय को लाभ करता हैं। यथा—

दुरूहाद्भुतवीर्येऽस्मिन् श्रद्धा दुरेऽस्तु पंचके।
यत्र स्वल्पोऽपि संम्वन्धः सद्धियां भावजन्मने॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु

—कठिन किन्तु अद्भुत वीर्यशाली यह साधनपंचक अर्थात्

सत्संग, कृष्णसेवा, भागवत, नाम तथा ब्रजवास—इन पाँचों से यदि श्रद्धा न रहकर, अल्पमात्र सम्बन्ध भी रहे तो भक्त के अन्तःकरण में अतिशिघ्र भाव का आविर्भाव होता है।

भाव के उदय होते ही प्रेम लाभ करने के लिये भाव की साधना करनी चाहिये।

———

पंच भावों की साधना

यदि किसी भावनाविषय में अनन्यबुद्धि होकर भक्त, हृदय में दृढ़ संस्कार के द्वारा जिसकी भावना करता है उसे भाव कहते हैं। अतएव भाव को भगवान ही समझना चाहिये। अतः 'भावरूपी जनार्दन'—एक प्रचलित साधारण बोली है। भगवान को लाभ करने के लिये उसी भाव का आश्रय ग्रहण करना चाहिये।

भाव पाँच प्रकार के हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा मधुर। शान्त आदि पाँच भाव प्रधानीभूता भक्ति के अन्तर्गत हैं और दास्य आदि चार भाव केवलाभक्ति के अन्तर्भूक्त हैं। भक्तों के भेदानुसार ये पाँच भाव क्रमानुसार श्रेष्ठ होते गये हैं। जिस प्रकार आकाश का पूर्वगुण, उत्तरगुण में पर्यवसित होता है, उसी प्रकार दास्य में शान्त, सख्य में शान्त और दास्य ; वात्सल्य में शान्त, दास्य तथा सख्य ; मधुर में शान्त, दास्य, सख्य तथा वात्सल्य का भाव वर्तमान रहता है।

गुण और स्वाद में क्रमाधिक बढ़ता प्रति रस ।
शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य सब मधुर में जाता वस ॥
आकाश गुण जैसे बढ़ता जाता भूतों में ।
एक से लेकर पाँच तक गुण पर्युसित होता पृथ्वी में ॥

—श्रीचैतन्यचरितामृत

फिर इन पाँच भावों के भिन्न भिन्न स्थायी भाव भी होते हैं। दास्य में शान्त का स्थायी भाव, सख्य में दास्य का स्थायी भाव, वात्सल्य में सख्य का स्थायी भाव तथा मधुर में ये चारों भाव पर्यवसित हुये हैं। लेकिन एक बात है। आकाश आदि भूत क्रमानुसार अन्य भूतों में अनुसृत होकर पंचभूत का यह जगत प्रपंच बना है और उसी से इस स्थूल शरीर की उत्पत्ति हुई है। जिस प्रकार आकाश आदि भूत, पंचभूतों की मिलावट से स्थूल शरीर की उत्पत्ति करती है, उसी प्रकार भाव भी क्रमशः अनुसृत होकर जीव के हृदय में मधुर रस बन कर विद्यमान रहता है। कविराज गोस्वामी कहते हैं—

परिपूर्ण कृष्णप्राप्ति इसी प्रेम से होय ।
प्रेमवश रहत कृष्ण, कहे भागवत सोय ॥

— श्रीचैतन्यचरितामृत

शान्तभाव

वक्षमान विभावों के द्वारा शमता सम्पन्न ऋषियों ने जिस शान्तरति का स्थायी आस्वादान किया है उसे पंडितगण शान्तभक्ति

रस या शान्तभाव कहते हैं। यथा—

वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः शमिनां स्वाद्यतां गतः।
स्थायी शान्तिरतिर्धीरैः शान्तभक्तिरसः स्मृतः ॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु

योगीगणों को प्रायः ब्रह्मानन्दरूप सुख का अनुभव हुआ करता है। किन्तु यह सुख अल्प मात्रा में होता है जबकि सच्चिदानन्दविग्रह स्फूर्तिरूप भगवत्सुख अधिक मात्रा में होता है। इस भगवत सुख का प्रधान कारण भी श्रीबिग्रह का साक्षातकार ही है अर्थात् आत्माराम मुनि केवल भगवान के साक्षातकार मात्र से ही कृतार्थ हो जाते हैं। लीला में दास की तरह उनकी रूचि नहीं होती। जहाँ न सुख है, न दुःख है, न द्वेष है और न मात्सर्य है—सब भूतों में केवल समभाव है, उसी को शान्तभाव कहते हैं। सनकादि ब्रह्मर्षिगण इसी शान्तभाव को प्राप्त हुये थे।

शान्तभाव में शान्तरति का भाव स्थायी होता है। शान्तरति दो प्रकार के होते हैं--समा तथा सान्द्रा। असंप्रज्ञात समाधि में यदि भगवान का साक्षातकार हो तो उसे समा कहते हैं। और अविद्या का ध्वंस होकर निर्विकल्प समाधि में भगवान का दर्शन मिलने पर भक्त के हृदय में जो आनन्द का अनुभव होता है, उसे सान्द्रा कहते हैं। शान्तभाव में प्रलय अतिरिक्त दूसरे सात्विक भाव के जलन का अनुभव तो होता है किन्तु उनका प्रकाश नहीं होता।

वैधी भक्तिमार्ग के भक्तों में यदि मुक्ति की इच्छा न रहे तो परिपक्क दशा में वे शान्तभाव को प्राप्त होते हैं। महात्मा शुकदेव

ने भगवान की कृपा से ज्ञान संस्कारों को घटा कर भक्तिरसानन्द में प्रवीण बने। उसी तरह यदि किसी पर भगवान की कृपा दृष्टि पड़े तो यदि वह ज्ञाननिष्ठ है तो भी अन्त में वह शान्तभाव को प्राप्त होता है। भगवान में निष्ठाप्राप्त बुद्धि का नाम शम है। अतः शान्तभाव के बिना ईश्वर में बुद्धि की निष्ठा का होना असम्भव सा है। शान्तभाव केवला भक्ति के अन्तर्मुक्त नहीं है।

दास्यभाव

आकुल हृदय से भगवान की सेवा ही दास्यभाव की साधना है। दास्यभाव को शास्त्रों में प्रीति-भक्ति रस कहा गया है।

आत्मोचितैर्विभावाद्यैः प्रीतिरास्वादनीयताम्।
नीता चेतसि भक्तानां प्रीतिभक्तिरसो मतः ॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु

आत्मोचित विभाव के द्वारा ही भक्तों का हृदय प्रीति का आस्वादन करने के योग्य बनता है। इसी कारण इसको प्रीतिभक्तिरस कहते हैं। इसके अतिरिक्त दास्य भाव अनुग्रह के पात्र का दासत्व और उनके पालन करने के भावानुसार दो प्रकार के माने गये हैं—संभ्रमदास्य तथा गौरवदास्य। दास्याभिमानी व्यक्तियों का भगवान पर संभ्रमविशिष्ट प्रीति जागे और पुष्ट हो तो उसे संभ्रमदास्य कहेंगे। यदि 'मैं भगवान का पालतु हूँ'—इस प्रकार का अभिमान जागे और भगवद विषय का उत्तरोत्तर ज्ञानमय प्रीति पुष्ट हो तो उसे गौरवदास्य कहेंगे। यों कहिये कि हनुमान की तरह प्रभु मानने

वाले भगवान भजन कारो को संभ्रमदास्य तथा प्रदुम्नादि की तरह पिता का भाव अथवा रामप्रसाद की तरह माता भाव से भगवान को पुकारने वालों को गौरवदास्य कहते हैं।

दास्याभिमानी भक्तगण समझते हैं कि मैं उनका दास हूँ, मैं उनका विश्वासी भृत्य हूँ। उन्होंने मुझे इस संसार में कर्म करने के लिये भेजा है। यह विश्व उनका बड़ा ही आकांक्षित कर्मशाला है। सब उनका है और वे ही सबकुछ हैं। मैं तो उनका भृत्य हूँ और उनका दिया हुआ कार्य कर रहा हूँ। मैं इसे कर्त्तब्य मान कर नहीं कर रहा और न किये बिना रहा जाता है। इसी लिये कर्म में आकुल लालसा से कर रहा हूँ। यह दास्य-भाव ही निष्काम प्रेम है। हृदय से यदि उस जगद्रूपी जगन्नाथ की सेवा न किया जाये तो शिघ्र प्रेमलाभ नहीं होता।

प्रधानीभूता भक्तिमार्ग पर चलने से साधकगण, गौरवदास्यभाव तथा केवलाभक्तिमार्ग के साधक संभ्रमदास्यभाव को प्राप्त होते हैं।

सख्यभाव

सखा अथवा बन्धु के भाव से यदि भगवान का भजन करे तो उसे सख्यभाव कहते हैं। सख्यभाव को शास्त्र में प्रेमभक्तिरस कहा गया है—

स्थायी भावो विभावाद्यैः सख्यमात्मोचितैरिह।
नीतश्चित्ते सतां पुष्टिं रसः प्रेमानुदीर्यते॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु

आत्मोचित विभावों के द्वारा जब सतलोगों का चित्त स्थायी रूप से सख्यरस के द्वारा पुष्ट बन जाना है तब वह सख्यरस प्रेमभक्ति-रस कहलाती है। भगवान को सखा या बन्धु समझ कर उनकी प्रीति अथवा आनन्द-विधानार्थ अपने हृदय के आनन्दपूर्ण लालसा को सख्यभाव कहते हैं। प्रधानीभूता भक्तिमार्ग के भक्तगण, अर्जुन की तरह अथवा केवलाभक्तिमार्ग के साधक ब्रजवालाओं की तरह सख्यभाव को प्राप्त होते हैं। सख्यभाव की साधना से कामना दूर भागती हैं और आसक्ति की आग बुझ जाती है। सख्यभाव में सारा संसार ही सखा प्रतीत होता है। हम सब इस संसार में खेल खेलने आये हैं—राजा, प्रजा, साधु असाधु, स्वस्थ, अस्वस्थ सब खेल खेल रहे हैं और सर्वत्र खेल ही खेल है। उस खेल में विश्वेश्वर भी हमारे साथी हैं। विश्व उनकी मूर्ति है। अतएव विश्व के साथ बन्धुत्व, विश्व के साथ प्रेम—यहीं सख्यभाव है। सख्यभाव के भक्त, शान्तभाव के भक्तों की तरह भगवान को महिमान्वित अथवा दास्यभाव के भक्तों का तरह संभ्रम नहीं किया करते। वे भगवान को अपना हो जैसा समझते हैं और इसी कारण वे भगवान के कंधों पर चढ़ बैठते हैं। यहाँ तक कि वे उन्हें अपना जूठन तक खिलाने में संकुचित नहीं होते। ब्रजवाल भी श्रीकृष्ण को अपने सदृश्य समझते थे। श्रीकृष्ण के साथ वे खेलते थे, गायें चराते थे, उनके कंधों पर चढ़ बैठते थे और इस प्रकार वे आत्मविभोर हो जाया करते थे। यदि किसी कारणवश श्रीकृष्ण का ऐश्वर्यभाव प्रकाशित हो पड़ता तो वे उसे

'ठकुराई' कह कर विहँस दिया करते थे। किन्तु श्रीकृष्ण का म्लान मुख देखते ही रो पड़ते थे। उनके अदर्शन से उन्हें संसार शुन्य प्रतीत होने लगता।

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण साद्धं विजह्रुः कृतपुण्यपुंजाः॥

—श्रीमद्भागवत १०।१२।१०

जिसको विद्वान ब्रह्मसुखानुभूति में, भक्त सर्वाराध्य के रुप में, मायामिश्रित ब्यक्ति जिसको नरशिशु के रूप में पाते हैं, मायामुक्त गोपवालकों ने उसके साथ साधारण वालक की तरह क्रीड़ा की— यह निश्चित ही उनके संचित पुण्य का फल है इसमें विन्दुमात्र सन्देह नहीं है। न जाने कितने युग की साधना, आराधना के फलस्वरूप उनको यह सौभाग्य मिला होगा।

भगवान को सखा समझकर अपना जैसा ही सोचते हुये, भक्त भगवत सदृश्य गुणों का अधिकारी बन जाता है।

वात्सल्यभाव

जिस प्रकार माता-पिता हृदय से अपने संतान को प्यार करते हैं, उसी प्रकार भगवान से पूत्र जैसा प्रेम रखना ही वात्सल्य भाव है। शास्त्र में इसको वात्सल्यभक्तिरस कहते हैं—

विभावाद्यैस्तु वात्सल्यं स्थायिपुष्टिमुपागतः।
एष वत्सलनामात्र प्रोक्तो भक्तिरसो वुधैः॥

— भक्तिरसामृतसिन्धु

विभावों के द्वारा वात्सल्य की पुष्टि होकर वह स्थायी बनता है। इसी को पंडित वात्सल्यभक्तिरस कहते हैं। वात्सल्य भाव, निष्काम की पराकाष्ठा होती है। पिता-माता भला पूत्र से क्या याँचना करेगा ? सन्तान को सर्वस्व देकर भी माता-पिता की साध नहीं मिटती। माता पिता के निकट पूत्र सर्वदा हठकारिता ही करता है। माता पिता भी अपना सर्वस्व देकर सन्तान की लालन-पालन करता है किन्तु उनकी साध नहीं मिटती। सन्तान के लिये माता-पिता हजारों बार आत्मत्याग करते हैं। स्वयं उपवासी रह कर भी सन्तान का पेट भरते हैं। स्वयं फटे पूराने कपड़े पहन कर भी सन्तान के लिये नये कपड़े बनबाता है। स्वयं बीमार रहने पर भी सन्तान की मंगल कामना करता रहता है। वह सन्तान से न कोई आशा करता है और न कुछ आकांक्षा करता है; केवल सन्तान की मंगल कामना करता रहता है। सन्तान के गुणों की प्रशंसा सुनकर माता-पिता का हृदय पुलकित हो उठता है। संन्तान के सुख के लिये अपना प्राण देने में भी उसे आनन्द मिलता है। भगवान को इस तरह प्रेम करना ही वात्सल्यभाव है।

नन्द, यशोदा तथा मेनका का वात्सल्य भाव केवला भक्ति के अन्तर्गत है और देवकी वासुदेव का वात्सल्य भाव प्रधानीभूता भक्ति के अन्तर्गत है। वात्सल्य भाव में भक्त कहता है कि विश्वेश्वर मेरा पूत्र है—मेरा स्नेह-संन्तान है। मैं वात्सल्य भाव से ही उसकी आन्तरिक सेवा करूँगा, उसे स्नेह से प्रतिपालन

करने में सुख पाँउगा। इस प्रकार जीव और जगत को पूत्र की तरह सेवा कर वे कृतार्थ होते हैं। वात्सल्यभाव में भक्त आत्महारा हो जाता है।

मधुरभाव

पत्नी जिस प्रकार पति को, कान्ता अपने कान्त को प्रेम करता है, वही प्रेम यदि भगवान के प्रति हो तो उस प्रेम को मधुरभाव कहते हैं। यह भाव सब भावों से श्रेष्ठ है। यह विश्व का सर्वोच्च भाव है।

आत्मोचितैर्विभावाद्यैः पुष्टिं नीता सतां हृदि।
मधुराख्यो भवेद्भक्तिरसोऽसौ मधुरा रतिः॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु

आत्मोचित विभावों के द्वारा मधुरारति सत्लोगों के हृदय में पुष्ट होने पर मधुराख्य भक्तिरस कहलाती है। जो व्यक्ति वास्तव श्रृंगार रस को भगवान के मधुराख्य भक्तिरस के समान न समझ सके तो वह मधुरभाव के अयोग्य है। यही नहीं, यह भाव उसके लिये कठिन तथा रहस्यावृत प्रतीत होगा। उसका वर्णन क्रमशः यहां मिलेगा।

शास्त्र में राधिका, गोपी तथा रुक्मिणी आदि महिषीगणों के मधुर भाव को आदर्श माना गया है। मधुराख्य भावभक्ति दो

प्रकार के होते हैं—विप्रलंभ तथा संभोग। पंडितों ने विप्रलंभ को पूर्वराग, मान, प्रवास आदि कई भागों में बाँटा है। कान्ता और कान्त साथ मिल कर जो भोग करते हैं उसी को संभोग कहते हैं।

संभोग भी रति की प्रगाढ़ता के तारतम्य से साधारणी, समंजसा तथा समर्था—तीन भागों में वाँटी गई है। जो रति अत्यन्त प्रगाढ़ नहीं होती, प्रायः भगवान के दर्शन से उत्पन्न होती है और जो संभोग के निदान स्वरूप है, उसे साधारणी रति कहते हैं। प्रगाढ़ता के अभाव में इस रति के बीच संभोग की इच्छा प्रकट होती है। संभोग इच्छा के ह्रास होने पर रति भी ह्रास प्राप्त होती है। संभोग की इच्छा ही यहाँ रति की उत्पत्ति का हेतु बनती है—इसका नाम इसीलिये साधारणी दिया गया है। जहाँ पत्नि होने का अभिमान अधिक रहे और जो गुणों के श्रवण से उत्पन्न हो और उसमें कदाचित संभोग को इच्छा उत्पन्न होती हो, तो उस रति को समंजसा रति कहते हैं। फिर साधारणी और समंजसा से कुछ अधिक संभोग की इच्छा जिस रति में हो अर्थात् नायक तथा नायिका एक जैसा प्रतीत हो उसे समर्थारति कहते हैं।

कुब्जा, महिषी तथा ब्रजसुन्दरीयाँ भी साधारणी, समंजसा तथा समर्था के दृष्टिकोण से मणि, चिन्तामणि तथा कौस्तुभमणि तीन प्रकार के नाम से विभाजित हुये हैं। यों समझिये कि मणि जिस प्रकार अत्यन्त सुलभ नहीं, उसी प्रकार कुब्जा के बिना साधारणी रति भी सुलभ नहीं होती। चिन्तामणि सुदुर्लभ है तो कृष्ण महिषी

के बिना समजंसा रति अत्यन्त सुलभ नहीं होती। कौस्तुभ मणि जिस प्रकार संसार में अतीव दुर्लभ होता है क्योंकि श्रीकृष्ण के बिना वह अन्यत्र प्राप्त नहीं हो सकता, उसी प्रकार ब्रजललनाओं के बिना समर्थारति को प्राप्त करना कहीं संभव नहीं। सबसे आश्चर्य का विषय है कि भगवान को वश में लाने बाली विस्मय प्रकाशक विलास लहरी जो चमत्कारिणी श्री (शोभा) को प्रकाशित करती है। वह रति कभी भी संभोग की इच्छा से भिन्न नहीं हुआ करती। इसी लिये समर्थारति में केवल भगवत सुख ही एकमात्र काम्य होता है।

स्वस्वरूपात्तदीयाद्वा जातो यत्किंचिदन्वयात्।
समर्था सर्वविस्मारिगंधा सान्द्रतमा मता ॥

—उज्ज्वलनीलमणि

ललनानिष्ठ स्वरूप होने के कारण अथवा कृष्ण से सम्पर्कित शब्द मात्र से जिस समर्था रति की उत्पत्ति होती है, उसमें कुल, धर्म, धैर्य, लज्जा सभी विस्मृत हो जाते हैं। यह रति सान्द्रा भी होती है अर्थात् भाव के तारतम्य से उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। प्रतिकूल अवस्था आने पर भी जब समर्थारति विचलित नहीं होती तो उसे प्रेम कहते हैं। यथा —

सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे।
यद्भाववन्धनं युनोः स प्रेमा परिकीर्तितः ॥

—उज्ज्वलनीलमणि

युवक युवती के परस्पर का वह भावबन्धन जिसके ध्वंस होने का हेतु उपस्थित होने पर भी ध्वंस नहीं होता, उसे प्रेम कहते हैं।

यह प्रेम मनुष्य की प्रकृति में हलचल पैदा कर देती है। प्रेम मनुष्य के कण कण में संचारित होकर उसको पागल बना डालता है और वह अपनी प्रकृति को भूला बैठता है। सती नारी का प्रेम ही यथार्थ आत्मत्याग है। स्त्री अपने पति के प्रेम में मग्न होकर जलती हुई चिता में सो जाती है। प्रेम में वह अपने आप को भूल जाती है। पति की चिन्ता में मग्न होकर उसका हृदय भर उठता है। पत्नी अपना सर्वस्व देकर पति की पूजा करती है। उसका अपना जीवन-यौवन, रूप-रस, आहार-विहार, सब उसके स्वामी के लिये होता है। उसका हठ, अभिमान, धर्म-कर्म, सब अपने स्वामी के निमित्त होता है। हृदय से हृदय का, प्राण से प्राण का, शरीर से शरीर का, अणु से अणु का ऐसा निविड़ सम्पर्क और कहाँ मिलेगा? स्त्री स्वामी की छाया होती है। काया जिस कार्य को करता है, छाया भी वही करेगा। स्वामी के सुख में उसका सुख होता है। पल भर का विरह उसे अनन्त यातना देती है। झूठी अवहेलना भी प्राणों में प्रलय की आग लगा देती है। यदि बुलाने पर पति का उत्तर न मिले तो आँखें तरसने लगती हैं। पति को किसी से हास्य-परिहास करते देख ले तो अभिमान की आग में वह जल जाती है। क्षण मात्र के विरह में उसके लिये जगत शुन्य, अग्निमय प्रतीत होता है। 'तुम कहाँ'—की पुकार से हृदय रो पड़ता है। स्त्री जैसा प्रेम

यदि हम भगवान के प्रति उत्पन्न कर सकें तो निश्चय ही जीव उसको प्राप्त कर सकता है। अतएव भाव में मधुरभाव को ही श्रेष्ठ माना गया है।

मधुरभाव में प्रेम-प्रेमिका की एकात्मता सम्पादित होती है और इस प्रकार समाधि जैसी अवस्था स्वतः आ पड़ती है। क्रमशः समाधि की प्रगाढ़ता बढ़ने पर चित्त का विक्षेप दूर भाग कर त्रिगुणात्मिका बुद्धि का रजः तथा तमः आवरण प्रायः कट जाता है और सत्त्वगुण प्रवल आकार में आविर्भूत हो पड़ता है। क्रमशः यह स्थिति जितनी प्रगाढ़ होती जाती है, रजः तमः उतनी ही क्षीण हो पड़ते हैं और अन्त में उनका अस्तित्व तक उपलब्ध नहीं होता। अब सत्वगुण अत्यन्त उद्दीप्त होकर बुद्धि तथा आत्मा के विवेक ज्ञान को जगा देता है। अब ऐसा उपलब्ध होने लगता है कि जीव और बुद्धि अलग होते हैं। फिर बुद्धि और ईश्वर का संयोग ढीला हो पड़ता है। इस अवस्था के और दृढ़ हो जाने पर बुद्धि और पुरुष का संयोग भी टूट पड़ता है। जिस सत्वगुण ने एकसमय जीव को विवेक बुद्धि दिया था, वही सत्वगुण अब अभिभूत हो पड़ता है और गुण का बन्धन छिन्न हो पड़ता है। इस प्रकार प्रेमिक की एकाग्रता जितनी बढ़ती है, उतनी ही अन्य विषयवृत्ति में उसका चित्त निरूद्ध बनता है। ध्येय विषय के साथ मिलकर उसे अपना स्वरूप उपलब्ध होता है। फिर उपास्य, उपासना, उपासक अथवा प्रेम, प्रेमिक, प्रेमिका भिन्न नहीं प्रतीत होते। जीव अपने स्वरूप में प्रकाशमान हो उठता है। वह केवल उसी

अवस्था मात्र में ही अवस्थान करता है। इसीलिये मुक्ति को "कैवल्य" कहा गया है।

किन्तु सांसारिक प्रेम में यह भाव सम्यकरूप से साधित नहीं होता। हम जिसकी चिन्ता करते हैं चिन्तातरंग के निर्देशन से, हमें वही बनना पड़ेगा। भगवान तो शुद्ध तत्व हैं। अतएव यदि हम उसे मधुर भाव से चिन्ता करें तो हम स्वयं शुद्ध सत्व बन जायेंगे। सखा के समीप हमें सखा का भाव मिलता है। पिता के निकट पूत्र का हठ हम दिखला सकते हैं। बन्धु से बन्धु का भाव होता है। ये सभी हमारे बड़े अपने हैं किन्तु ईश्वर के साथ प्राण को जितना असंकोच होता है, उतना अन्य किसी से नहीं हो सकता। इसीलिये भक्त भगवान को मधुर भाव से भजते हैं।

इन पाँच भावानुरागी साधकों में प्रधानीभूता भक्ति मार्ग का भक्त सालोक्य आदि चतुर्विध मुक्ति को लाभ कर ऐश्वर्यसुख से परे की गति को प्राप्त करते हैं। वे भक्तांग साधना के अवलम्बन से सिद्धिलाभ कर सकते हैं। केवला भक्ति मार्ग के दास्य आदि चतुर्विध भावाश्रित भक्तों में सभी प्रेम भक्ति को लाभ कर प्रेम सेवा से परे को गति की लाभ करते हैं। दास्य आदि चतुर्विध भावों में भाव के सम्प्रसारन की योग्यता जहाँतक की होती है, वहाँ तक पहुँचने पर उसे प्रेम कहते हैं। फिर विनाश का हेतु रहने पर भी वह ध्वंस नहीं होता और भक्त परमपुरुष भगवान के अनन्त नित्यलीला-समुद्र में निमग्न रहता है।

ऐसा संभव है कि रागानुगा मार्ग की साधन भक्ति का आश्रय लेकर कोई सौभाग्यवान साधना किये बिना ही साधु अथवा शास्त्र के माध्यम से भगवान के असमोर्द्ध्व सौन्दर्य तथा प्रेमिक भक्तों का सर्वश्रेष्ठ भावादि के माधुर्य को श्रवण करते ही उसे प्राप्त करने के लिये उत्सुक हो पड़े। ब्रजभावलुब्ध भक्त जब यह समझ पाता है कि गुणमयी साधनभक्ति के द्वारा प्रेमभक्ति को लाभ किया नहीं जा सकता तो उसकी बुद्धि शास्त्र की युक्तियों के भरोसे बैठी नहीं रहती। फिर भक्त सुने सुनाये अथवा उचित अनुचित समस्त विषयों का परित्याग कर लोभनीय ब्रजभाव के लिये व्याकुल होकर प्रेमिकगुरु की कृपाभिक्षा करता है तथा भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण करता है। यदि सौभाग्य से किसी सिद्ध प्रेमिकगुरु का दर्शन मिल जाये तो भक्त सब धर्मों को परित्याग कर उनके श्रीचरणकमलमें आत्मनिवेदन करता है। यही स्थिति केवला भक्ति का प्रवर्तक होता है। गुरू, भक्त के भाव की प्रगाढ़ता तथा एकनिष्ठता को देख कर उसे साक्षात भगवान भजन प्रदान करते हैं। वह ज्ञानादिशुन्य निगुढ़ साधना प्रेममय स्वभाव प्राप्ति के लिये विशेष उपयोगी होता है। फिर भक्त श्रीगुरु को ही भगवान मान कर अपने भावानुसार उनका आश्रय ग्रहण करता है। अपने भावानुसार गुरु को वह प्रभु, पिता, माता, भाई, बन्धु, पूत्र अथवा स्वामी समझ कर उसकी सेवा करता है। श्रीगुरु पर यह स्वांभाविक अनुराग भाव साधना का एक प्रधान लक्षण है। ब्रजविहारी श्रीकृष्ण ने जिस प्रकार से प्रकटलीला में

ब्रजवासीयों के मन-प्राण को चुरा कर उन्हें अपना अनुरक्त बनाया था उसी प्रकार प्रेमिकशिरोमणि रागवर्त्मोद्देशी गुरु भी भाव लिप्सा युक्त शिष्य की चित्तवृत्ति पर अपना अधिकार जमा बैठते हैं। इसीलिये शिष्य वेद और लोकधर्म को छोड़ कर श्रीगुरु के चरणों पर आसक्त हो जाता है और सर्वदा अपने अन्दर श्रीगुरु की चरण चिन्ता में ही अपना समय व्यतीत करता रहता है। यथा—

कृष्णं स्मरन् जनंचास्य प्रेष्ठं निजसमीहितं।
तत्तत्कथारतश्चासौ कुर्याद्‌वासं ब्रजे सदा ॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु

श्रीगुरु भक्त और भगवान दोनो हैं। बाहर से वे तो भक्त दीखते हैं किन्तु अन्दर से भगवान होते हैं। इसीलिये भावाश्रित भक्त गुरु को भगवद बुद्धि से पूजते हैं। इस प्रकार की गुरू-चिन्ता से भक्त का मनोमय सिद्ध शरीर क्रमशः परिपुष्ट होता रहता है। जिस प्रकार तेल का कीड़ा निरन्तर भौंरे के चिन्तन में अपना रूप बदल कर भंवरा बन जाता है, उसी प्रकार भावाश्रित भक्त भी सर्वदा श्रीगुरु की स्वरूप चिन्तन करते करते प्रेमसेवा का उपयोगी मनोमय शरीर को लाभ करता है।

भावाश्रित भक्ति में प्रायः महिम ज्ञान नहीं हुआ करती। जिस प्रकार हमारे ब्रजवासी असंकोच चित्त से श्रीकृष्ण की सेवा किया करते थे उसी प्रकार भावाश्रित भक्त भी बिना किसी द्विधा के श्रीकृष्ण को प्रिय बन्धु मानकर श्रीगुरु की परिचर्या किया करते

हैं। प्रेम के अनुरोध से वे गुरु देवता के साथ खाने पीने अथवा सोने तक में भी संकोच नहीं करते।

भावाश्रित भक्तों की भगवत-सेवा दो प्रकार से संपादित होते हैं। एक वाह्य और दूसरा मानस। वे इसी शरीर में साधक बन कर ब्रजलोक में श्रीरूप सनातन की तरह इन्द्रियों की सहायता से श्रीगुरु की साक्षात सेवा किया करते हैं और मनोमय देह के माध्यम से इन्द्रियवृत्ति सभूहों के द्वारा सिद्ध बन कर ब्रजधाम में श्रीरूप मंजरो आदि के सद्दश्य श्रीकृष्ण की सेवा करते हैं। इस प्रकार के साधन-क्रम से भक्त के चित्त में रति जाग उठती है। फिर जब रति प्रगाढ़ बन कर प्रेमभक्ति में पर्यवसित होती है तो भक्त अपने भावमय नित्यदेह में नित्य भगवत संग को प्राप्त करता है।

भावाश्रित भक्त ज्ञान कर्म आदि भक्तिबाधक विषयों का परित्याग करता है तथापि समुदय ज्ञान-कर्म का फल उनके समक्ष स्वयं उपस्थित होता है और भक्तिदेवी दासी बन कर सब सिद्धियों के साथ उनकी सेवा करने के लिये प्रस्तुत रहतो हैं। किन्तु ब्रजभावलुब्ध भक्त उनकी उपेक्षा करता है। वह सर्बदा भगवान के माधुर्य सागर में निमग्न रहता है। उस माधुर्य के स्वाद का गंध भी मुक्ति सुख से लाखों गुण अधिक श्रेष्ठ होता है। इसीलिये क्षण मात्र के लिये भी उनका हृदय विषय में नहीं लगता। वह निरन्तर भगवान के अनिर्वचनीय प्रेम सागर में परमानन्द से तैरता रहता है।

इस प्रकार से जिसने एकाग्र हो कर भगवान की आराधना की हो तथा परम प्रेम से सर्वदा उसके असमोर्द्ध्व माधुर्य का आस्वादन किया हो उसे केवला भक्ति का सिद्ध भक्त कहा जाता है।

———

गोपीभाव तथा प्रेम-साधना

प्रेम सेवा की पूर्णतम आनन्द के आस्वादन के लिये केवला भक्तिमार्ग के दास्य आदि चतुर्विध भावों में मधुरभाव ही सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि मधुरभाव में ही चारों अन्य भाव पर्यवसित हुये हैं। इसीलिये तो किसी प्रेमिका ने भगवान से कहा है—

हे प्रेममय ! लेकर पति का रूप, दे दर्शन ।
मिट जाये सब आस, छूटे चंचल मनन ॥
माता बन कर मैं तेरा आहार जुटाउँ ।
फिर पिता और गुरु बन तुम्हें उपदेश सुनाउँ ॥
कन्या बन मैं हठ करूँ सर्वदा ।
मैं शिशु बन जाउँ, माता गोद बसे यदा ॥
सखी बन फिर कहुँ अकपट सारी बात ।
दासी बन कर सेवा करुँ तेरे चरण दिन रात ॥
पत्नी बन हे प्रेममय । करुँ तेरा आलिंगन ।
रहुँ अनन्त जीवन मिल कर मैं तेरे ही सन ॥

रस सारे आकर मिलते हैं मधुर रस में।
पूजन चाहुँ सदा मैं तुमको उसी रस में ।।

पाठक वृन्द ! आप निश्चित ही ताड़ गये होंगे कि मधुरभाव श्रेष्ठ क्यों है ? मधुर रस में सभी भावों का समावेश रहने के कारण उसमे प्रेम सेवा का पूर्णतम आनन्दस्वाद मिलता है। हनुमान दास्यभाव के आदर्श हैं तो श्रीदाम सख्यभाव के, नन्द-यशोदा वात्सल्यभाव के आदर्श हैं तो ब्रजगोपी तथा महिषीगण मधुरभाव के आदर्श। यह कामानुगा मधुर भाव दो भागों में विभक्त है—संभोगेच्छामयी तथा तद्भावेच्छामयी। जो रूक्मिणी आदि महिषीयों के भावानुगत हैं उनकी भक्ति संभोगेच्छामयी कहलाती है। यहाँ महिषीयों की तरह कुछ अंशों में उनके अन्दर स्वसुख की वांक्षा रह जाती है। उसके अलावा उनमें महिमज्ञान तथा लोकधर्म पालन की इच्छा का भाव रह जाता है। किन्तु जो लोक-वेद आदि सब धर्मों का परित्याग कर लौकिक तथा पारलौकिक सुखों को त्याग निष्काम भाव से परमप्रेममय स्वभाव का अनुसरण करता है तो उसे तद्भावेच्छामयी भक्ति कहते हैं। यही भक्ति ब्रजबासी श्रीराधा तथा गोपियों में नित्य विराज करती है। अतएव महिषीयों के भाव से साधारणी अथवा समंजसा रति उत्पन्न होती है, जहाँ गोपीयों के भाव से समर्थारति का उदय होता है—

आत्मेन्द्रियों की प्रीति इच्छा, कहते उसको काम।
कृष्णेन्द्रियों की प्रीति इच्छा, प्रेम उसका नाम ॥

अर्थ है काम का, केवल अपना ही संभोग।
पर कृष्ण सुख का सार है प्रेम का नियोग॥

—श्रीचैतन्यचरितामृत

अपने इन्द्रियों की परितृप्ति के लिये जो कार्य किया जाय उसे काम कहते हैं। ईश्वर की प्रीति के लिये जो कुछ किया जाय उसे प्रेम कहते हैं। समस्त कर्मों को यदि हम अपने संभोग के लिये प्रयोग न कर, उसे कृष्ण तात्पर्य के लिये प्रयोग कर सकें, तो समर्थारति का उदय होता है। प्रगाढ़ होने पर वही प्रेम कहलाता है। किन्तु महिषीयों में थोड़ी स्वसुख वाँक्षा रहने के कारण, वह समर्थारति में पर्यवसित नहीं होती। ब्रिशेषतः स्वामी-स्त्री के सम्पर्क में कुछ उँच नीच का भाव रह जाता है। वहाँ लोक-धर्म का भाव रहता है जिसके कारण उनमें उद्दामता अथवा उच्छ्वांस नहीं रहा करती। किन्तु गोपीभाव इसके सम्पूर्ण विपरीत है। वे अपने पति, पूत्र, घर, द्वार, ज्ञाति, कुल, वेद-विधि, धर्म-कर्म, लज्जा, मान आदि को त्याग, कूलटा-नारी की तरह भगवान में आसक्त रहे। कूलटा रमणी आपने गृह कर्मों को अत्यन्त निपुणता से करती है किन्तु उसका मन सर्वदा उपपति की चिन्ता में निमग्न रहता है। चैतन्यदेव ने कहा है—

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मसु।
तदेवास्वादयत्यन्तर्नबसंगरसायनम्॥

पर में आसक्त नारी गृहकार्यों में नियुक्त रहने पर भी जिस प्रकार नव-सहवासरस का आस्वादन करती रहती हैं, उसी

प्रकार विषय कर्मों में लिप्त रह कर भी हमें नवकिशोर श्रीकृष्ण के प्रेमरस का आस्वादन मन ही मन अनुभव करना चाहिये। इसीलिये भक्तिमार्ग में इस प्रकार की अविधिपूर्वक शास्त्राचार सामाजिक नियम आदि विच्छिन्न करने वाली परकिया भाव को ग्रहण किया गया है। अतः स्वकीया महिषीयों की संभोगेच्छामयी मधुरभाव से परकीया गोपीयों के तन्द्भावेच्छामयी मधुरभाव, गोपीकानिष्ठ भाव या यों कहिये कि गोपीभाव को ही श्रेष्ठ माना गया है। राधा तथा गोपीवृन्द गोपीभाव के आदर्श हैं। गोदावरी के तट पर राय रामानन्द जी ने श्रीगौरांगदेव से कहा—

इन सब में राधाप्रेम है साध्यशिरोमणि।
अनन्त शास्त्र ने जिसकी है महिमा वखानी॥

—श्रीचैतन्यचरितामृत

मधुरभाव में राधाप्रेम ही साध्यशिरोमणि माना गया है और इसीलिये गोपीभाव को श्रेष्ठ कहते हैं जो स्वामी, पूत्र, कुल, मान कुछ नहीं चाहता है, केवल कृष्ण को चाहता है।

कविराज गोस्वामी कहते हैं—

होता अदभुद गोपी का स्वभाव।
बुद्धि से परे है जिसका प्रभाव॥
जव करते गोपी, कृष्ण का दरसन।
होता सुख कोटीगुण, जाता सुखवांक्षा परसन॥
देख गोपी को, होता जितना कृष्ण आनन्द।
कोटिगुण अधिक उससे गोपी पाते परमानन्द॥

कुछ चाह नहीं उनको, न सुख का अनुरोध।
बढ़ता सुख उनका यदि होता कभी विरोध॥
इस विरोध का है केवल एक समाधान।
गोपीसुख होता कृष्ण-सुख में पर्यवसान॥

—श्रीचैतन्यचरितामृत

गोपीयों को कृष्ण दर्शन से सुख की कोई वांक्षा नहीं किन्तु कोटि गुण सुख का उदय स्वयं हो पड़ता है। यह एक भयानक अवस्था होती है। इस भाव को पांडित्य बुद्धि से अनुभव करना साध्यातीत है। इसीलिये गोपीभाव को लेकर लोग हास्य-विद्रुप किया करते हैं। गोपीयों को देख कर कृष्ण को जितना आनन्द होता है उससे कोटि गुण अधिक आनन्द गोपीयों को कृष्ण के दर्शन से होता है। किन्तु क्यों? इसलिये कि गोपीयों का सुख कृष्ण सुख में पर्यवसित हुआ है। गोपीथों को सुख इसलिये है कि कृष्ण सुखी हुये हैं। अर्थात् उनके लिये अपना कोई इन्द्रिय सुख नहीं, कृष्ण का सुख ही उनका सुख है। जिस सर्वभूत में कृष्ण विराजते हैं, उसका सुख ही गोपीयों का सुख है। वे आनन्दित इसलिये नहीं हैं कि उन्होंने कोई अच्छा कार्य किया है वल्कि इसलिये कि उनके कार्य ने भगवान को कितना सुख दिया है। अहा! यह कितना मधुर भाव है! इसीलिये गोपी श्रेष्ठ माना जाता है।

गोपीयों का अपना कुछ भी नहीं होता—उनका रूप-यौवन, शोभा-सौन्दर्य, लालसा-वासना सब उसी श्यामसुन्दर के लिये होता

है। गोपी कर्म करता है—सन्तान पालन करता है। गृह कार्य करता है, किन्तु उसका प्राण सर्वदा भगवान के प्रेमरस में डूबा हुआ रहता है। केवल उसी को चर्चा, उसी के कार्यों की आलोचना, उसी के नामगान से तुष्ट—जो भक्त इस प्रकार से साधना करता है, वह परममुक्त है। वह अपने को स्त्री के रूप में तथा परमपुरुष भगवान को पुरुष के रूप में कल्पना करता है और उसी भाव को चित्त पर अर्पण करता है, उसी के प्रेम में लीन रहता है। ऐसा करने पर निरविच्छिन्न तथा विशुद्ध आनन्द को लाभ किया जा सकता है।

उसी गोपीभावनिष्ठ मधुर रसात्मक भक्ति से ही मधुरा रति का उदय होता है। इस रति के उत्पन्न होते ही भक्त के विलास का सूत्रपात होता है। यथा—

मिथो हरेर्मृगाक्ष्याश्च संभोगस्यादिकारणम्।
मधुरापरपर्याया प्रियताख्योदिता रतिः॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु

मधुरा रति ही श्रीकृष्ण तथा उनकी प्रेयसीयों के संभोग का आदि कारण है। मधुरा रति जब गोपीयों की तरह सम्पूर्ण रूप से स्वसुखवासनाशुन्य बन जाती है तथा संभोग-वासना श्रीकृष्ण के संभोग-वांक्षा के साथ एक बन जाती है, तो उसे समर्था कहा जाता है। यही समर्थारति प्रेमविलास में क्रमशः परिपक्क होकर स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग तथा भाव में पर्यवसित होती है। फिर भाव जब उत्कृष्ट दशा को प्राप्त हो जाता है

तो उसे महाभाव कहते हैं। गोपीभावनिष्ठ समर्थारति का यही है—चरम विकाश। अतएव गोपीभावनिष्ठ समर्थारति जब प्रौढ़ महाभाव दशा को प्राप्त होती हैं तो वह प्रेम बन जाता है।

जिस अनुरक्ति में लेश मात्र भी कामगंध नहीं रह जाता, उसे प्रेम कहते हैं। यह भाव जहाँ भी रहे, वहीं प्रेम निवास करता है। इन्द्रियों की सुखइच्छा ही काम है। अतः आत्मेन्द्रियाँ सुखइच्छा से शुन्य हो जाने पर, जिस पर अनुरक्ति हो जाये, उसी से प्रेम हो जाता है। चुँकि मैं उससे प्रेम करता हूँ इसलिये उसका कर्म मुझे भाला है। यदि वह हमारे रूप से प्रेम करता है, तो मैं अपने रूप की उत्कर्षता को क्यों न बढ़ाउँ? वह फूल से प्रेम करता है इसीलिये तो मैं वन वन में घूम कर फूल तोड़ा करता हूँ—माला पिरोता हूँ। जैसे—

माला बन गई ज्वाला, आया न अब तक काला, हृदय में लागे शेल।
जा री सखी ! फेंक दे माला, समझ गई मैं करम का खेल॥

जिसके लिये मैंने यह माला पिरोया वह तो आया नहीं, अब यह माला किस काम की? यदि वही न आया, उसके गले में माला न लहराया, माला के सुवास से वह पुलकित न हुआ, तो व्यर्थ है मेरा माला पिरोना। उसका आनन्द ही तो मेरा आनन्द है। उसका सुख ही मेरा सुख है। यही प्रेम है। देश का उपकार, लोगों का उपकार, समाज का उपकार, धनी का उपकार, निर्धन का उपकार, सुन्दर का उपकार, कुत्सित का उपकार—

इस उपकार से उसे जो आनन्द मिला, उसी का प्रतिघात ही मेरा आनन्द है। यह तो व्यष्टि का आनन्द है किन्तु समष्टि का आनन्द है ईश्वरानन्द। भगवान की सेवा से, भगवान को सौन्दर्य का उपभोग करवाने में, भगवान को हृदय में बैठा कर, आनन्द का जो पूर्णतम भाव अनुभूत होता है, वही प्रेम है।

यदि भगवान के प्रति प्रेम जाग उठे तो फूल के खिलने में, मलय के प्रवाह में, कोयल की कूक में, भौंरों की गुंजन में, वही दीखाई पड़ता है। मेघ के गर्जन में, दामिनी के दमक में, अमावस के अँधेरे में, हताशा के दीर्घ निःश्वास में, दारिद्र के आकुल क्रन्दन में भी उसी की विभूति नजर आती है। इनलोगों की सेवा, उसी की सेवा प्रतीत होती है। प्रेम के उत्पन्न होने पर मनुष्य की समस्त वृतियाँ उसी का आश्रित हो पड़ता है। फिर भक्त तद्गतचित्त होकर बोल उठता है—मुझे ज्ञान नहीं चाहिये, शान्ति नहीं चाहिये, मुक्ति नहीं चाहिये, सालोक्य भी नहीं चाहिये, केबल तुम्हें चाहिये। तुम ही मेरे प्राण हो—मेरे विश्व-प्राण हो! आकर मेरे हृदय निंकुज में बैठो। एकबार कहो कि मैं 'तुम्हारा' हूँ!

मन की इस स्थिति को ही प्रेम कहते हैं। किन्तु अपने को क्षूद्र, हीन, सान्त तथा ईश्वर को विराट, विपुल, अनन्त समझने पर, वह हमसे दूर हो जाता है। उसके साथ हमारा प्रेम हो नहीं पाता। यदि उससे भक्त का एकात्मभाव, मान-अभिमान अथवा आदर आप्यायण का ओतप्रोत भाव न रहे, तो प्रेम नहीं

जागता। यशोदा का शासन, नन्द का सामान उठाना, गोपवालकों का जूठन खाना, अपने कंधों पर उन्हें उठाना तथा गोप बालकों का पैर पकड़ कर उनका मान भंजन करना आदि ब्रजभावलुब्ध भक्तों का परम आदर्श है। महिमज्ञान रहने पर ज्ञान संकुचित हो जाती है। भाव के अनुसार भगवान को अपना जैसा समझना अथवा अपने से छोटा न समझने पर प्रेम नहीं होता। अतएव प्रेम की साधना करनी है तो गोपीभाव का आदर्श लेना चाहिये। प्रेम की साधना ही श्रेष्ठ साधना है। प्रेम से भगवान आकृष्ट होते हैं। वह आकर्षण उसे स्थिर नहीं रहने देता। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य आदि भावों का मुल्य वह चाहे तो लौटा भी दे किन्तु गोपीप्रेम का मुल्य वह लौटा नहीं सकता। मैं केवल प्रेम करता हूँ—मैं तुम को ही जानता हूँ, इसमें कोई प्रार्थना नहीं रहती। और जहाँ प्रार्थना नहीं रहती वहाँ उसकी पूर्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव मुल्य किस बात की? मैं तुम्हें चाहता हूँ—यदि देना ही हैं तो अपने को दे दो। इसी लिये भगवान गोपीप्रेम के ऋणी हैं। *

किन्तु भगवान से प्रेम करना बड़ा ही कठिन है क्योंकि हमें सबकुछ भुलाना पड़ता है। धर्म-अधर्म, अच्छा-बुरा, जाति-कुल, सुख-दुख सबकुछ को बिसरा कर उसको आत्मसमर्पण करना पड़ता है। हमें त्यागना है ऐसा सोचने पर हम अच्छे-बुरे को त्याग नहीं

* इसी ऋण को परिशोध करने के लिये भगवान को 'गौरांग अवतार' लेना पड़ा—ऐसा भक्तसमाज कहा करते हैं।

सकते। अच्छे-बुरे का यदि ज्ञान भी अवशिष्ट रहे तो प्रेम असंभव है। अथार्थ प्रेम में वह ज्ञान जाता रहता है। शास्त्रकथन, लोक-वचन अथवा सामाजिक रीतिनीति को मान कर चलने पर प्रेम उन्पन्न ही नहीं होता। हमें वह करना है जिससे भगवान सुखी हों। विधि निषेध के मानने पर प्रेम पनप नहीं सकता। प्रेम-भक्ति तो उसके प्रति अनुरक्ति का ही विकाश है। अपने को भूल कर, धर्म-कर्म, जाति-कुल, मान, को बिसरा कर अपने वाँक्षित का अनुशरण करना ही प्रेम है। यही भाव गोपीयों में था और इसीलिये भगवान की आराधना मे गोपीभाव को ही श्रेष्ठ माना गया हैं।

प्रेमस्वभाव-लुब्ध साधक, गोपीभाव का अवलम्वन करता हैं और भगवान को अपना प्रेमास्पद मानकर अपने प्रेम निकूंज में प्रेम को पुष्प-शय्या पर उसे लेटा कर प्रेम-संगीत से प्रवुद्ध करता रहता हैं। किन्तु बाहर श्रीगुरू को भगवान समझ कर उन्हें अपना देह और मन समर्पण पूर्वक उनकी सेवा करता हैं अथवा पत्थर या पीतल की मूर्ति को तुलसी चन्दन से अपना प्रेमास्पद मानकर पूजता रहता हैं। प्रेमके संचार होने पर क्रमशः उनका अनन्त भाव, अनन्त मूर्ति, अनन्त वोर्य की धारणा को भावना में लाना संभव होता हैं। फिर जाकर उस नित्य सहचर, नित्य सखा, नित्य प्रेमास्पद का संधान मिलेगा, जिसको यह संसार रात दिन प्रेम-पाद्य की अर्घ से पूजता है—प्रकृतिरूपी राधा जिसके प्रेम कामना में सर्वत्यागी बनी, उदासीनी बनी, योगिनी

बनी। तब जाकर 'जहाँ भी दृष्टि पड़े, वहीं हरि झड़े' का भाव होगा। सब स्थानों में, सब बस्तुओं में, उसी प्रेमास्पद की प्रेममयी मूर्ति दीखाई पड़ेगी? आत्मदर्शी योगी की तरह प्रेमिक प्रति फल में, फुल में, पत्तों की मर्मर शब्दों में, पर्वत में, झरनों में, नदियों को कलकल तान में, मनुष्य में, अणु-परमाणुओं में, उसी सच्चिदानन्द का विकाश देखता है। वह श्यामसुन्दर के चिद्घन रूप को भूला नहीं पाता। वह जगत को, राधा को, साथ लेकर राधावल्लभ की उपासना करता है। भगवान प्रेममय हैं—वे प्रेम के इस आकर्षण को भूला नहीं पाते।

अतएव भाव अवलम्वन की साधनाओं में प्रेमसाध्य गोपीभाव की साधना ही श्रेष्ठ है। यह मानव मात्र की सम्पत्ति है—मानव जीवन का सार है। हमारा आकर्षण अन्य ओर न जाकर यदि भगवान के प्रति हो जाये तो मनुष्य को ज्वाला में दहकना न पड़े। फिर उसे ज्ञान हो जाता है कि वह कौन है और ईश्वर कौन है। जगत संसार क्या है। सन्तान सन्तति क्या है। लोहे का शृंखल क्या है अथवा कंचन का बंधन क्या है? फिर हृदय में भक्ति दृढ़ हो जाती है और अहैतुक प्रेम जाग उठता है। उसे दिव्यज्ञान हो जाता है। वह निश्चित रूप से समझ पाता है कि पूत्र, धन-दौलत, शरीर, सामग्री, मैं और मेरा, सब कुछ मिथ्या है। केवल वही सब कुछ है। केवल मात्र आदि-अन्तहीन, चराचर विश्वव्यापी विश्वेश्वर ही सत्य है। सत्य स्वरूप के सत्यज्ञान से असत्य दुर भाग जाता है तथा अचंचल आलो काधारमंडल के

मध्यवर्ती उस नित्य और लीलामय प्रेमास्पद पुरुष के असमोर्द्ध्व प्रेम माधुर्य में प्रेमिक अनन्त काल के लिये डूव जाता है। भगवान और भक्त, राधेश्याम के महारास के महामंच पर आनन्द से मत्त होकर, एक वन जाता है।

राधाकृष्ण और अचिंत्यभेदाभेद तत्व

गोपीभाव के द्वारा ईश्वर प्राप्ति को रागमार्ग कहते हैं। संध्यापूजा, नित्यपूजा, प्रार्थना, उपासना आदि विहित कर्म तथा जाति-कूल, लोक-धर्म, सुख-दुःख, मान-अभिमान, आचार-नियम, विधि-निषेध के समस्त बैधी मार्ग के अनुष्ठानों को गंगा जल में विसर्जन देकर जो केवल प्राण के अनुराग से आनन्दरस में मत्त होकर आकुल आकर्षण से आकृष्ट होकर ईश्वर की उपासना करता है, तो उसे राग मार्ग कहते हैं। इसी राग मार्ग की साधना को प्रवर्तन करने के निमित्त ब्रजलीला हुई। ब्रजगोपीयाँ इसी रागमार्ग की साधिका हैं। रागमार्ग की साधना के प्रचार हेतु द्वापर में कृष्ण अवतार हुआ। जब जिस धर्म के संस्थापन का प्रयोजन होता है तो उसके लिये एक पूर्ण आदर्श की आवश्यकता भी होती है। आदर्श के बिना मानव शिक्षालाभ नहीं करता। इसीलिये भगवान को योगमाया के सहारे शरीर धारण करना पड़ा और कृष्ण के रूप में लीला भी करनी पड़ी। इस ब्रजलीला की प्रधान सहायिका राधा बनी।

भक्ति तत्व में हम देख चुके हैं कि जो शक्ति जीव को सर्वदा अनन्त उन्नति के पथ पर पूर्ण मंगल और आनन्द के पथ पर आकर्षित करती है, वही कृष्ण है। जिसके द्वारा हम उसकी ओर तथा अनन्त आनन्द की ओर आकृष्ट होते हैं वही भक्ति है। यदि भक्ति गुणों के आवरण से आवृत रहे तो उनका स्वरूप उपलब्ध नहीं होता किन्तु आवरण के उन्मुक्त होते ही बादल में छपे हुये सूर्य की तरह, वह अपने स्वरूप में प्रकाशित हो कर प्रेम कहलाती है। यह प्रेम सच्चिदानन्द भगवान के ह्लादिनी शक्ति का विकाश मात्र है। भगवान की तीन शक्तियों हैं—

'ह्लादिनी सन्धिनी सम्वित्त्वय्येका सर्वसंश्रये'

—विष्णुपुराण

"ह्लादिनी, सन्धिनी तथा सम्बित्" ये तीनों शक्तियाँ भगवान के आश्रित हैं। उनमें ह्लादिनी प्रेमस्वरूपा है। उसे राधा कहा गया है—

हरति श्रीकृष्णमनः कृष्णाह्लादस्वरूपिणी।
अतो हरेत्यनेनैव राधिका परिकीर्तिता॥

— साधनतत्त्वसार

—श्रीकृष्ण के मन को जो हरण करे वही हरा है; कृष्णाह्लाद-स्वरुपिणी राधा को इसी नाम से पुकारा जाता है।

राध् धातु से राधा शब्द निकाला है। राध् धातु का अर्थ है— साधना, पूजा अथवा तुष्ट करना। जो साधना करे, पूजा करे, तोषण करे—वही राधा है और उस शक्ति को जो आकर्षण करता है—वही कृष्ण है। कृष् धातु से कृष्ण शब्द आया है।

कृष् धातु का अर्थ है—आकर्षण करना। अतः जो साधना-कारिणी शक्ति को सम्पूर्ण रूप से आकर्षण करे वही कृष्ण है। अतएव राधा और कृष्ण की आत्मा एक है। वे अग्नि तथा उसकी दाहिका शक्ति की तरह भेद रहते हुये भी, नित्यवर्तमान रहकर समग्र प्रापंचिक जीव समूहों के अन्दर और बाहर विराज कर रहे हैं। इसीलिये तो श्रीकृष्ण ने गोपीयों से कहा—

अहं हि सर्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं वहिः।
भौतिकानां यथा खं वा भूर्वायुर्ज्योतिरंगनाः॥

—श्रीमद्भागवत १०।८२।४५

—जिस प्रकार आकाश, वायु, तेज, जल और क्षिति—ये पंच महाभूत समुदय भौतिक पदार्थों के कार्य तथा कारण बन कर उनके बाहर और अन्दर वर्तमान हैं, उसी प्रकार मैं भी सब के भीतर और बाहर विराज करता हुँ। अतएव मुझसे विच्छेद का होना कदापि संभव नहीं।

राधा और कृष्ण एक ही आत्मा हैं। जीव को प्रेम तत्व का आस्वादन करवाने के लिये तथा शिक्षा प्रदान करने के लिये ब्रजधाम में उन्होंने शरीर धारण किये। यदि उस ब्रजलीला को समझना है तो सबसे पहले ब्रजलीला के अध्यातिमक भाव को हृदयंगम करना पड़ेगा। फिर हम उनके प्राकृत लीला को समझ पायेंगें।

जीव के साथ भगवान का सम्पर्क प्राकृत स्त्री-पुरुष जैसा ही होता है। इसीलिये योग के इस घनिष्ट सम्पर्क को हिन्दु

ऋषियों ने ब्रजलीला में राधाकृष्ण तत्व के रूप में प्रकाशित किया है। आत्मा जब संसार की कुटिलता तथा माया से मुक्त हो जाती है तो उसमें ब्रजभाव जाग्रत हो उठती है। तृणावर्त, अघासुर, वकासुर रूपी हिंसा कुटिलता के नाश न होने पर ब्रजभाव की प्राप्ति नहीं हो सकती। यहाँ प्रकृति, ब्रजेश्वरी बन गई है। आनन्द धाम वृन्दाबन में ब्रजेश्वरी का मिलन हुआ है। जब तक जीव का समस्त संसार वीज नष्ट नहीं होता, तब तक उसकी मुक्ति नहीं होती। सांख्य के मतानुसार प्रकृति पुरुष की घनिष्टता ही जगत संसार है। जगत से प्रकृति पुरुष घोर आसक्त है। उनका विच्छेद ही मुक्ति का सोपान है। राधा के शतवर्ष रूपी विच्छेद में, जीवात्मा के सौ साल की अनाशक्ति में ही मुक्ति है। सौ बर्ष के बाद राधा के साथ कृष्ण का मिलन होता है। उस मिलन में जीवात्मा को मोक्ष मिलता है। योग के समस्त निगुढ़ तत्वों को चुनचुन कर हिन्दुओंने अवयव कल्पना के मूर्तरूप में दर्शाया है।

योग में, जीवात्मा के साथ परमात्मा के संभव सभी प्रकार के रमण, उनके अनुभव तथा मिलन के समस्त स्तर, कृष्ण लीला में प्रकटित हैं। प्रजा पालन रूप गोचरण (गो =प्रजा) में कृष्ण, संसारधाम रूपी गोष्ठ में क्रीड़ा करते हैं। आनन्दधाम नन्दालय में कृष्ण पितापूत्र के सम्पर्क का खेल खेलते हैं। माता-पिता का वात्सल्य भक्ति से भी अधिक प्रगाढ़ होता है। हिन्दुओं का देवानुराग कितना प्रवल रहा होगा, उसका अनुमान नन्द-यशोदा के वात्सल्य प्रेम से लगाया जा सकता है। हिन्दु अपने देवता को मक्खन-

मिसरी खिलाता है, हृदय का उत्कृष्ट उपहार—भक्ति के पुष्प चन्दन से चर्चित कर उसका अर्चना करता है। वह यशोदा-नन्द की तरह स्नेह रज्जुओं से कृष्ण को बाँधना चाहता है।

किन्तु उस स्नेह से भी उत्कृष्ट वस्तु संभवतः राधा का कृष्णानुराग है। हिन्दूओं का देवानुराग क्रमशः स्फुरित होकर वात्सल्य भाव से भी अधिक प्रगाढ़ बना और वह राधाप्रेम बन गया। पति पत्नि के सम्पर्क में भी सामान्य दुरत्वका भाव रह जाता है। पत्नी पति को अत्यन्त निकट से देखती तो है किन्तु उच्च भाव लेकर देखती है। केवल वे ललनायें जो परपुरुष की अनुरागी होती हैं, उनके प्रेम में प्रभुता का भाव नहीं रहता। वही प्रेम राधा का है। यदि यह संसार अयान है, (अयान घोष थे राधा के पति) तो धर्मद्वेषी व्यक्तिगण जटिला-कुटिला (राधा की ननद) हैं। उनसे छिप कर राधा कृष्ण से गुप्त प्रेम करती है। उनके साथ क्षण भर के लिये मिलन को लालायित रहती है। मिलन होने पर वह आनन्द सागर में तैरने लगती है। योगी के क्षणिक मिलन के आनन्द से भी अधिक आनन्द राधा को मिलता है। कृष्णप्रेम के अनुराग में राधा इस प्रकार पागल रहा करती है। यह मिलन पति पत्नि के मिलन से भी प्रगाढ़ है। यह प्रेम स्त्री-पुरूप का गुप्त घनिष्ट अनुराग जैसा है। यही अनुराग हिन्दु योगीयों का ईश्वरानुराग है। योग तत्व में इस अनुराग की क्रमस्फूर्ति अनुभव का विषय है। इस क्रमस्फूर्त्ति का वाह्य विकाश ही ब्रजलीला है।

द्वापर के अन्त में जीव का कंठ, जब कर्म और ज्ञान की कर्कश साधना से सूख कर, भगवान की कृपावारि की आशा में तड़पने लगा, जब वासना से विदग्ध होकर जीव आनन्द की खोज में भटकने लगा, तो ईश्वर ने मनुष्य के स्तर को उपर उठाने के लिये—परमानन्द प्रदान करने के लिये, उसके प्यासे कंठ में मधुर प्रेमरस की पूर्ण धारा को ढालने के लिये, अपनी ह्लादिनी शक्ति के साथ राधाकृष्ण का रूप लेकर ब्रजधाम में अवतीर्ण हुये। जगत में प्रेमभाव ही मुख्य है। उसी प्रेम को बाँटने के लिये, प्रेम की शिक्षा देने के लिये, प्रेम में संसार को जगाने के लिये ही भगवान ने अपनी ह्लादिनी शक्ति के साथ बृन्दावन में माधुर्य की रास लीला को रचाया। कृष्ण अवतार का उद्देश्य, अपूर्ण मानव को प्रेम का आस्वादन देकर, भगवान के क्षरित प्रेम-सुधा का दान देकर निवृत्ति के पथ पर ले जाना है। मनुष्य आदर्श के बिना एक पैर भी अग्रसर नहीं हो सकता। क्या अपूर्ण जीव कभी पूर्णानन्द की प्रतिष्ठा कर सकता है? गुणावृत गुणमय जीव क्या निर्गुण प्रेम का आदर्श बन सकता है? इस अपूर्ण जगत में उनके सिवा पूर्ण कौन है? इसीलिये तो भगवान युग युग में अवतीर्ण होकर धर्म संस्थापन किया करते है।

अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रितः।
भजते तादृशीः क्रीड़ा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥

—श्रीमद्भागवत १०म स्कंध

—भगवान भक्तों के प्रति अनुग्रह पूर्वक मनुष्य शरीर का आश्रय

लेकर वैसी लीला करते हैं जिसको सुनकर भक्त अथवा मनुष्य वैसा कर सके।

ब्रजलीला वैसी ही लीला है। उस प्रेमलीला की प्राण राधा है। राधा का चित्त, इन्द्रिय, देह आदि सर्वस्व कृष्ण प्रेम में डूबा हुआ है। राधा स्वयं कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति अथवा रसक्रीड़ा की सहायिका है। स्नेह आदि आठ वृत्तियों को सखी का रूप देकर वह ब्रजधाम में अवतीर्ण हुई। अतः गोपीभाव-साधना में राधा प्रधान आदर्श है।

वृन्दावन प्राकृत जगत की अप्राकृत भूमि है। वहाँ सख्य आदि प्रेमसाध्य भावसकल मूर्तिमान बन कर विराज कर रही है। हिन्दुमात्र जानता है कि ब्रजलीला में इन भावों का स्फुरण किस प्रकार से हुआ है। इन भावों का चित्र खींच कर मैं समय नष्ट करना नहीं चाहता। मैं रसिक शिरोमणि चंडीदास की पदावलीयों के माध्यम से राधा के प्रेम विलास का संक्षिप्त चित्रण करने की चेष्टा करुँगा। विप्रलंभ भाव में आरूढ़ रहने के कारण, संभोगस्फूर्ति आदि प्रेम विलास ही विवर्तवाद है। विवर्त विलास में प्रेमिका के आठ भाव होते हैं—अभिसार, बासरशय्या, उत्कंठा, खंडन, विप्रलंभ, कलहान्तरिका, प्रोषितभर्तृका तथा स्वाधीनभर्तृका। राधाप्रेम में सब प्रकार की अवस्था का पूर्ण रूप से विकाश हुआ है।

श्रीमती राधा जब कुलवधु बन कर अयान के घर में रहती है तो वह धर्म कर्म, साधन-भजन, कुछ नहीं करती। यहाँ तक कि

श्रीकृष्ण को उसने देखा तक नहीं। हठात् सखी आकर उससे श्रीकृष्ण की चर्चा करती है और राधा का हृदय उद्वेलित हो उठता है। अपनी मृणाल बाहों को सखी के गले के डाल कर राधा बोल उठती है—

अरी सखी, किसने सुनाई मुझे श्याम नाम।
कान के द्वारा अन्तर जाकर, आकुल करे प्राण॥

राधा ने तो कृष्ण का नाम पहले कभी नहीं सुना था, उन्हें कभी नहीं देखा था, केवल सखी के द्वारा कृष्ण नाम के सुनते ही उसमें भाव जाग उठा।

नाम से जिसको ऐसा होता, अंग लगे क्या होय !

नांम सुनते ही राधा अंग-स्पर्शसुख के लिये व्याकुल हो पड़ी। रागानुगा भक्ति का प्रधान लक्षण यही है। ततपश्चात् सखीयों के साथ यमुना में जल लाने, फुलवारी से फुल तोड़ने आदि नाना प्रकार का बहाना बना कर राधा, कृष्ण को देखा करती। इस प्रकार उसकी स्पर्श लालसा बढ़ती गई। श्रीकृष्ण भी राधा को देख कर उससे मिलने के लिये व्याकुल होने लगे। वे कटाक्ष और मुस्कान के माध्यम से एक दूसरे के प्रति अनुराग को प्रकाश करने लगे। क्रमशः दूत प्रेरण चलने लगा। फिर श्रीकृष्ण भेष बदल कर, बहाना ढूंठ कर, एक दूसरे के अंगस्पर्शसुख को भोगने लगे।

अब दोनों अधैर्य हो पड़े। मिले बिना दोनों को चैन नहीं। मिलन का संकेत और स्थान निर्दिष्ट हुआ। कृष्ण की बाँसुरी का संकेत मिलते ही राधा निर्दिष्ट स्थान पर चली आयेगी। पहली

मिलन कि रात—श्रीकृष्ण ने सखीयों के कपड़े चुरा कर उनके प्रेमानुराग की परीक्षा ली और अधिक रात गये जब धरती चाँदनी में स्नान कर रहो थी और लोग नींद में डूबे हुये थे, राधा अपनी प्रिय सखीयों के साथ वन में पहुँची और श्रीकृष्ण के साथ रास क्रीड़ा में लिप्त हुई। श्रीकृष्ण ने राधा को जाति, कुल, धर्म की याद दिलाई ओर उसे बहुत समझाया किन्तु राधा अपने संकल्प से न हटी। फिर उनका मिलन हुआ। उसी दिन से हर रात को राधा, कुंज में नायिका का वेश बना कर शय्या तथा बनफूलों की माला पिरो कर कृष्ण के आगमन की प्रतिक्षा में बिताती। उनका भाव कैसा था ?—

अब तक किये थी कान खड़ी, प्रीतम आये कब।
बीती रात, हुआ सवेरा चौंकी राई अब ॥
(इसलिये कि प्रीतम नहीं आये)
सुन कर पत्तों पर शिशिर टपकते, सखी से बोली राई।
देख निकल कहीं आये प्रीतम, आहट सी लगती भाई ॥
आये न प्रीतम पुनः कहे, राधा हृदय में लागा शेल।
पोंछ दे ताम्बुल राग, मिटा दे नयन के काजल का खेल ॥

राधा सारी रात कृष्ण की प्रतिक्षा में जाग कर बैठी हुई है। वह अपनी सारी अस्तित्व को भूला कर, समस्त बृतियों को प्रणय-भाजन का आश्रित बना कर, वाह्य ज्ञान को भूला बैठी है। जब प्रेम की बाढ़ आती है, तो वह ज्ञान की रेत को इसी प्रकार भसा कर ले जाती है। अपनी समस्त बृत्तियों को एककेन्द्रिक बना कर

प्रेमिका प्रीतम की प्रतिक्षा में बाट जोह रही है। रात बीत गई, प्रभात हुआ—उसके आने का समय तो उत्तीर्ण हो गया है। पर वह मन को कैसे समझाये ? पत्तों का मर्मर शब्द उसके लिये प्रीतम के पैरों की आहट जैसी लगती है। वह सखी को अनुरोध करती है—सखी! बाहर देख तो सही, प्रीतम आये क्या ? यह शब्द तो उनके पैरों की आहट लगती है। किन्तु दूसरे ही क्षण, उसकी आशा निराशा में बदल जाती है। हताशा का दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुये वह बोलती है—नहीं, प्रीतम तो नहीं आये। आने के लिये उनके पास समय कहाँ ? आने के लिये मन चाहेगा तब तो! मेरा साज शृगांर तो उसी के उपभोग के लिये, उसी के सुख के लिये था। प्रीतम ही नहीं आये तो फिर ये किस काम के! इन्हें नष्ट कर डालो ना!

धीरे धीरे राधा की गुप्त प्रणय कथा प्रकाशित हो पड़ी। पति, सास, ननद, सभी राधा को नाना प्रकार से यातना देने लगे। राधा 'कलंकिनी' कहलाने लगी। पड़ोस की औरतें उसे देखते ही वाक्यवाण से जर्जर कर देतीं। राधा श्याम के प्रेम में विभोर रहकर सब कुछ अक्लेश से सहन कर लेती। किन्तु श्याम की निन्दा यदि कोई कर दे तो वह अधीर हो उठतीं। कोई यदि कहे कि श्याम का रंग काला है, उसका शरीर बाँका है अथवा वह कपटी है—वह राधा से प्रेम करने के अयोग्य है तो राधा उनसे कहती कि तुम लोग उस श्याम रूप को मेरी आँखों से क्यों नहीं देखते ? परन्तु अत्याचार, उत्पीड़न, निन्दा अथवा

कलंक से राधा का कृष्ण अनुराग घटने के बदले बढ़ता गया। विनाश का कारण रहने पर भी, प्रेम कभी विनष्ट नहीं होता। क्रमशः राधा के लिये संसार का सबकुछ कृष्णमय दीखाई पड़ने लगा। मेघ अथवा तमाल वृक्ष पर दृष्टि पड़ते ही उसे कृष्ण समझ कर वह मिलने के लिये व्याकुल हो पड़ती। हृदय द्रवित होकर आँखों से सावन बह निकलता। बड़े बुढ़ों से छिपाने के लिये वह चुल्हे में भींगो लकड़ी डाल कर धुँये का बहाना बना कर, रोया करती। फिर लज्जा और भय भी दूर हो गया। अब राधा को न दूसरी कोई चिन्ता रही और न किसी भी बस्तु के प्रति आकर्षण।

न जाने कैसी राधा की है अर्न्तव्यथा।
बैठ अकेले अपने पन में न सुने कोई कथा॥
लगा कर ध्यान बादल श्याम स्थिर है नयन तारा।
भूख न प्यास पहन लाल वास मानो योगन प्यारा॥
अपनी ही अलसाई वेणी से देख कर गिरता हुआ फूल।
विहँस कर लखती जलद को, हाथ उठा कहती कुछ, सब भूल॥
लगा कर एक दृष्टि मयुर मयुरी का कंठ ललचान।
कहत चंडीदास श्याम से उसकी केवल यह नव पहचान॥

राधा क्रमशः योगन—उदासन बन गई। कृष्ण की याद आते ही वह मूर्छित हो पड़ती।

काला रंग पीत वसन याद जो मन में होय।
मूर्छित होती रोती फिरती पूछ सखीजन सोय॥

राधा अब योगन ही नहीं उन्मादनी—पागलनी बन गई ।

तरुण मुरली पागल कर दी छोड़ चले घर बार ।
विदा तो कर दी सबने, जाने प्रीतम क्या करे हमार ॥

राधिका प्रेम में विलखने लगी—न उसको पूर्वराग में सुख है, न प्रेम में और न मिलन ही में । मिलन में भी उसको आशंका है—यातना है—

'बैठ गोद एक दूसरे के रोता विरह को सोच'

मिलन में भी राधा को देहवोध नहीं—न उसमें प्रिय संभोग रसस्वाद ही है—

काल बीता मन्दिर नीता गोद श्याम के बैठ सुन्दरी ।
पर न हुआ उन दोनों का स्पर्श मर्म की यह कन्दरी ॥

राधा के प्रेम में केवल आकुलता है—केवल मर्मज्वाला है ।

एक कुलवन्ती फिर अवला नारी ।
कठीन प्रेम ने कितनी ज्वाला डारी ॥
अवर्णनीय व्याधि यह कहत न झरे ।
कृष्ण नाम जो करे, पाँव उसका धरे ॥
रोवे पाँव पकड़, चिकुर हटि हटि जाये ।
सोने का सा पुतला धूल में जा लुटाये ॥

जिस तरह अग्न्येयगिरि द्रवित ज्वाला प्रसव करती है, उसी प्रकार श्रीराधिका का हृदय भी पूर्वराग, मिलन संभोग के रसोद्गार से सर्वदा एक अनिर्वचनीय अविच्छन्न सर्वग्रासनी ज्वाला उद्गीरण कर रहा है । उसे सुख में कष्ट, कष्ट में सुख, प्रेम में व्यथा,

व्यथा में प्रेम हो रहा है। प्रीत की रीति ही कुछ ऐसी होती है।

'सुख के कारण प्रेम करे तो दुःख उसी का होय !'

राधा ने तो दुःख से प्रीत लगाई है। इसीलिये तो कहते है—

'घाव से भरा हृदय और प्राणों में ज्वाला।'

जिस प्रकार ज्वालामुखी से भरे हिमालय से पवित्र मन्दाकिनी का सलिल प्रवाहित होकर जगत के जीव को पवित्र तथा शीतल करती है, उसी प्रकार राधा की प्रेम ज्वालामुखी से सैंकड़ों भाव-प्रवाह निकल कर भक्त के हृदय को पवित्र और कृतार्थ करती है।

यदि प्रतिद्वन्दी न रहे, तो प्रेम का चरम विकाश नहीं होता। इसीलिये कृष्णप्रेम में चन्द्रावती, राधा की प्रतिवादिनी है। राधा अभिसार को चली है। वह उत्कंठा से श्रीकृष्ण के आगमन की प्रतिक्षा कर रही है। उद्वेलित हृदय लेकर सारी रात बीत गई। कृष्ण आये, किन्तु भोर के समय। संभवतः किसी अन्य नायिका के पास से कृष्ण आये हैं—ऐसा सोचकर श्रीमती ने क्रोध, दुःख, अभिमान से अपनी मुँह फेर ली। एक बार आँख उठाकर भी उसने अपने प्रीतम को नहीं देखा। कृष्ण ने अपना दोष स्वीकार कर लिया, राधा के पाँव पड़े, क्षमा भी माँगी, किन्तु राधा को दया न आयी। जिस प्रीतम के दर्शन की आकांक्षा में हृदय की समस्त वृत्तियों को एककेन्द्रिक किया, रात भर जागती भी रही, उसी प्रीतम ने जब आकर आकुल क्रन्दन के साथ मानभिक्षा माँगी,

तो राधा ने सखीयों से श्याम को कुंज से बाहर निकाल देने को कहा। परन्तु श्याम के जाते ही 'प्रीतम' 'प्रीतम' की रट लगाती हुई मुर्च्छित ही पड़ी। सखीयों ने बड़े कष्ट से उनके चैतन्य को लौटाया। चैतन्य के होते ही कहने लगी—

जप तप करत दिनरात, कान्हा न आये पास।
सोई अमुल्य धन पैर पड़ली, क्रोध भगाई तास॥

राधा सिर पीट पीट कर रोने लगी। सखीयों ने फिर श्याम को लाकर राधा से मिलवाया। अब सब दुःख भूल कर राधा पुनः प्रेम सागर में तैरने लगी। श्याम के गोद में सिर रख कर आँखों में आँसू भर कर राधा ने क्षमा माँगी और बोली—हे प्रीतम! मैं तो क्रोध भी करती हूँ तो तुम्हारे ही बल पर। मैं अवोध ग्वालवाला तुम्हारी मर्यादा को भला क्या समझ सकुगीँ? तुमने मुझसे प्रेम जता कर मेरी ही मर्यादा को बढ़ाया है। मेरा क्या मुल्य है? तुम्हारे गर्व से मैं गर्विनी हूँ, तुम्हारे मान से ही मेरा मान है।

'मेरे गर्व का कारण तुम, राधा की सुन्दरता तुम।'

इस प्रकार नित्य नये प्रेम में, सुख में, आनन्द में, राधा का दिन बीत रहा था। सहसा अक्रूर आकर श्रीकृष्ण को मथुरा ले गये। कह तो गये थे कि लौट आयेगें किन्तु लौटे नहीं। राधा के लिये वृन्दावन श्मशान बन गया। सखीयों के साथ राधा जिवन्मृत बन गई। अधिकांश समय वह श्याम प्रेम भाव में विभोर रहा करती। उस समाधि भाव तथा स्वप्नावस्था में वह श्याम संग-सुख

को अनुभव किया करती। फिर चेतना के संचार होते ही, प्रीतम, प्रीतम, शव्दों के मर्मभेदी क्रन्दन से दिगन्त को आकुलित कर देती। उस आकुल क्रन्दन से पशु-पक्षी, बृक्षलता तक स्तम्भित हो जाते। फिर धैर्य धरते ही सखीयों के साथ श्यामप्रसंग चलाती। उस स्थिति को प्रीतम भक्त श्रीमत् कृष्णकमल गोस्वामी विरचित दोहे के माध्यम से ही हम अनुमान कर सकते हैं।

यमुना के तोर, कृष्ण वियोगिनो उन्मादिनी राधा, ललिता सखी के गले में बाँहे डाल कर बोली, "हाय सखी, यह मैंने क्या किया? मेरे उस अमुल्य निधि को मैंने तो अपनी आँचल में हो बाँध रखा था। मैं कितना अभागिन हूँ कि पाये उस निधि को मैनें खो दिया। सखी! कितना दुःख उठा कर उस निधि को मैंने पाया था। दुख के सागर को उछाल कर मैंने उस निधि को प्राप्त किया था। आज मुझे फिर से नव अनुराग के दिन याद आ रहे हैं।

सखी! हृदय में जब जागा नव अनुराग,
चिन्ह लगा मैं विचारी आगे पाछे का काम।
(जो सब है करना, प्रीतम कारण जान)
करी चरवाहों से प्रेम भटकन लागा बनबन,
भुजंग कंटक पथ थाम॥
(सखी! जाना पड़ेगा बाँसुरी में सुन राधा तान)

सखी! जब कान्हा के नव अनुराग ने मेरे निर्मल हृदय पर चिन्ह लगाया, तो मैं मन में विचार करने लगी कि मुझे प्रीतम के लिये

क्या सब करना है। जो कुछ मुझे करना पड़ेगा, उसे मैंने पहले से ही स्थिर कर लिया। सखी! मैंने तो श्याम से सुख के कारण प्रेम नहीं किया। यदि सुख ही मेरा उद्येश्य होता तो मैं चरवाहों से प्रीत क्यों बढ़ाती? जिस दिन से मैंने कान्हा से प्रेम किया है, उसी दिन से दुःख मेरे माथे की बिंदिया बन गई है। मैं ताड़ गई थी कि चरवाहों से प्रेम करना होगा और बन जंगलों में भटकना पड़ेगा। मैं जानती थी कि चलते हुये, काँटो से भरे बन में, भीषण भूजंगों के बीच अँधेरी रात में चलते समय उसके मस्तक पर मेरे पैर पड़ेगें, पंकिल पथ पर मेरे पाँव भटकेंगे। मैं यह भी जानती थी कि बाँसुरी बजते ही मुझे उसके पास जाना पड़ेगा। यही समझ कर मैं—

'अंगना डारी जल, बना उसे अति पिच्छल, चलता फिरता उस पर मैं।'

(सखी! प्रीतम के कारण मुझे तो पिच्छल पथ पर चलना ही होगा) सखी! बरसात की अँधेरी रात में जब मुसलाधार पानी बरसेगा, जब भीषण झंझावातों से यमुना के हृदय में प्रवल तरंग उठेगा, निविड़ अंधकार में विजली की विकट मुसकान के सिवा जब अन्य कोइ आलोक-किरण दीखाई नहीं पड़ेगा, वज्र के भयंकर गर्जन से जब पृथ्वी काँप रही होगी,—यदि ऐसे दुर्योग की रात को भी बन में मेरा नाम लेकर बाँसुरी बज उठेगी, तो क्या मैं घर में रह सकुँगी? उस घनघोर रजनी में भी अपने निरापद गृहाश्रय को छोड़ कर मुझे प्रीतम के बुलाये पथ पर ही चलना होगा—यह मैं तय कर चुकी थी। इसीलिये तो आँगन में पानी डाल, उसको पिच्छल

बना कर मैंने पिच्छल पथ पर चलने का अभ्यास किया जिससे अंधेरी रात में भी बर्षा के पिच्छल पथ पर चलते समय मैं फिसल न जाऊँ।

रात अँधेरो बीच डगर विछा कंटक, चलना उस पर सीखा।
(होगा भटकना मुझे जाने, किस कंटक कानन बोच)
बूला विषबैद्य, बैठ निर्जन ठाम, तन्त्र मन्त्र कितना दीखा॥
(न जाने कब भुजंग, डसले कानन बीच)

सखी! मेरे कृष्णप्रेम के न जाने कितने शत्रु हैं। जब मैं प्रीतम के उद्देश्य को चलता हूँ तो वे पथ भुजंग का रूप लेकर डसने के लिये तैयार बैठे रहते हैं। जाने किस बहाने वे मुझे काट खायें और मेरा अंग विष से जर्जर होकर अचल हो पड़े, फिर प्राणनाथ के आह्वान पर मैं कैसे पहुँच पाऊँगा? यही सोच कर मैंने विषवैद्यगणों को निर्जन में बुला कर कितने तन्त्र मन्त्र सिखे जिससे भुजंग का दंशन मुझे अचल न बना सके। किन्तु—

प्रीतम के कारण क्या न झेला, बखानुं कितना।
दुष्ट विधि ने व्यर्थ किया, सब कुछ अपना॥
(हाय! वृथा भई सब सखी, हमर करम दोष)

प्रीतम के कारण न जाने हमने क्या क्या नहीं किये किन्तु मेरे कर्म दोष हेतु सब कुछ विफल हुआ। दुष्ट विधि ने मेरे सारे आयोजन को नष्ट कर डाला। फिर दूसरे ही क्षण बोलने लगी— नहीं सखी, अपने पागल पन में न जाने मैं क्या सब बक गई। प्रीतम के कारण मैंने जो इतने सारे दुःख को सहन किया, इ

क्या वह दुःख हो सकता हैं भला ? उसे यदि दुःख कहें तो फिर जगत में सुख किसको कहेगें ? वह दुःख तो मैंने अपने प्रीतम के लिये किया है। उस दुःख के रत्न हार को मैंने स्वयं अपने गले में डाला है। सखी !—

प्रीतम के सरस स्पर्श को जब जाती निकुंज निवास।
चरण को घेरत विषधर भुजंग—लगता जैसा नुपुर विलास॥
प्रीतम सुख में दुःख न लागे, निशि दिन तैरत सुख सागर।
वह था एक समय, आज है यह दिन, विचारत आभागिन राधा
मन पाकर॥

जब प्रीतम के स्पर्श-लालसा में कुंज-पथ पर भागती उस समय क्या मैं पथ पर दृष्टि रख कर चला करती थी ? न जाने कितने कालभुजंग मेरे पैरों को जकड़ लते और मैं उन्हें नुपुर समझ बैठती थी।

बंशी खींच लातो जब, पथ को कैसे तकती तब।

प्राण प्रीतम के साथ तिल भर का व्यबधान भी अब मुझ से सह्य नहीं होता। फिर—

जब कुँज में एक दिन गये मिलन को पहन नीलमणि हार।
विच्छेद भय कारण त्यागी उसको, पहन ली श्यामचन्द्र हार॥

हे सखी ! जो हार मेरे और प्राणनाथ के बीच मिलन का बाधा स्वरूप बने, वैसा हार मुझे नहीं चाहिये। विशेषकर—

पहने जो हृदय में श्याम-प्रेम हार, चाहिये उसको क्या बहार ?
करेगा क्या लेकर वह मणि मुक्ता और हेमों का हार ?

फिर भी करता था मैं इन हारों का व्यवहार।
थे क्योंकि ये प्रीतम के सुख का उपहार॥

सखी! मैंने अपने जीवन में जिस प्राण रत्न को खो दिया है, वह फिर मुझे मिला नहीं।

सखी! मेरे अंगो में पहना दो तुरन्त परिणाम हरिनामों का हार।
पहन वह हार, मृत्यु के पार बनुँ मैं चरण युगल की दासी सार॥

विरहाग्नि में जल कर राधा का प्रेम कसौटी पर कसा हुआ खाँटी सोना बन चुका था। मिलन में जो अवगुंठित था, विरह में वह प्रकाशित हो पड़ा है। अब न उसमें मान है, न गर्व और न ही सुख। उसका शरीर विफल है और संभवतः उसका प्राण भी। सब प्रेमिकायें यही सोचती हैं कि—

प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता।

अपने देह का सौन्दर्य, भरा यौवन यदि प्रिय संभुक्त न बना तो वे अपना जीवन व्यर्थ समझती हैं। किन्तु राधा, क्षणिक मृत्यु मुख में पतित होकर भी, श्यामसुन्दर पर क्रोध नहीं करती। यदि प्रवास में जाकर उसे कष्ट में रहना होता तो बात दूसरी थी। किन्तु कृष्ण तो महिषीयों के साथ परम सुख में जीवन व्यतित कर रहे हैं। वह कभी सांत्वना की वाणी सुनाने के निमित्त भी नहीं आते और न किसी को भेज कर कुशल-क्षेम पुछवाते हैं। वे राजा हैं, इच्छा मात्र से सब कर सकते हैं फिर क्यों नहीं करते? जिस राधा को सर्वदा हृदय में रख कर आँखों से पहरा दिया करते थे, जिस राधा ने अपना प्रति घर बार,

कलंक, निन्दा, कुलमान को तुच्छ मान कर, श्याम के प्रेम में छलांग मारी, न जाने कैसे उस राधा को भूला कर, वे अन्य नारी के साथ बिना किसी द्विधा के रंगरेलियाँ मनाते हुये अपना समय बीता रहे हैं। क्या कोई प्रेमिका इतनी घृणा, इतना ताच्छिल्य अथवा अवहेलना सहन कर सकेगी ? यदि राधा कोई साधारण रमणी होती तो विदिर्ण हो जाती किन्तु राधा श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्ति होने के निमित्त, कृष्ण विरह अनल के मध्य भी किसी प्रकार से अपना प्राण बचा सकी। बह कृष्णसुख को ईर्षा नहीं करती—कहती है—

युग युग जीवमु बसमु लख कोश।
हमर अभाग हुनक कोन दोष ॥

यह उनकी इच्छा है कि वह जहाँ चाहे रहें, लाखों बर्ष तक सुख से जीवित रहें। मैं अभागिन हूँ तो इसमें उनका क्या दोष ? दोषदृष्टि रहित राधा का प्रेम कितना निःस्वार्थ है ! राधा की उस स्थिति को देख कर पत्थर भी पिघल जाय, तो आश्चर्य नहीं। इस पर भी कृष्ण पर उसको क्रोध नहीं आया। यही नहीं यदि कोई कृष्ण की निन्दा करे तो उसको वह सहन नहीं कर पाती। उस उद्दीप्त अवस्था में उसको अष्ट सात्विक भावों की अनुभूति होती। कभी शरीर रोमांचित होकर लोमकुप शीसम के काँटे जैसा कठिन हो पड़ता तो कभी शीत के प्रभाव से शरीर में कंपन होने लगता। फिर दुसरे ही क्षण ताप इतना बढ़ जाता कि फूल तक कुम्हला जाते। शरीर की ग्रंथियाँ शिथिल हो जातीं और

आखों से सावन बहने लगता। वह क्षण क्षण पर मुर्छित हो पड़ती। श्वास तथा हृदय का स्पन्दन बन्द हो जाता और वह मृतप्राय पड़ी रहती। सखीयाँ सर्वदा कृष्ण नाम सुनाया करतीं। चेतना के लौट आते ही हुँकार के साथ चिल्ला उठती। जो सहारे के बिना उठ कर बैठ तक नहीं सकती, वही राधा भावावेश के समय हिरणी की तरह कृष्णान्वेषन को निकल भागती। क्रमशः अपने को भूल कर उसे दिव्योन्माद की दशा प्राप्त हुई। उसको विश्व में सर्वत्र कृष्ण मुर्ति तथा कृष्णानुभव होने लगा। अब वह अपने अस्तित्व को सम्पूर्ण रूप से प्रियतम के अस्तित्व में निमज्जित कर चुकी थी और कृष्ण तन्मयता प्राप्त कर चुकी थी। अन्त में सौ साल के पश्चात् प्रभास के महायज्ञ में कृष्ण के अंग के साथ मिल कर राधा स्वरूप में लीन हो गई।

राधा का वह गोपीभावनिष्ठ प्रेममय-स्वभाव ही लुब्ध भक्त का आदर्श है। जीव को प्रेमभक्ति के पथ पर पूर्ण आनन्द लाभ करने के आदर्श को उपस्थापित करने के लिये ही भगवान ने 'राधाकृष्ण' अवतार में ब्रजलीला की। अतएव ब्रजलीला या राधाकृष्ण की रतिरस क्रीड़ा कदर्य घृणित नहीं हो सकती। भगवान स्व-स्वरूप में रममाण है। इसीकारण उसका नाम आतमाराम ईश्वर भी है। वही रमणी-लीला, ब्रजलीला है। जीव तथा शक्ति को लेकर वह सबकुछ बना है। जीव और शक्ति के बिना वह निर्गुण-निष्क्रिय है। जब जीव साधन-शक्ति के द्वारा निष्काम होकर प्रकृति के बाहु बन्धनों से मुक्त होकर भगवान

को आत्म समर्पण करता है तो वह भगवान की स्वरूप शक्ति को प्राप्त होता है। किन्तु निष्काम हो जाने पर मनुष्य को शक्ति का क्या प्रयोजन ? जिसकी कामना, कर्म, शेष हो गये हों, वह शक्ति को लेकर क्या करेगा ? फिर जीव, अपनी शक्ति, भगवान को समर्पण कर देता है। वह शक्ति अपनी ही आनन्दमयी ह्लादिनी होने के कारण, भगवान उसे ग्रहण करता है और मधुर भाव से जीव को आलिंगण करता है। इस प्रकार भगवान और भक्त के स्वरूपगत अभेदात्मक मिलन को ही रमण कहते हैं। यही योगी की समाधि होती है। भगवान भक्त के साथ और भक्त भगवान के साथ रमण करता है। यह रमण अथवा मिलन परस्पर के ईच्छा से नहीं होती, स्वाभाविक होता है। इस प्रकार भगवान अपनी ही शक्ति अथवा प्रकृति के साथ रमण करता है। माया जगत का प्राणी इस रमण के मर्मरहस्य को समझ नहीं पाता। यही है व्रज की अमानुषी निगुढ़ लीला। इस स्वरूप शक्ति का सर्वोच्च, ह्लादिनी शक्ति है, जो भगवान के आनन्द का आस्वादन करवाती है। ह्लादिनी शक्ति के द्वारा भक्त का पोषण होता है। उसीकारण उसका दूसरा नाम गोपी है। श्रीमती राधा गोपीकुलशिरोमणि हैं और राधाप्रेम साध्यशिरोमणि माना जाता है। निरविच्छन्न आनन्ददायिनी ह्लादिनी शक्ति राधा के साथ, परमपुरुष श्रीकृष्ण के मिलन को ही रमण अथवा रासक्रीड़ा कहते हैं। इसीलिये गोपीभाव की साधना करते समय शृंगार रस को बीच में रख कर प्रेमिक-प्रेमिका दोनों के चित्तको द्रवित बना कर संभोग

मिलन होता है जिसके फलस्वरूप भेद भ्रम दूर हो जाते हैं। अतः कभी श्रीकृष्ण राधाभाव में विभोर होकर, राधाप्रकृति का अवलम्वन लेकर, राधा की तरह आचरण करते हैं, तो कभी श्रीराधा, कृष्ण का स्वरूपाचरण कर लीला सुख का अनुभव करती है। इसी को **विवर्त-विलास** कहते हैं। भक्तावतार श्रीगौरांगदेव में भी ये भाव सम्यकरूप से प्रकाशित हुआ करता था।

राधा-कृष्ण लीला से जीव को प्रेमभक्ति का आदर्श तो मिला किन्तु उन्हें यह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सका कि किस प्रकार की साधना के माध्यम से उसकी प्राप्ति हो सकती है। अतएव उनके प्रेमरस की पीपासा नहीं मिटी। जयदेव, चंडिदास जैसे दो चार भक्त भगवतकृपा से सिद्ध बनने पर भी, साधारण मनुष्य उसके गुढ़ उपायों को जान न सका। अतः साधना के आदर्श को सिखलाने के लिये भगवान को फिर अवतीर्ण होना पड़ा। पूर्ण भगवान के सिवा अपूर्ण जीव को कौन शिक्षा दे पायेगा? श्रीकृष्ण भगवान कहते हैं—

यद्धयदाचरति श्रेष्ठस्ततदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरूते लोकस्तदनुवर्तते॥

—श्रीमद्भगवद्गीता ३।२१

समांज के श्रेष्ठ व्यक्तिगण जैसा आचरण करते हैं, साधारण मनुष्य उनका ही अनुकरण करता है। इसीलिये भगवान को अपना कुछ कर्म न रहते हुये भी, 'आचरत स्वयं, जीव को शिक्षा देने'— के लिये मनुष्य देह लेकर स्वयं आचरण कर्म करते हुये जीव को शिक्षा

देते हैं। राधाकृष्ण के आदर्श से जब जीव प्रेमभक्ति को लाभ करने के लिये व्याकुल उठा, तो कृपासिन्धु भगवान, राधा भाव लेकर अर्थात् अपनी ह्लादिनी शक्ति के द्वारा अनुप्राणित होकर, श्रीगौरांग का रूप लेकर, नवद्वीप में अवतीर्ण हुये। इसीलिये वैष्णव संप्रदाय के लोग कहते हैं कि राधाकृष्ण एक ही शरीर में गौरांग बने। गौरांग के बाहर थी राधा तो अन्तर में श्रीकृष्ण। कृष्ण ही राधा-भाव-कान्ति से आच्छादित होकर गौरांग के रूप में अवतीर्ण हुये। शास्त्रों के पंडित भले इस तत्व को न समझें किन्तु साधन पंडित उसे उसी क्षण समझ लेगें। श्रीस्वरूप गोस्वामीजी ने कहा है—

राधाकृष्णप्रणयविकृतिर्ह्लादिनीशक्तिरस्मा-
देकात्मनावपि भुवि पुरा देहभेदं गतौ तौ।
चैतन्याख्यं प्रकटमधुना तद्द्वयंचैक्यमाप्तं
राधाभावद्युतिसुवलितं नौमि कृष्णस्वरूपम्॥

श्रीराधाकृष्ण एक आत्मा होने पर भी द्वापर के अन्त में भिन्न भिन्न मुर्ति में आविर्भुत हये। तत् पश्चात कलिकाल की प्रथम संध्या को दोनों मूर्ति एक बन कर चैतन्य नामक राधाभावद्युति-सुवलित कृष्णस्वरूप में, प्रेमरस का आस्वादन किया। राधा और कृष्ण दोनों जड़प्रतियोगी-चिद्घन मूर्ति हैं। अतः स्वरूपतः दोनों का उपादान एक है—केवल कान्ति तथा भाव मात्र भिन्न हैं। इसीलिये लीला के अन्त में राधाकृष्ण का स्वरूप महामिलन में केवलमात्र कान्ति तथा भाव का परिवर्तन ही संभव है अन्य

किसी प्रकार का अन्तर संभव नहीं। अर्थात् शक्ति से शक्तिमान का प्राधान्य होने के कारण उनके मिलन में कृष्ण का स्वरूप राधाभावद्युतिसुवलित हुआ है किन्तु राधा का स्वरूप कृष्णभावद्युतिसुवलित नहीं हुई। संप्रदाय के कट्टर तथा अहंकारी शास्त्रज्ञ पंडितोंने गौरांग के सम्पर्क में नाना आन्दोलन-अत्याचार किये हैं। श्रीगौरांग को अवतार मानने पर भी वे यह स्वीकार नहीं करते कि राधाकृष्ण एक होकर गौरांग बने हैं। शास्त्रज्ञ पंडित यह नहीं समझ पाते कि राधाभावकान्ति से कृष्ण का अंग आच्छादित हुआ है। फिर कट्टरपन की मूर्खता से उनका ज्ञान आच्छन्न रहने के कारण ये गौरभक्त इस तत्व को समझ नहीं पाते। फलस्वरूप बृथा तर्क का जाल फैलाते रहते हैं। किन्तु योगी, ज्ञानी तथा साधक, इस तत्व को बिना किसी कठिनाई के समझ लेते हैं।

भगवान ने राधा-कृष्ण अवतार में जिस तत्व का विकाश किया है, उस तत्व की साधन प्रणाली गौरांग अवतार में प्रचारित हुआ। राधाकृष्ण का तत्व—साध्य है अर्थात् भगवान का भाव है और गौरांग का तत्व, साधना अथवा भक्त का भाव है। जिसने भगवत भाव को लेकर राधा-कृष्ण की लीला की है उसीने स्वयं भक्त भाव से उस लीला-रस-माधुर्य का आस्वादन किया है और जीव को उसके पथ का निर्देश दिया है। यही राधा कृष्ण तथा गौरांग अवतार में अन्तर है। इसके अतिरिक्त, उपादान के दृष्टिकोण से उन

दोनों में कोई प्रभेद नहीं है। यही वैष्णव दर्शन का अचिंत्य-भेदाभेद तत्व है।

राधा भगवान की ह्लादिनी शक्ति है। अतः शक्तिमान श्रीकृष्ण और शक्तिरूपी राधा में कोई अन्तर नहीं। यथा—

शक्तिशक्तिमतोश्चापि न विभेदः कथंचन।

—स्मृति

जिस प्रकार मृगनाभि तथा उसके गंध में गुणात्मक पार्थक्य कुछ भी नहीं होता, अग्नि तथा उसकी ज्वाला में रूपात्मक कोई अन्तर नहीं होता, उसी प्रकार कृष्ण और राधा में रूपात्मक अथवा गुणात्मक कोई प्रभेद वर्तमान नहीं है। वे सर्वदा एक तथा अभिन्न हैं। चुंकि शक्ति, जीव तथा जगत का कारण है, उसलिये जीव और जगत उसका कार्य है। इस हेतु ज्ञानवादी संन्यासी का चरम लक्ष्य अद्वैत तत्व होता है। वे जीवजगत को परवाह नहीं करते। किन्तु भक्तगण लीलारस के आस्वादन से प्रलुब्ध होकर लीला को अर्थात् जीवजगत को अग्राह्य नहीं करते। उन्हें भेद-भाव मान कर चलना पड़ता है। किन्तु उसकी शक्ति या शक्ति के कार्य के द्वारा जीवजगत भिन्न प्रतीत होने पर भी, बस्तुतः वे अभिन्न हैं। किन्तु यह भेद जितना असंभव प्रतीत होता है उतना हो अचिन्तनीय लगता है—भेद-प्रतीति। वैष्णव दर्शन के साथ अन्य दर्शन का यही वैशिष्ट है। इसी कारण कट्टरवादी भक्त, उद्देश्य को न समझ कर अन्य वैदान्तिक मतवादों की निन्दा कर अपने मतवादों के प्राधान्य को प्रतिपन्न करते हैं।

अपने लक्ष्य को स्पष्ट रूप से प्रकाशित करना ही विचार शास्त्र का उद्देश्य है। अतः संप्रदाय के भेदानुसार उसी उद्देश्य को लेकर वेदान्त का भाष्य और टीका रचे जाते हैं। उन्हीं कारणों से भक्त वैदान्तिक कहता है कि भगवान से उसकी शक्ति भिन्न है। ऐसा सोचना भी जिस तरह हमारे लिये सामर्थातीत है, उसी प्रकार अभेद कल्पना भी हमारे लिये साध्यातीत है। अर्थात् भेदाभेद-वाद को स्वीकार करना पड़ेगा ही। शक्ति और शक्तिमान अभिन्न होने पर भी, वह भेद अथवा अभेद दोनों अचिंतनीय है। गौरांगदेव अभेद तत्व हैं और राधाकृष्ण भेद तत्व। साधना में गौरांगत्व (गौरांगपन) को लाभ कर राधा कृष्ण के असमोर्द्ध्व लीलारस माधुर्य का आस्वादन करना प्रेमिक भक्त का चरम लक्ष्य है। यहाँ तक निश्चित ही वह हमारे साध्य है। अतएव वैष्णव संप्रदाय-वालों ने अचिंत्यभेदाभेद के मतवाद को वेदान्त से लिया है। उनके मतानुसार साधना के द्वारा अद्वैततत्व अर्थात् गौरांगतत्व को लाभ कर भेद तत्व को अर्थात् राधाकृष्ण की लीला माधुर्य का आस्वादन करना ही परम पुरुषार्थ है। हम किस प्रकार से गौरांगतत्व अर्थात् प्रेममय स्वभाव को लाम कर राधाकृष्ण के लीलारस का आस्वादन कर पूर्णानन्द का अधिकारी बन सकते हैं, उसका वर्णन अगले प्रवन्ध में मिलेगा।

रसतत्व तथा साध्य-साधन

राधाकृष्ण यदि रसतत्व है तो वह जीव के लिये साध्य भी है। जिस साधना के अवलम्वन से राधाकृष्ण के रस-रति का ज्ञान होता है, वही साध्य साधन है।

जीव के प्राणों में रस की पिपासा है। जीव ही क्यों, कुसुम विकसित होकर रूप और रस में प्रकाशित होता रहता है। वृक्ष के नवीन श्याम-पत्र-कुंज में रूप और रस भरा पड़ा है। समस्त पृथ्वी ही रूप और रस की विचित्र लीला है। स्वर्ग और मर्त्य, इसी रूप और रस के अच्छेद्य बंधन में बँधा हुआ है। कोयल का स्वर इसी रूप और रस का पंचम है, शिशिर विन्दु रूप और रस के आँसु हैं, मलयानील उसी का स्निग्ध-श्वास है और रात का आकाश, दिगन्तव्यापी संगीतमय माधुर्य। ये उसी रूप रस के जीवन्त मर्त्यलीला हैं। यदि रूप शक्ति की क्रिया है तो रस सुख का दूसरा नाम है। अतः तत्वविदों का विश्लेषण है कि धार्मिकों का प्रांण, उसी शक्ति और रस का अनुसंधान करती है। ब्रह्म स्वयं रसस्वरूप है। यथा—

रसो वै सः

—श्रुति

वह रस है। वह कौन है ? ऋषि कहते हैं—"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"। जी मन और वाक्य के

अगोचर है, वही ब्रह्म है। ब्रह्म आनन्दामृत रूप रस है। उसी रस को आस्वादन करने के लिये ही भगवान की सृष्टि-कार्य चलती है। जीव वासना से विदग्ध होकर उसी रस की पिपासा में भटक रहा है। गोपीभाव की साधना में उसी रस-रति का ज्ञान होता है और हृदय में उसका प्रकाश होता है। भगवान को जिस रस के पाने की कामना है, वह रस पूर्ण रूप से राधा में विराज करती है। अतः राधातत्व में ही उस रस का विकाश है। राधा के साथ श्रीकृष्ण की ब्रजलीला ही रस का आश्रय अथवा **रस साधना** है।

राधा और कृष्ण एक आत्मा है। जीव को रसतत्व का आस्वादन करवाने के लिये राधा कृष्ण ने व्रजधाम में देह धारण किया है। वही राधा-कृष्ण आत्म स्वरूप में अर्थात् आत्मा के रूप में प्रति जीव के हृदय में अधिष्ठित है। इसीलिये जीव उस आनन्द या सुख के अन्वेषण में जलभ्रान्त मृग मरीचिका की तरह इस संसार रूपी मरुभूमि में व्यर्थ भटक रहा है। किन्तु इस अपूर्ण जगत में पूर्ण सुख की आशा करना विड़म्वना मात्र है। माया मुग्ध जीव यह नहीं जानता कि पूर्णानन्द-पूर्ण सुख उसके अपने ही आत्मा में विराज कर रहा है। जिस प्रकार मृग अपनी नाभिस्थित कस्तुरी के गंध से उद्भ्रान्त होकर बन में व्याकुल होकर भटकता फिरता है, उसी प्रकार जीव भी आनन्द की अनुभूति के लिये पार्थिव विषयों की ओर धावित होकर भटक रहा है। जन्म जन्मान्तर की सुकृति अथवा साधु शास्त्रों की कृपा से यदि

जीव को यह ज्ञान हो जाता है कि उसका चिर आकांक्षित वस्तु उसकी आत्मा में ही अवस्थित है तो उसे वैराग्य हो जाता है और वह आत्मानुसंधान में व्यस्त हो पड़ता है। अनन्तर आत्म-साक्षातकार लाभ करने के बाद, आत्मा में राधाकृष्ण तत्व के विकाश होते ही, वह पूर्ण रस तथा आनन्द का अधिकारी बन बैठता है। यह साधन सापेक्ष है। संसार में तो एक साधारण सी तत्व के अनुसंधान में ही जीवन व्यापी अध्यवसाय का प्रयोजन होता है किन्तु भारतवर्ष के स्वर्ण युग में देवकल्प ऋषियों ने योग के सुमहान पर्वत की चोटी पर आरोहन कर, ज्ञान की दीप्त-वह्नि को जला, जिस तत्व का अनुसंधान किया है, उसका उल्लेख उनके कथित शास्त्रों में हम आज भी वर्तमान पाते हैं। किन्तु उसके समझने के लिये भी साधना का प्रयोजन होता है। यह साधना कैसे किया जाय—किस प्रकार शक्तिमान के शक्ति को सहज में हम अपनी मुट्ठी में कर सकें—किस प्रकार प्रकृति की वासना के हाथों से मुक्ति मिले अथवा किस तरह रसतत्व का सम्यक ज्ञान पाकर रस के पात्र से निःशृत धारा जीव के पिपासित कंठ और प्राणों को सुशीतल कर सके, उसका साधन तत्व महाप्रभू गौरांगदेव और उनके भक्तों के द्वारा प्रचारित हुआ है।

जब जीव आत्म तत्व को भूल कर प्राकृत-विषय भोग में आसक्त रहता है, माया के सम्मोहन मंन्त्र से अपने को भूला कर संसार के हाट में भटकता रहता है, तब तक वह बद्ध अवस्था

का जीव या बद्धजीव कहलाता है। वह फिर भगवान की कृपा से आत्मतत्व को जान कर जीव के रसास्वादन में नियुक्त रहता है। उसके मायायुक्त होने के प्रयत्न से लेकर अन्त रस-संप्राप्ति तक जीव की साधना को, साधक तथा हिन्दु ऋषियों ने, शाक्त और वैष्णव दो प्रकार के नाम दिये गया है।

शाक्त और वैष्णव

अतीत काल से लेकर आज तक हमारे देश में शाक्त तथा वैष्णव का द्वन्द-कोलाहल चलता आ रहा है। दोनों ने अपनी श्रेष्ठता को स्थापित करने के लिये अनेक युक्ति प्रमाण दिये हैं। शाक्त कहता है—"शक्तिज्ञानं बिना देवो मुक्तिर्हास्याय कल्पते।" अर्थात् शक्तिज्ञान के बिना मुक्ति की आशा हास्यास्पद तथा असंभव है। वैष्णव भी शास्त्रों के द्वारा प्रमाणित करता है कि वैष्णव ही एक मात्र मुक्ति का अधिकारी है। पृथ्वी के विभिन्न देशों में भिन्न भिन्न संप्रदाय अपने धर्म में बिभोर हैं किन्तु शाक्त या वैष्णव बने बिना क्या वे मुक्ति के अधिकारी नहीं? संभवतः निरपेक्ष व्यक्तिमात्र ही संप्रदायिक इस कट्टरपन के पागलपन को सुन हँसे बिना रहेगा नहीं। परिधि के समस्त बिन्दुओं से वृत्त का केन्द्र समदूरवर्ती होता है—जितने मत हैं, उतने ही पथ भी हैं। प्रत्येक का ब्यासार्ध बराबर होता है, इस तत्व को परिधि अथवा व्यासार्ध पर बैठा हुआ व्यक्ति कैसे समझ पायेगा? यही कारण है कि संसार की धर्म

सम्प्रदायें विद्वेष-कोलाहल से भरे पड़े हैं। प्रकृत साधु में हिंसा द्वेष नहीं रहता क्योंकि वह जानता है कि किसी भी मतवाद के चरम साधना का लक्ष्य एक है। अतएव वैयाकरणिक अर्थानुसार शाक्त या वैष्णव उपासक का भेद यद्यपि संभव होता है किन्तु प्रकृत धर्म में ये भेद नहीं रहते। ये सब धर्म के साधन-पथ के स्तर विभाग मात्र हैं। जीव जब तक माया के अधीन है, वह रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श से मोहित होता है। जब तक वह वासना कामना का दास रहता है—वह बद्ध रहता है। वही बद्ध जीव साधु शास्त्र की कृपा से उद्बुद्ध होकर जब प्रकृति की माया से मुक्त होना चाहता है और साधना करता है तो वह शाक्त बन जाता है। फिर माया से मुक्त होकर जब वह आत्मा के असमोर्ध्व प्रेम-रस-माधुर्य का आस्वादन करता है तो वह वैष्णव कहलाता है। अतएव साधक, शक्ति अथवा विष्णु जिसका भी उपासक हो, साधना के स्तरभेदानुसार, शाक्त या वैष्णव कहलाता है। इस प्रकार हम जिस मंत्र की भी उपासना करें, जीव जिस किसी भी संप्रदाय का भुक्त क्यों न हो, साधना के स्तरभेदानुसार ही उसे शाक्त या वैष्णव कहेंगे। हम शिव का दृष्टांत देकर इस विषय को समझाने का प्रयत्न करेंगे।

दक्ष कन्या को विवाह करने के पश्चात जब शिव घर संसार करने लगे तो वे बद्धजीव मात्र बन गये। फिर दक्षयज्ञ के समय शिव ने सती को बिना निमन्त्रण पित्रालय जाने के लिये निषेध

किया किन्तु सती ने शिव की बात न मानी और फल स्वरूप दक्ष के घर जाकर उसे प्राण त्याग देना पड़ा। तब शिव समझे कि प्रकृति उनके वशीभूत नहीं है। कर्तव्य उपस्थित होने पर वह समस्त सम्पर्क तोड़ सकती है। अब जाकर शिव यथार्थ में शक्ति को समझ पाये। उन्हे शक्ति का ज्ञान हुआ। ज्ञान के होते ही वे महायोग करने बैठ गये। शिव शाक्त बने। इधर दाक्षायणी ने हिमालय के घर गौरी का रूप लेकर जन्म लिया और शिव को पति के रूप में पाने के लिये उनकी सेवा में लग गई। शिव पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा। जिन्होंने कभी सती का शव कंधे पर उठा कर त्रिलोक का भ्रमण किया था, आज खोई हुई उस सती को पाकर आँख उठा कर भी उन्होंने नहीं देखा। बिचारी गौरी भला क्या करती, देवगणों की सहायता लेकर मदन के द्वारा शिव के ध्यान को तोड़ना चाही किन्तु शिव के कटाक्ष से मदन उसी क्षण भस्म हो गया। शिव ने शक्ति को पत्नि के रूप में, दासी की तरह, ग्रहण किया और ब्रह्मरसानन्द में निमग्न हो गये। अब जाकर शिव वैष्णव बन सके। इसीलिये महादेव को परम वैष्णव कहा गया है। शाक्त, माया को वशीभूत करने के लिये साधना करता है और वैष्णव, शक्ति पर विजय प्राप्त कर चुका होता है। वैष्णव यह स्वीकार नहीं करता कि प्रकृति माया जाल विस्तार करती है वल्कि कहता है कि उनको देखकर माया लज्जा से पलायन करती है। शाक्त जब माया को साधना के द्वारा वशीभूत करता है अथवा उसकी कृपा प्रार्थना करता है और

काम को वशीभूत करता है तो उसे वैष्णव कहा जा सकता है। इसीलिये रामप्रसाद या रामकृष्ण शक्ति-साधक होते हुये भी वैष्णव माने जाते हैं। यदि कोई विष्णु का उपासक, विषय-विदग्ध चित्त से संसार के प्रलोभन में डूबता दीखाई पड़े तो वह शाक्त से भी अधम है। जिस व्यक्ति ने प्रकृति की अनलवाहु के पंजे से अपने को छुड़ा लिया हो, वह शक्ति का उपासक होने पर भी वैष्णव है। यदि केवल शक्ति की उपासना अथवा किसी नारी देवी की उपासना करने से हम शाक्त बन सकें तो फिर श्रीराधा के उपासक परम भागवत शुकदेव गोस्वामी जी भी शाक्त हुये किन्तु नहीं लोक उन्हें परम वैष्णव मानते हैं। इस दृष्टिकोण से तो रामप्रसाद जी भी परम वैष्णव हैं। रामप्रसादजी ने गाया है—

"यह जग संसार सब उस औरत का रेला।
औरत की बस, आप्त भाव की गुप्त लीला॥
सगुण निर्गुण में विवाद लगवाकर।
कंकड़ से तोड़ती कंकड़ जाकर॥
सब कर्मों में वह होती राजी।
नाराज होती केवल काम की बाजी॥

यहाँ पर रामप्रसादजी शाक्त हैं। उन्होंने माया को जान लिया है। माया अब उन्हें बाँध नहीं सकेगो। फिर कहते हैं—
"वह तो भाव का विषय है, भाव बिना अभाव में कैसे पाउँ तोय।"

इसके सुनने के पश्चात रामप्रसादजी वैष्णव दीखते हैं। तत् पश्चात और कहते हैं—

न मिले वह षड़ दर्शन में या आगम निगम तंत्र कह ।
भक्ति रस का रसिक वह सदानन्द में विराजता वह ॥

इसके पश्चात्, कोई संदेह ही नहीं रह जाता कि रामप्रसादजी वैष्णव हैं । चाहे मनुष्य किसी भी देवता को भजे, यहाँ तक कि मुसलमान या ईसाइ भी शाक्त और वैष्णव कहला सकते हैं। अतएव केवल विष्णु का उपासक ही वैष्णव नहीं हो जाता। पृथ्वी की कोई भी जाति जो साधना के उच्चतर स्थिति पर अधिरोहण कर माया के बंधन को अथवा आकर्षण की आकुलता को विनष्ट कर ब्रह्मानन्द में डूब गया हो तो वह निश्चित ही 'वैष्णव' कहलायेगा। किन्तु वासनाविदग्ध जीव यदि कौपिन कंधाधारी भी हो तो उसे हम शाक्तों में अधम अथवा बद्धजीव कहने में हमें कोई द्विधा नहीं होनी चाहिये। अतएव आपसब कान खोल सुन रखें कि शाक्त बने बिना कोई वैष्णव बन नहीं सकता।

पाठकगण ! साम्प्रदायिक संकुचित मनोभाव को भूल कर यदि आप समाहित चित्त से बिचार करेंगें तो मेरे वाक्यों की सत्यता को उपलब्ध कर सकेंगें। क्या आप ये समझते हैं कि चोर, मदमाश और लम्पट इसलिये मुक्तिलाभ करेंगे कि वे शक्ति अथवा विष्णु मंन्त्र से दीक्षित हुये हैं? यदि हम शाक्त और वैष्णव का उपरोक्त अर्थ ग्रहण करें तो सारा द्वन्द मिट जाये और शास्त्र वाक्यों की मर्यादा भी रहे। बास्तव में वैष्णव ही मुक्ति का अधिकारी है। वैष्णव हुये बिना कोई मुक्तिलाभ नहीं कर सकता। यदि वैष्णव का अर्थ विष्णु की उपासना समझें

तो इस प्रकार के प्रलाप से किसको मुक्ति मिलेगी अथवा कौन इस प्रकार के शब्दार्थ से अनुरक्त होगा ? शक्ति को जिसने जान लिया है और उसको बाहुओं से मुक्त होकर भगवान के प्रेम माधुर्य में डूब गया है, वही वैष्णव है, चाहे वह किसी भी जाति अथवा संप्रदाय का क्यों न हो। इस प्रकार का वैष्णव ही मुक्ति का अधिकारी है। मैं भी वैसे ही वैष्णव के पदरज का भिखारी हूँ।

अतएव रसतत्व तथा साध्य-साधन के प्रथमांश का अधिकारी शाक्त तथा उत्तरांश का अधिकारो वैष्णव कहलाता है। अर्थात् इस तत्वके साधक को ही शाक्त तथा सिद्ध को वैष्णव कहते हैं। पहले हम कह चुके हैं कि आत्मस्थ होकर आत्मा में राधाकृष्ण के तत्व का विकाश करना ही रसतत्व तथा उसको साधना ही साध्य साधना है। गुणमयी माया जीव को इन्द्रिय पथ को ओर आकर्षित कर विषयानुरक्त कर रखतो है और विषय का अनुराग काम से उत्पन्न होता है।* अतः काम ने ही जीव के ज्ञान को, उसके आत्मस्वरूप को आच्छन्न कर रखा है। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता ३।३६

---

* ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता २।६२

जिस प्रकार आग धुँये के द्वारा, दर्पण मैल के द्वारा, गर्भ जड़ायु के द्वारा आवृत है, हे कौन्तेय! ज्ञानी का चिर शत्रु भी काम रूपी अपूरणीय अग्नि के द्वारा ज्ञान आच्छन्न रहता है। अतएव काम के दमन होते ही अर्थात् काम के नष्ट होते ही जब आत्मस्वरूप प्रकाशित होता है तो आनन्द लाभ होता है। काम को दमन करना ही साध्य प्रेमरस की साधना है। काम का आकर्षण सबसे अधिक कहाँ है? उसके उत्तर में लोग, कामिनी कहेंगें। शास्त्रकारों ने भी कहा है—

स्त्रीसंगाज्जायते पुंसां सुतागारादिसंगमः।
यथा वीजांकुराद् बृक्षो जायते फलपत्रवान्॥

—पुराणवचन

जिस प्रकार बीज के अंकुर से फूल पत्तों से भरा हुआ बृक्ष फलता फूलता है उसी प्रकार पुरूष को कामिनी के संग से पूत्र गृह, आदि सांसारिक विषयों के प्रति आसक्ति* जनमती है क्योंकि प्रकृति का कठिन शृंखल है—माया की मोहिनी शक्ति। यदि हम उस रमणी को आत्मशक्ति में मिला लें तो वह शक्ति आत्मभूता हो जातो है और जीव सम्पूर्ण बन जाता है। जो आनन्दभूत

* आसक्ति क्यों जनमती है अर्थात् स्त्रीपुरूष के मिलन की इच्छा तथा उद्देश्य, विन्दुजय, प्रकृति के आकर्षण की आकुलता को नष्ट करने के उपाय आदि जटिल विषयों का विस्तारित वर्णन मेरे 'ज्ञानीगुरू' ग्रंथ में मिलेगा। अतएव यहाँ पर उसका पुनरूल्लेख नहीं किया गया है।

वासना रमणी में वर्तमान है, उस वासना की निबृत्ति के लिये ही तन्त्र के पंच प्रकार की साधना की जाती है। कुलाचार पद्धति अथवा चंडीदास की रस-साधना का उद्देश्य भी यही है। मेरी 'तान्त्रिकगुरु' पुस्तक में पंच प्रकार की साधना अथवा कुलाचार पद्धति का वर्णन मिलेगा। अतएव रस-साधना ही इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय है।

प्रेमरसलुब्ध साधक पहले रागवर्त्मोद्देशी प्रेमिक गुरु की कृपा को प्राप्त कर उनसे रसतत्व अथवा राधाकृष्ण का युगल मन्त्र कामबीज (क्लीं) तथा काम गायेत्री आगम के विधानानुसार ग्रहण करेगा क्योंकि कलियुग में तंत्र-शास्त्रानुसार दीक्षा तथा साधन कार्य सम्पन्न करने की विधि है। यथा—

आगमोक्तविधानेन कलौ मंन्त्रं जपेत् सुधीः।
न हि देवाः प्रसीदन्ति कलौ चान्यविधानतः॥

—तन्त्रसार

सुबुद्धिजन कलिकाल में तन्त्र-विधान के अनुसार मंन्त्र को जपेगा क्योंकि इस युग में दूसरे विधान से देवतागण प्रसन्न नहीं होते।

यह काम बीज तथा काम गायेत्री आगम सम्मत राधाकृष्ण का युगल मन्त्र है। रस माधुर्यलिप्सु साधकगण ही केवल उक्त मंन्त्र के अधिकारी हैं। समष्टि आनन्द या पूर्णानन्द का मूल बीज काम मंन्त्र है। सुतरां काम बीज तथा काम गायेत्री ही ब्रज-भाव के

माधुर्य रस-साधना का महामंन्त्र है। इस मंन्त्र से प्राकृत काम ध्वंस होता है और पूर्णानन्द को लाभ करता है। यथा—

साथ कामबीज जो गायेत्री करे भजन।
रास मंडल में राधाकृष्ण को लभता सो जन॥

स्वयं श्रीकृष्ण काम बीज के साधक हैं और साध्य हैं श्रीमती राधा। अतः श्रीराधा विषय हैं, तो श्रीकृष्ण आश्रय। राधाकृष्ण काम बीज हैं तो गायेत्री उनकी सखियाँ। यथा—

काम बीज राधा कृष्ण गायेत्री सखीयाँ।
इस कारण गाथेत्री बीज पूरण शास्त्र बखियाँ॥

—भजन-निर्णय

काम बीज तथा काम गायेत्री को प्रदान कर श्रीगुरु-माधुर्यतत्वलिप्सु भक्तों के सामने रस-मार्ग के द्वार को उद्‌घाटित कर देते हैं। मंजरी सखी आदि भजनांगों का निर्णय करके श्रीगुरु भक्तों को ब्रज के निगुढ़ साधना में नियुक्त करते हैं। फिर साधक अन्तश्चिंतिताभिष्ट देह में अन्तर्मुखी इन्द्रियवृत्ति समूहों के द्वारा सिद्ध रूप ब्रजलोक में श्रीरूप मंजरी आदि की तरह श्रीकृष्ण की साक्षात सेवा करते हैं। नित्य वृन्दावन ही सिद्ध ब्रजलोक है। नित्य वृन्दावन कैसा है ?

सहस्रपत्रकमलं गोकुलाख्यं महत् पदम्।
तत्कर्णिकारं तद्धाम तदनन्तांशसम्भवम्॥
कर्णिकारं महद्द यन्त्रं षट्कोणं बज्रकीलकम्।
प्रोज्ज्वलप्रभया युक्तं कामबीजसमन्वितम्॥

षड़ंगषट्पदीस्थानं प्रकृत्या पुरुषेण च ।
प्रेमानन्दमहानन्दरसेनावस्थितं हि यत् ॥
ज्योतिरूपेण मनुना कामबीजेन संगतं ।
तत् किंजल्कं तदंशानां तत्पत्राणि श्रियामपि ॥

—ब्रह्मसंहिता

भगवान श्रीकृष्ण के महाधाम का नाम गोकुल है। यह सहस्रदल विशिष्ट कमल की तरह है। इस कमल के वे स्थान जो अनन्तदेव के अंश संभूत है उसी को गोकुल को आख्या दी गई है। इस गोकुल रूप कमल कर्णिका में एक षट्कोणवाला महा यन्त्र है। यही बज्रकीलक अर्थात् प्रोज्ज्वल हीरे का कीलक जैसा उज्ज्वल प्रभा विशिष्ट तथा कामबोज समन्वित है। उसके ६ कोण में षट्पदी महामंन्त्र का वेष्टन है। (कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजन बल्लभाय स्वाहा)। इसो कर्णिका के उपर प्रकृति-पुरुष अर्थात् श्रीश्रीराधाकृष्ण नित्य रस-रास का विहार करते हैं। यह चित धाम, यह रस-रास-मंडल पूर्णतम सुख के रस में अवस्थित है तथा ज्योतिःस्वरूप और कामबीज के महामंन्त्र से संपुटित है। इस कमल के आठ दलों में अष्ट सखी तथा किंजल्क-केशर समूहों में असंख्य गोपी विराजते हैं। इसी स्थान पर रसिक शिरोमणि, पूर्णतम रस-रास विहारी, श्रीकृष्ण स्वकीया पूर्णतम ह्लादिनी शक्ति राधिका के साथ नित्यलीला कर रहे हैं।

इस अप्राकृत वृन्दाबन में अप्राकृत-मदन श्रीकृष्ण को काम बीज और काम गायेत्री के द्वारा उपासना करना पड़ेगा। यथा—

वृन्दावन के अप्राकृत नवीन मदन।
पूजते हैं काम बीज काम गायत्री से सुजन॥

—श्रीचैतन्यचरितामृत

श्रीवृन्दावन का यह अभिनव कन्दर्प समस्त निखील कन्दर्प का निदान है, अर्थात् जिस काम से सब काम भावों की सृष्टि, स्थिति, तथा विलय प्राप्त होतो है। इस अप्राकृत काम के द्वारा ही मादनी शक्ति श्रीराधा के साथ आनन्दमय प्रेमलीला-विलास संघटित होता है। श्रीकृष्ण साक्षात् मन्मथ हैं अर्थात् प्राकृत मदन के भी मदन स्वरूप हैं। सखी भाव के द्वारा राधाकृष्ण के सेवाधिकार को लाभ करना ही साध्य साधना है। कहते हैं—

बिन बने सखी, लीला में न अन्य गति।
यदि पायें उनसे, सखी भाव की अनुगति॥
फिर राधाकृष्ण कुँजसेवा का साध्य उसको भाय।
सिवा साध्य के है न अन्य कोई उपाय॥

सखी भाव के होने पर कुँज सेवा का अधिकार लाभ होता है। सखीयों के द्वारा ही श्रीराधाकृष्ण की गुढ़ लीला प्रकाशित होती है तथा उन्हें ही इस युगल सेवा का अधिकार दिया गया है। अतएव श्रीगुरु की आज्ञा से इन सखीयों में से किसी एक का स्थान लेकर अर्थात् अपने को उस सखी का स्वरूप मान कर उसके जैसा बन, राधा रमण की नित्य सेवा करनी पड़ेगी। सखीयों को तो राधाकृष्ण की सेवा के आनन्द में ही सुख है।

ब्रजलीला से पहले, श्रीकृष्ण इस उज्ज्वल रसात्मक प्रेम के विषय थे और आश्रय थी श्रीराधा,—जीव को उसकी अनुभूति थी। इस बार के इस प्रकट लोला कां तात्पर्य जीव को उसका रसास्वादन करवाना है। जीव के लिये यही उचित है कि वह गोपीभाव को ग्रहण कर राधाकृष्ण के मिलनात्मक आनन्द का आस्वादन करे। चाहे उसे श्रीकृष्ण राधा का मिलनानन्द कहें या तान्त्रिकों के हर-गौरी का मिलन सुख कहें — वास्तव में वह परमात्मा से जीवात्मा का मिलन है। अन्तर केवल उस आनन्द के सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम होने के मात्रा में है। प्रकृति से परे श्रीराधाकृष्ण की प्रेममयी शृंगार लीला अपरिच्छिन्न तथा नित्य है किन्तु प्रकृत रति कन्दर्प की कलूषमयी कामक्रीड़ा परिच्छिन्न तथा अनित्य है। यही प्राकृत-अप्राकृत लीला प्रत्येक प्रापंचिक नरनारी के अन्तर तथा बाहर में बर्तमान रहता है किन्तु वे अप्राकृत नित्यलीला को उपलब्ध नहीं कर पाते। वे केवल प्राकृत अनित्य लोला में ही तन्मय रहते हैं। जिस तरह ब्रज-गोपीगण, महा-मन्मथ श्रीकृष्ण के नित्यशृंगार-लीला में तन्मय रह कर प्राकृत कन्दर्प के अनित्य कामलीला को भूल गई थी, उसी प्रकार प्राकृत नरनारी ने भी अनित्य कामक्रीड़ा में अति निविष्ट होकर नित्य शृंगार-लीला को भूला दिया है। यदि ये प्राकृत काम-क्रीड़ापरायण नरनारी, साधु शास्त्र के मुख से राधाकृष्ण के रास आदि शृंगारलीला को श्रवण कर उसके अनुसंधान में यत्नवान हो जायें, तो राधाकृष्ण की कृपा से गोपोभक्ति को लाभ कर सहज

में ही प्राकृत कन्दर्पक्रीड़ा के हाथ से मुक्ति पाकर गोपी शरीर का अधिकारी बन, श्रीकृष्ण के रास आदि अनन्त शृंगार लीला को प्राप्त होगा।

अतएव साधक सखीभाव से अपने हृदय-बृन्दावन में श्रीराधा-कृष्ण की कुँजसेवा करेगा। मनोमय देहाश्रित नित्य सखी की तरह, उनकी चरण सेवा, चामर डुलाना, माला पिरोना, शय्या-रचना तथा शृंगार रसात्मक मिलन आदि का कार्य करना पड़ेगा। सर्वदा सेवा परिचर्या करनी पड़ती है। प्रतिदिन, मास अथवा तिथि के अनुसार ब्रजलीला के अनुकरण में लीला को सम्पन्न करना पड़ता है। ये सब, केवल मन के द्वारा ही ध्येय नहीं होता वल्कि इनमें मनचेष्टा, इन्द्रियचेष्टा का करना भी, गोपीभावभक्ति का सेव्य है। अतः गुरुकृपाप्राप्त भक्त, गोपीजनोचित भाव तथा इन्द्रियचेष्टा के द्वारा, राधाकृष्ण की युगल सेवा करेगा। इस प्रकार साधना करते करते क्रमशः साधक का मनोमय सिद्ध शरीर परिपूष्ट होता है।

जब अन्तश्चिन्तिताभीष्ट तत् साक्षातसेवा के उपयोगी देह बनता है अर्थात् स्वाभीष्ट गोपी मूर्ति के निरन्तर परिचिन्तन के कारण साधक के हृदय में तत्स्वरूप चिन्तामयी मूर्ति का उदय होता है, तो उसे गोपीदेह कहते हैं। यदि देह, इस प्रकार शुद्ध न बने तो भक्त राधाकृष्ण का साक्षातकार लाभ करने में समर्थ नहीं होता। फिर उसको साक्षातसेवा का अधिकार नहीं रहता। अतएव भक्त को सर्वप्रथम सिद्ध देह लाभ करने का

प्रयत्न करना चाहिये। वाह्यासक्ति को परित्याग कर नित्य-ब्रजलोक की श्रीरूपमंजरी आदि नित्य सखीयों की तरह साक्षात श्रीवृन्दावन के फल-पुष्प-पत्र शय्या आसन आदि के द्वारा राधा-कृष्ण की सेवा करनी चाहिये।

पहले गोपीभावलिप्सु भक्त मन ही मन गोपीमूर्ति की कल्पना करेगा और सर्वदा उसी के अनुध्यान में समय वितायेगा। सर्वदा उन्हीं के दर्शन के लिये कृपा भिक्षा करेगा। भक्त की इष्ट चिन्ता यदि बलवती हो तो स्वाभीष्ट गोपीमूर्ति का स्फूरण होगा और उसके अतूलनीय रूप माधुर्य के दर्शन से साधक आत्महारा हो जायेगा। स्वयं वह ग्रहाविष्ट की तरह उसी की मूर्ति चिन्तन में सर्वदा तन्मय रहेगा। इस गोपीमूर्ति के सर्वदा अनुध्यान करने पर साधक के हृदय में एक अभिनव मूर्ति का संचार होगा और फिर सिद्ध गोपीदेह का उदय होगा। यह प्रत्यक्ष विज्ञान-सम्मत सिद्धान्त है। क्योंकि—

यत्र तत्र मनो देही धारयेत सकलं धिया।
स्नेहाद् द्वेषाद्भयाद्वापि याति तत्वत् स्वरूपतां॥
कीटः पेशष्कृतं ध्यायन् कुडयान्तेन प्रवेशितः।
याति तत्सात्मतां राजन् पूर्वरूपमसंत्यजन्॥

जिस प्रकार तैलपायिका (तिलचट्टा) निरन्तर पेशष्कृत नाम भ्रमर विशेष के परिचिन्तन से पूर्वरूप (पूर्वदेह) को परित्याग किये बिना, वैसा ही बन जाता है, उसी प्रकार स्नेह, द्वेष, भय अथवा अनुराग वशतः, जो व्यक्ति जैसा चिन्तन करता है, वह

अल्पकाल में पूर्वदेह को परित्याग किये बिना ही अपने ध्येयरूप को लाभ करता है।

इसलिये गुणमय साधक अनुराग के वश उस गोपीस्वरूप का चिन्तन कर अपने हृदय में भगवत सेवा के उपयोगी गोपी स्वरूप को प्राप्त होता है। यही अन्तश्चिन्तित गोपीदेह, सिद्ध-देह कहलाता है। हृदय में उसके संचार होते ही साधक स्वाभीष्ट गोपी को अपने से भिन्न ज्ञान नहीं करता वल्कि आत्मस्वरूप तदनुगत तत्प्रतिविम्व के रूप में प्रतीत करता है। इस गोपीदेह में आत्मस्वरूप की उपलब्धि होती है। फिर गोपी के प्रेममय स्वभाव में साधक का गुणमय प्राकृत स्वभाव का लय हो जाता है। भक्त में उद्दीपना-विभाव होने लगता है—भक्त राधाकृष्ण को अनुभव करने लगता है। फिर उनके शृंगारात्मक रासक्रीड़ा में भक्त उनसे भी कोटिगुण अधिक सुख पाता है। अर्थात् भक्त पूर्ण सुख को अनुभव करने में समर्थ होता है। यही कारण है कि भक्त, गौरांगदेव की तरह कभी तो श्रीकृष्ण बन कर राधाभाव में विभोर हो राधा-प्रकृति को अवलम्वन बनाता है और राधास्वरूप का आचरण करता है और कभी श्रीराधिका बन, कृष्ण का स्वरूप आचरण कर, लीलानन्द का सुख अनुभव करता है। अर्थात् भक्त कभी अन्तर में कृष्ण बाहर से राधा भाव तो कभी अन्तर में राधा बाहर से कृष्ण भाव का अनुभव करता है। इस भाव के उदय होते ही भक्त दोनोंप्रकार के प्रेमरसास्वादन से पूर्णानन्द को प्राप्त करता है।

फिर वह अपना प्रारब्ध कर्म क्षय करके, साधक प्राकृत गुणमय देह को परित्याग कर मनोमय सूक्ष्म देह में अर्थात् सिद्ध गोपीदेह लेकर नित्यबृन्दावन में राधाकृष्ण के प्रेमसेवोत्तर गति को लाभ करता है और उनके आसमोर्ध्व लीलारस-माधुर्य में अन्तकाल तक निमग्न रहता है ।

सहज साधन रहस्य

रसतत्व तथा साध्य-साधन के वर्णित प्रणालीयों पर चलना यथार्थ वैष्णव (शक्तिविजयी अर्थात् मायामुक्त) के सिवा अन्य किसी व्यक्ति के लिये असंभव है। यदि वाह्यविषयों में अनुराग रहे तो अन्तश्चिन्तिताभीष्ट देह का स्फूरण नहीं होता। वाह्यविषयों के द्वारा चित्त विक्षीप्त रहने के कारण, अभीष्ट गोपीमूर्ति के निरन्तर परिचिन्तन में बाधा पहुँचती है। अतः नित्यसिद्ध ब्रजलोक में श्रीरूप-मंजरी आदि सखीयों की तरह साक्षात् राधाकृष्ण की सेवा कदापि संभव नहीं। फिर अन्य किसी प्रकार के साधन-भक्ति की सहायता से प्रेममय स्वभाव को प्राप्त भी नहीं किया जा सकता है। अन्य साधनाओं से सालोक्य आदि चतुर्विध मुक्ति को प्राप्त कर ऐश्वर्यसुखोत्तरा गति को प्राप्त किया जा सकता है किन्तु सखीयों की तरह प्रेमसेवोत्तर गति को लाभ किया नहीं

जा सकता। अतएव शृंगाररसात्मक गोपीभावलिप्सु साधक के गोप्यानुगतिमयी भक्ति के सिवा अन्य किसी उपाय से अभीष्ट सिद्ध नहीं होता। यथा—

कर्म तप योग ज्ञान या विधि भक्ति जप ध्यान,
दुर्लभ किन्तु हैं माधुर्य का होना।
रागमार्ग से लभ अनुराग, भजे जो कृष्ण,
होता कृष्ण माधुर्य उसको सुलभ पिरोना॥

—श्रीचैतन्यचरितामृत

किन्तु उसका उपाय क्या है? शास्त्रकारों ने उसका उपाय भी बतला दिया है। उन्हें रामानन्द, चंडीदास आदि रसिक भक्तों की साधना का ही अनुकरण करना है। मैं पहले कह चुका हुँ कि काम के द्वारा ही जोव को वहिर्विषयों से अनुराग होता है। उस काम का सबसे अधिक आकर्षण कामिनी में होता है। यद्यपि शास्त्र कहता है—

नैव स्त्रो न पुमानेष न चैवायं नपूंसकः।
यद् यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स लक्ष्यते॥

— श्वेताश्वतरोपनिषत्, पू उः

आत्मा, स्त्रो पुरुष अथवा नपुंसक कुछ भी नहीं होती। वह जब जिस शरीर को आश्रय करता है तदनुसार वह स्त्री अथवा पुरुष कहलाती है।

बास्तव में स्त्री तथा पुरुष एक ही चैतन्य का विकाश है। आधार अथवा गुणानुसार वह भिन्न कहलाती है। फिर उनमें

एक दूसरे के प्रति इतना आकर्षण क्यों रहता है ?* नर नारी की आत्मा एक रहने पर भी नर में चित् शक्ति तथा नारी में आनन्द शक्ति का अधिक विकाश रहने से, नर, नारी की ओर तथा नारी, नर की ओर स्वाभाविक ही आकर्षित होती है। इसका उद्देश्य यह है कि दोनों आत्मसंमिश्रण करके, अपने अपने अभाव को पूर्ति करने के पश्चात् पूर्णत्व को लाभ कर सकें। इसीलिये कामिनी में काम का आकर्षण सर्वाधिक है। अतः कामिनी में आत्म संमिश्रण करने पर जीव, आत्म-संपूर्ति लाभ करके जगत के प्रधान आकर्षण को दूरहटा कर, अन्तर राज्य की ओर ज़ा सकेगा। इसी कारण तन्त्र शास्त्र में कुलाचार की व्यवस्था की गई है। बस्तुतः कुलसाधन के सिवा, मायामथ जीव को काम की अग्निपरीक्षा में उत्तीर्ण होने का अन्य कोई उपाय नहीं है। तन्त्रकार जानते थे कि वेद पूराणों के उपदेशानुसार जीव के लिये रमणी के आसंग-लिप्सा का परित्याग करना दुःसाध्य है। प्रकृति से पूर्ण मानव स्थूल रूप-रस को थोड़ा तो भोग करेगा ही। यदि किसी तरह मनुष्य को अपनी प्रिय भोग्य पदार्थों के प्रति वास्तविक आन्तरिक श्रद्धा का उदय कराया जा सके, तो वह फिर चाहे जितना भी भोग करे वह तीव्र श्रद्धा के कारण थोड़े ही समय

---

* नरनारी के परस्पर आकर्षण का कारण तथा उससे बचने के उपाय, मेरे 'ज्ञानीगुरु' ग्रंथ में विशेष रूप से वर्णित है। अतः यहाँ संक्षेप में उसके कारण को कहा गया है।

में संयम आदि आध्यात्मिक भाव का अधिकारी बन जायेगा, इसमें तनिक भी संन्देह नहीं।

इसीलिये गोपीभावलुब्ध भक्त, भगवत शास्त्राविरोधी तन्त्र-सम्मत कुलाचार के अनुष्ठान में, राधाकृष्ण की उपासना किया करते हैं। कुलसाधना की शक्ति से वे काममुक्त होकर भावराज्य में प्रवेश करते हैं, और गोप्यानुगतिमयी भक्ति को लाभ कर श्रीवृन्दावन में महामन्मथ श्रीकृष्ण के श्रीचरणकमलसुधा को पान करते हैं।

अतः गोपोभावलिप्सु प्रवर्तक भक्त अर्थात् वाह्यानुरक्त साधक बाहर से शाक्त तथा अन्तर में वैष्णव भाव से भगवान की उपासना करते हैं। तन्त्रशास्त्र के अनुसार शाक्त का कुलाचार साधन मेरो 'तान्त्रिकगुरु' नामक ग्रंथ में विस्तारित रूप से वर्णित है। अतः यहाँ भक्तिशास्त्र के मतानुसार शाक्त भाव अर्थात् कुलाचार साधना का वर्ण न मिलेगा।

पोछे हम साधक के अन्तश्चिन्तिताभीष्ट देह में सिद्ध ब्रजलोक के साक्षात् भजन की प्रणाली का वर्ण न कर चुके हैं। उसी प्रकार यदि साधक के गुणमय प्राकृत देह के द्वारा राधाकृष्ण के साक्षात भजन का उपाय बखाना जाय तो उसो को कुलाचार प्रथा कहेगें। सखीभावलुब्ध साधक श्रीगुरु को बृन्दावनेश्वर, आकांक्षित किसी भी रमणी को, वृन्दावनेश्वरी, तथा यथाविहित स्थान को श्रीबृन्दावन समझ कर, सखी के रूप में प्राकृत देह से साक्षात भजन करेगा। अपने विवाहित पत्नि को राधा

समझ लेना आसान है किन्तु स्वकीया रमणी में उच्च-नीच के भाव का होना अत्यन्त स्वाभाविक है और लोकधर्म की बाधा न रहने के कारण वह प्रेम तरल बन जाता है। किन्तु परकीया नारी का प्रेम समाजविरोधी होने के कारण, उसका उद्दाम उच्छ्वास सहज ही विकसित हो पड़ता है और अल्प समय में ही लोक लज्जा, भय, घृणा, वेद-विधि आदि विनष्ट हो जाते हैं। विशेष कर जिसको हम प्रेम-गुरु राधा समझेंगे, उसको भी गोपीस्वभाव प्राप्त करने के लिये एकान्त अनुराग का होना अत्यन्त आवश्यक है। अतः साधिका रमणी का प्रयोजन तो पड़ेगा ही वरना प्राकृत कामासक्त नारी के साथ पुरुष की भी अधोगति होगी। अतएव अपने स्वभावानुरूप नारी का अनुसंधान करना पड़ेगा। चंडीदास की आश्रिता साधिका गोपी थी श्रीमती राममणि रजकिनी (धोवन)। चंडीदास कहते हैं—

रजकिनी रूप किशोरी स्वरूप, काम गंध न समाये।
रजकिनी प्रेम निकषित हेम, बड़ु चंडीदास गाये॥

इस प्रकार की लक्षणाक्रान्त साधिका रमणी को श्रीराधा भाव का आश्रय देना पड़ेगा। ऐसा करने पर—

कुलवती सती युवती, सुशील सुमति भार।
हृदय-बीच चुरा कर नायक, करता भवनदी पार॥

इस प्रकार गोप्यनुगता रमणी के सिवा पुरुषान्तर-रता सभी रमणीयाँ व्यभिचारिणी होती हैं। व्यभिचारदुष्ट रमणीयाँ स्वयं

घोर अधर्म के पंक में निमग्न होती हैं तथा अपने साथी को भी अपनी ही तरह कलुषित करती हैं। इस तरह की रमणीयों के संसर्ग से पुरुष का मुक्तिपथ खुलने के बजाय नरक का पथ साफ होता है। चंडीदास कहते हैं—

व्यभिचारी नारी बन सकती नहीं कंडारो, चुन ले नायिका अपना।
छाया लगते ही व्यभिचारीणी का, नष्ट होता पुरुष धर्म का सपना॥

जिस रमणी को कृष्णकर्म करने के सिवा अन्य कुछ करने के लिये अवकाश नहीं, कृष्ण चिन्तन के सिवा अन्य चिन्तन के लिये हृदय में स्थान नहीं, जो रमणी देह-मन-प्राण से श्यामसुन्दर के परम प्रेम में विभावित रहता है, वही रमणी गोपीभावलाभेच्छु साधक के लिये उपयुक्त सहचरी बन सकती है। अतः गोपीत्व लाभ करने के लिये उस रमणी को जिस प्रकार गोपीजनोचित भाव तथा आचरण का अनुसरण करना पड़ता है, पुरुषों को भी चाहिये कि वे उसी भाव का अवलम्वन करें।

इस भाव साधना के लिये बंगाल के बाबाजो की कुटिया में वैष्णवीयों का समावेश होता दीखाई पड़ता है। ये बैष्णवीयाँ बाबाजी की सेवादासी नहीं, उनके प्रेमशिक्षादाता गुरु—श्रीमती राधिका हैं। काम-कामनासक्त बर्बर, उच्च अधिकारियों के कार्य में हस्तक्षेप करने के फलस्वरूप वे इस दशा को प्राप्त होते हैं। अस्तु, गोपीत्व को लाभ करने के लिये भक्तों को शास्त्रीय लक्षणाक्रान्त तथा स्वकीया भावानुगत नायिका चुन लेना पड़ता है। फिर वे इन्हें श्रीमती राधा समझ कर, उनको साथ लेकर, सखी की तरह

श्रीगुरु की साक्षात सेवा करते हैं। जहाँ वे साधक की तरह वाह्य शरीर से द्रव्यों के द्वारा उनकी वहिरंग सेवा करते हैं, उसी प्रकार वे अन्तश्चिन्तित गोपीदेह के द्वारा तद् उपयोगी द्रव्यादि के साथ नित्य सखी की तरह स्फूर्ति प्राप्त राधाकृष्ण की सेवा करते हैं। इस तरह साधनभक्ति के अनुष्ठान से भक्त क्रमशः गुणमय भाव को क्षय कर अन्तश्चिन्तित गोपीदेह की पुष्टि करते हैं। प्रेम के परिपाक हो जाने पर जब अनुगामी भक्त तथा उसका आश्रित साधक, गोपी अन्तर्जगत में सिद्धदेह को लेकर, संम्पूर्ण एक बन जाता है, तब वह अपने हृदमंदिर में श्रीकृष्ण को प्रेम के वंन्धन में सर्वदा के लिये बन्दो बना कर उनकी रास आदि नित्यलीला पारावार में चिरमग्न हो जाता है। इस तरह भक्त गोपी अनुगति के द्वारा गुणमय देह का अवसान घटा कर प्रेममय गोपीदेह के माध्यम से नित्यवृन्दावन की रासलीला में श्रीकृष्ण संग को प्राप्त करता हैं। चंडीदास को वाशुलीदेवी ने यही कहा था—

बोली बाशुली, अचरज ऐसी।
मर कर बनना रजक जैसी॥
छोड़ पुरुष को, प्रकृति बनो।
बन एक शरीर नित्य में गहो॥
करे जो संन्तुष्ट कर सेवा।
मिले फिर रूप-मंजरी का मेवा॥
जल ताम्बुल दे उसे मनाता।
कभी श्रीअंग में वसन सजाता॥

ले सखीदेह सेवा मनभायी ।
ब्रज में राधाकृष्ण, दोनों पायी ॥

इस प्रकार साधना के द्वारा भक्त का सिद्ध गोपीदेह के प्रकाश होने पर उसके प्रेम नेत्र में आश्रिता साधक गोपी, श्रीवृन्दावनेश्वरी प्रतीत होने लगती है और स्वकीय आत्मस्वरूप भी उसका अनुगत तथा उसीका प्रतिविम्व स्वरूप दीखाई पड़ता है ।

नित्य सखीगण जिस प्रकार राधा-ध्यान, राधा-ज्ञान, राधा-प्राण तथा राधा-अनुगत होकर ब्रजेश्वरी की सेवा करती है, उसी प्रकार भक्त आश्रित नायिका में निष्ठावान बन उसे राधा समझ कर काय-मन-प्राण से उसकी सेवा करता है । नायिकानिष्ठ, इस साधना को हमारे देश के लोग किशोरी भजन कहते हैं ।

———

किशोरी-भजन

किशोरी भजन किस प्रकार से करना चाहिये ? चंडीदास ने कहा है—

उठत किशोरी, बैठत किशोरी, किशोरी गल हार बनी ।
भजत किशोरी, पूजत किशोरी, किशोरी चरण सार बनी ॥
सयन सपन गमन भोजन किशोरी नयन तारा ।
जिधर निहारुँ किशोरी पाउँ, किशोरी जगत संसारा ॥

दूसरे पुरुष के संसर्ग में आने पर जो दोष रमणी का होता है, वही दोष पुरुष को भी अन्य रमणी के संसर्ग में आने पर होता

है। अतः पुरुषान्तर-रता व्यभिचारिणी रमणी जिस प्रकार साधना के योग्य नहीं होती उसी प्रकार ब्यभिचारी पुरुष भी साधना के उपयुक्त गण्य नहीं होता। सुतरां गुरुकृपापात्र नायक-नायिका परस्पर के प्रति अनुरक्त होकर श्रीराधाकृष्ण का अनुध्यान तथा उनकी मधुर लीला प्रसंग में रत होकर सदा सर्वदा आनन्द सागर में गोंते लगता रहता है। वे अपने अपने हृदय में स्वाभीष्ट गोपीस्वरूप की कल्पना कर एक दूसरे को साक्षात श्रीकृष्ण मानकर, ब्रजदेवी की तरह परस्पर की सेवा परिचर्या करते रहते हैं। किन्तु सर्वदा रमणीनिष्ठ होकर रहने पर आसंगलिप्सा अवश्यम्भावी है। प्राकृत नायक नायिका के काम कलुषित आसक्ति का परिणाम, इन्द्रियसुख को भोगना है। अतः इन्द्रिय परितर्पणमय माया कार्य के द्वारा उत्पन्न कामासक्ति, कभी भी पवित्र भागवत प्रेम में परिणत नहीं हो सकता। ये नायक नायिकायें इन्द्रिय परितर्पण की आशा में केवल इन्द्रियंसुख देने वाले ज्ञान के द्वारा एक दूसरे के प्रति आसक्त होते हैं और कामानल में आत्माहुति प्रदान कर नरक के पथ को प्रसारित करते हैं। जीव का इससे सर्वनाश होता है। आध्यात्मिक श्री नष्ट हो जाती है और देह-मन अकर्मण्य तथा भक्ति विनष्ट हो जाती है। अतएव नायिकानिष्ठ भक्त संयत होकर साधक गोपी की सेवा करते हैं। वह सेवा कैसा होता है?—

स्नान करुँ पर जल ना लागे, खोल कर अपना केश।
समुद्र प्रवेशूँ नीर न लागे, रहे न दुःख शोक क्लेश॥

रजनी दिवस रहुँ परवश स्वप्न रहे लगा नेह ।

रह कर साथ स्पर्श लगे न हाथ, भाव भरा वह देह ॥

किन्तु राय समानन्द राय की तरह यदि कोई संयत बन सके, प्रेम की साधना में काम यदि भस्म हो गया हो, फिर साधक नायिका के साथ कैसा भी व्यवहार करे इसमें दोष नहीं लगता। राय रामानन्द—

एक देवदासी फिर सुन्दरी तरुणी ।
करते अंग सेवा उसकी स्वयं गुणी ॥
कराते स्नान पहनाते उसे बास-विभूषण ।
गुह्य अंगों का भी होता दर्शन स्पर्शन ॥
निर्विकार फिर भी राय रामानन्द का मन ।
भावोद्गम समूह का उसको देते शिक्षण ॥
निर्विकार उनका देह मन, काष्ठ पाषाण सम ।
अति आश्चर्य तरुणी-स्पर्श निर्विकार मन ॥

इस प्रकार से रमणी सेवा करने पर भी मन इन्द्रिय विकार से विन्दुमात्र भी चंचल नहीं होता। ऐसा निर्विकार भक्त चाहे जिस तरह से भी आश्रिता साधक-गोपी की सेवा करे, दोष नहीं होता। किन्तु जिनका—

रस से भरा, सोने का लोटा, सामने रख कर खाता ।
खाते खाते पेट भरे ना, डूब उसी में जाता ॥
उस रस को पीता दिन और रात, हाथ भर भर पाता ।
खर्च करे तो बढ़े द्विगुण, छलक कर बहता जाता ॥

इस प्रकार प्रेममय भाव से संभोग करने वाले शृंगार आदि के द्वारा भी गोपी की सेवा परिचर्या करते हैं। जो साधक गोपी के साथ शृंगार रसात्मक साधना का अवलम्वन कर, शुक्र के निम्नश्रोत को बन्द कर सका हो, रतिरस में मत्त होने पर भी उसकी क्षति नहीं होती किन्तु वैसा करना साधन सापेक्ष है। पाठक! मैंने अपने 'ज्ञानीगुरु' पुस्तक के 'नादविन्दुयोग' शीर्षक प्रवन्ध में जिस साधनप्रणाली को व्यक्त किया है, उसका नाम विन्दु-साधना है।

———

शृंगार-साधन

यह शृंगार-साधन उस प्रकार का नहीं है। यह शुक्र परिचाक रूप धातव-साधन का ताप-प्रयोग मात्र है। जिस प्रकार गन्ने के रस को आग पर खौलाने से वह क्रमशः गाढ़ा बन कर गुड़ अथवा शर्करा आदि बन कर अन्त में निर्मल मिसरी का पिंड बन जाता है, उसी प्रकार चरम धातु भी शृंगार के प्रेम-संताप में क्रमशः प्रगाढ़ बन कर, काम-सम्पर्क शुन्य हो, अन्त में निर्मल तथा कठिन भगवत्-प्रकाशक विशुद्ध सत्व में पर्यवसित होता है। यह साधन-प्रणाली अत्यन्त कठिन तथा अतिशय भयंकर है। अतएव शृंगार-साधन का अधिकार लाभ किये बिना, उसके अनुष्ठान में प्रवृत्त होना उचित नहीं है। साधना का क्रम इस प्रकार से होना चाहिये—

सुषुम्ना नाड़ी के ६ स्थानों पर भिन्न भिन्न कर्मोपयोगी ६ स्नायु केन्द्र अवस्थित हैं। ये ६ स्नायुकेन्द्र शास्त्रोक्त* षठचक्र हैं। सुषुम्ना के अधोमुख का स्नायुकेन्द्र, मुलाधार तथा उपर का सर्वोच्च स्नायुकेन्द्र, आज्ञाचक्र कहलाता है। आज्ञाचक्र, बुद्धि या चेतना-शक्ति का निवासस्थल है। उपर महाकाश में चिदानन्दमय सहश्रदल विशिष्ट कमल अवस्थित है। यह चेतना-शक्ति समस्त शरीर में व्याप्त रहने पर भी वे मस्तिष्क में स्थित चेतना-शक्ति का आश्रय होने के कारण, उसकी कल्पना सबसे उपर की गई है।

मस्तिष्क तथा मेरु-मज्जा का सार रस शुक्र है। इसीलिये शुक्र को मज्जा-रस कहा गया है। इड़ा नाड़ी के अन्तर्गत ज्ञानात्मक स्नायुसमूह जिस प्रकार से रस-रक्त आदि शारिरीक उपादानों से सर्वदा शुक्र के कण समूहों को संग्रह करके उन्हें मस्तिष्क में लाकर उसको पुष्ट बनाता है, उसी प्रकार से पिंगला नाड़ी के अन्तर्गत कर्मात्मक स्नायु समूह मस्तिष्क से शुक्रकणों को ग्रहण कर सर्वदा देहेन्द्रियों के कार्य में उसे व्यय कर उसका क्षय साधन करते हैं। किन्तु साधारण देहेन्द्रियों का जहाँतक प्रश्न है शुक्र का क्षय अनुपरिमाण धीरे धीरे होने के कारण हमें उसका

---

* षठचक्र नाड़ी तथा वायु आदि की चर्चा तथा साधक के अवश्य ज्ञातव्य विषय, मेरे 'योगीगुरु' पुस्तक में तथा विन्दु साधना के उपाय, मेरे 'ज्ञानीगुरु' पुस्तक में, विन्दुसाधन को उपकारिता अथवा प्रयोजनीयता के विषय में उक्त ग्रंथ में एवं 'ब्रह्मचर्य-साधन' नामक पुस्तक में विस्तृत रूप से वर्णित किया गया है।

पता नहीं चलता। केवल शृंगार-क्रिया में ही अधिक मात्रा में एकत्रित व्यय होने के कारण वह स्पष्ट रूप से दीखाई पड़ता है। नर नारी का मस्तिष्क विक्षुब्ध होने पर वहाँ से शुक्रसमूह निःसृत होकर पिंगला नाड़ी के अन्तर्गत कर्मात्मक स्नायुसमूहों के द्वारा पहले पहले सुषुम्ना के मुँह पर पहुँच कर फिर कामवायु की प्रतिकूलता से वह अधोगामिनी नाड़ी को अवलम्वन बनाकर मूत्रनाल के पथ से बाहर निकलता है। यदि उस समय पिंगला नाड़ी बहती हो तो शुक्र का यह निम्न प्रवाह-वेग अधिकतर वर्धित होता है। शुक्र फिर अनुकूल वायु पाने के कारण प्रवल वेग से वह बाहर निकलता है। अतः दक्षिण देश में अवस्थित पिंगला नाड़ी का बहता वायु प्रेम-साधन के अनुकूल नहीं होता।* शृंगार में जब पिंगला नाड़ी के अन्तर्गत कर्मात्मक स्नायु समूहों के द्वारा शुक्रराशि बाहर निकल कर सुषुम्ना के मुख पर उपस्थित होता है तो गुरु-उपदिष्ट उपायों से अधोगति का पथ अवरुद्ध होकर वह इड़ा के मुख में प्रविष्ट होता है और उसके ज्ञानात्मक स्नायुसमूहों के द्वारा पुनः वह मस्तिष्क पर पहुँच जाता है।

गुरु के द्वारा उपदिष्ट यह प्रणाली प्राणायाम के सिवा अन्य कुछ भी नहीं। किन्तु योगशास्त्रोक्त प्राणायाम की तुलना में

---

* न जाउ कभो दक्षिण देश, गये प्रमाद होय।
सोचो इसको रात दिन, सहज मिले सब तोय॥

इसमें कुछ विशेषतायें हैं। इसमें पहले रेचन फिर पूरण और अन्त में कुंभक करना होता है। शृंगार में आसक्त होकर पहले अनामिका तथा कनिष्ठांगुल के द्वारा बाँये नासापुट को बन्द कर सोलह बार मूलमंन्त्र जप करते हुये दाँये नासापुट को अगुली से बंन्द कर बत्तीस बार मूलमंन्त्र जप करते करते बाँये को वायु से पूर्ण करना होगा। फिर दानों नासापुटों को बन्द कर चौंषठ बार मूल मंन्त्र जपते हुये बायु का स्तंभन करने से सुषुम्ना मार्ग प्रच्छन्न नहीं रहता, वह उद्घाटित होकर चिज्जगत को प्रकाशित करता है। इस प्रक्रिया के द्वारा शृंगार के धातु को रक्षा करने की समर्थता बढ़ती है। सम्यक रूप से प्राणायाम के अभ्यास करने पर और उस कौशल में परिपक्क हो जाने पर, शृंगार-साधन को आरंभ करना पड़ना है।*

शृंगार साधना को संपूर्ण करते समय शुक्र इड़ानाड़ी के पथ के द्वारा पुनः मस्तिष्क पर चढ़ता है। इस समय इड़ा नाड़ी बहते रहने के कारण, शुक्र के उस उर्द्ध प्रवाह का वेग अधिक बढ़ जाता है। फिर शुक्रराशि को अनुकूल वांयु मिलने के कारण वह अनायास हो मस्तिष्क पर पहुँच जाता है। अतएव इड़ा नाड़ी के द्वारा श्वाँस बहते समय शृंगार साधना करना उचित है

---

* मेरी 'योगीगुरु' तथा 'ज्ञानीगुरु' ग्रंथों में प्राणायाम तथा उनकी साधन प्रणालीयों का विस्तृत रूप से वर्णित है। प्रवर्तक साधक पहले उन पुस्तकों में दर्शाये हुये प्राणायाम का अभ्यास किया करें।

क्योंकि इड़ानाड़ी के बीच बहता वायु प्रेम-साधन के अनुकूल होता है।*

यदि कोइ शृंगार-साधन में प्रथम प्रवृत्त हुआ हो, तो वह शृंगार काल में मस्तिष्क से शुक्रराशि को पिंगला के मार्ग के द्वारा सुषुम्ना के मुँह पर उपस्थित होते समय, प्रयत्न के द्वारा उसको इड़ा मार्ग में प्रेरण करते समय वास्तव शृंगार रस का आस्वादन करने में समर्थ नहीं होता। क्रमशः गुरु-उपदिष्ट साधन प्रभाव से सुषुम्ना के द्वार पर अवस्थित काम वायु को सम्पूर्ण रूप से अपनी मुट्ठी में कर लेने के पश्चात, शुक्र के नीचे उतरने के पथ को बन्द कर देना पड़ता है। फिर प्रेममय शृंगार में मस्तिष्क से शुक्रराशि पिंगला के पथ से सुषुम्ना के मुँह पर उपस्थित होता है। फिर वह कोई कष्ट किये बिना ही स्वतः इड़ापथ के द्वारा पुनः मस्तिष्क पर पहुँच जाता है। वास्तव शृंगार रस का आस्वादन उसी समय होता है।

इस प्रकार नायक-नायिका जब प्रेममय शृंगार के अनुष्ठान के द्वारा धातुराशि का मंथन कर के उसमें से चिदानन्दमय सहस्रकमल को प्रकाशित करता है तो उस धातु सरोवर में एक ही साथ दो प्रवाहों का उदय होता है। उनके धातुमय मस्तिष्क से धातुराशि निःसृत होकर एक ओर पिंगला के अन्तर्गत कर्मात्मक स्नायु-समूहों के द्वारा सुषुम्ना के मुँह पर उपस्थित होता है, उधर दूसरी

---

* साधन काल खींचो केवल, इड़ा के द्वारा श्वाँस।
होता नहीं उसका पतन, जगत फैले सुवास॥

ओर उसी सुषुम्ना के मुँह पर अवस्थित शुक्रराशि इड़ामार्ग में प्रविष्ट होकर उसमें स्थित ज्ञानात्मक स्नायु समूहों के द्वारा पुनः मस्तिष्क पर पहुँचता है। इस प्रकार साधक नरनारी के इड़ा औंर पिंगला के अन्तर्गत उर्द्धगामी और अधोगामी दोनों धातु-प्रवाह मिल कर एक बन जाते हैं। इड़ा पिंगला के मिलन होते ही उभयात्मक सुषुम्ना का मार्ग उद्घाटित हो पड़ता है। सहश्रा से लेकर मुलाधार तक चित्‌शक्ति प्रकटित होकर, अष्टकमल की पंखुरियों पर, राधाकृष्ण के स्वरूप को प्रकाशित कर देते हैं। इसीलिये तो रसिकशिरोमणि चंडीदास ने कहा है—

दोनों धारायें जब रहतीं साथ।
रसिक युगल फिर देख अघात॥

इसी हेतु उस स्थिति में प्रेमिक नरनारी नित्यप्रेम विलास-बिवर्तनशील श्रीराधाकृष्ण के भेदाभेद स्वरूप को अवलोकन कर, प्रेमानन्द में मुर्च्छित हो पड़ते हैं और राधाकृष्ण के अनुरूप दशा को प्राप्त होते हैं। निष्काम भक्त नरनारी, प्रेममय शृंगार के द्वारा चित्‌शक्ति के सार को हृदयकमल में प्राप्त कर सब प्रकार के भेदज्ञान को त्याग देते हैं और किसी एक अनिर्वचनीय आनन्दसागर में निमग्न हो जोते हैं। उनका यह प्रेमविलास सुखानुभूति लौकिक ज्ञानबुद्धि से परे और शास्त्रयुक्ति के अतीत है। केवल मात्र वे समझ पाते हैं कि नित्य प्रेम-विलास-बिवर्तनशील श्रीराधाकृष्ण का प्रेमानन्द भाव कितना व्यापक तथा महान है। इसी हेतु वे ही इस प्रकार के प्रेममय शृंगार

के उस अनिर्वचनीय आनन्दमय वस्तुको हृदयकमल में लाकर, उसका आस्वादन समस्त इन्द्रियों के माध्यम से करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार उनका देहेन्द्रिय, साध्य प्रेमसाधन के द्वारा, उज्जूल प्रेमानन्दमय गोपीस्वरूप में पर्यवसित होता है। जिस प्रकार काठ के टुकड़ों को रगड़ने पर उनका प्रच्छन्न अग्नि, आत्मप्रकाश कर दोनों काठ के टुकड़ों को अग्निमय कर डालता है, उसी प्रकार से शृंगार-रस-परायण नरनारी के मस्तिष्क का गुप्त चित्‌शक्ति प्रेममय शृंगार के समस्त स्नायुमय केन्द्रों में प्रकटित होकर उन्हें चिदानन्दस्वरूप प्रदान करते हैं।

सुषुम्ना के मुख का शुक्रराशि अधोमार्ग से निःसृत होना साधारण मानव का स्वामाविक धर्म है। उस स्वाभाविक धर्म का परिवर्तन ही शृंगार रस की पहली सीढ़ी है। अतः जो शृंगार रस साधन में अभी प्रवृत्त हुये हों, वे सबसे पहले सुषुम्ना के मुख के संचित शुक्रराशि को इड़ामार्ग के द्वारा मस्तिष्क में प्रेरण करने की चेष्टा करते हैं तथा अल्प चेष्टा से ही वे सफल भी होते हैं। शुक्र का उर्द्ध प्रवाह सिद्ध हो जाने पर भक्त अनर्थ होने के हाथों से बच कर निष्ठा लाभ करता है और प्रेमभक्ति देवी की करुणारुपी अमृत धारा से अभिषिक्त होता है। इसको प्रवर्त्तक भक्तों का **कारूण्यामृत** धारा में स्नान करना भी कहते हैं। शृंगार में रति के स्थिर होते ही, साधक उर्द्धगति और मस्तिष्क में स्थित शुक्रराशि को सहज ही पिंगला पथ के सहारे सुषुम्ना के मुख पर उतारने में समर्थ नहीं होता, और वह जब तक नीचे उतरता नहीं,

प्रेमानन्द भी लाभ नहीं होता। इसी कारण साधक यत्न पूर्वक मस्तिष्क स्थित साधना के द्वारा परिपक्व शुक्रराशि को पिंगला मार्ग के माध्यम से सुषुम्ना के मुख पर लाते हैं। आज्ञाचक्र से लेकर मूलाधार तक उनके समस्त स्नायुकेंन्द्र सहस्रास्थित प्रेमानन्द प्रवाह से प्लावित रहता है। उनके देह की समस्त इन्द्रियाँ प्रेम-रस से पुष्ट होकर श्रीकृष्ण भोग्य तारूण्य को प्राप्त होता है। इसको साधक भक्तों का **तारुण्यामृत** धारा में स्नान करना कहते है। ऐसे नरनारी का, साधनकाल से ही, शुक्र सरोवर के उर्द्ध तथा अधः प्रवाह स्वभावसिद्ध बना रहता है। इनके इड़ा तथा पिंगला नाड़ी का मुख संयुक्त हो जाता है एवं सुषुम्ना का मार्ग खुल जाता है। अतः वे प्रेममय राज्य में प्रवेश कर सहज प्रेम के सिद्ध शृंगार रस का आस्वादन करते हैं। इस अवस्था में सिद्धभक्त **लावण्यामृत** धारा में अभिषिक्त होकर श्रीराधाकृष्ण की नित्यलीला को प्राप्त होते हैं।

सिद्धभक्त के लिये सिद्धदशा में सहज ही, सहज प्रेम-रस का आस्वादन करना ही सहज साधना है। स्वभावानुगत साधना को 'सहज साधना' कहते है। जो भोग को चाहता है, यदि उसको योगपथ प्रदान किया जाये तो यह उसके लिये स्वभाव-विरुद्ध बात होगी। किन्तु भोग के माध्यम से यदि वह योगपथ पर उत्तीर्ण हो सके तो यह उसके स्वभावानुसार होने के कारण, उसे 'सहज' आख्या दी गई है।

श्रीकृष्ण भी मनुष्य थे और प्राकृत नरनारी भी मनुष्य हैं। किन्तु प्राकृत नरनारी जिस प्रकार माया के गुणों से रंगे हुये विकृत मनुष्य हैं, श्रीकृष्ण वैसे नहीं थे। वे शुद्ध एवं नित्य-मनुष्य-मंडली के आराध्य स्वतःसिद्ध मनुष्य हैं। इसीलिये उनको 'सहज मानुष' कहा गया है। आदिपुरुष श्रीकृष्ण सहज मनुष्य हैं और उनका नित्य पारिषद गोप-गोपीयाँ भी सहज मनुष्य हैं। मनुष्यधाम नित्य वृन्दाबन में सहज मनुष्य श्रीकृष्ण, सहज मनुष्य गोप-गोपीयों के, सहज प्रेम में चिर ऋणी होकर उनके साथ नित्य मनुष्य लीला कर रहे हैं। चंडीदास ने कहा है—

गोलक उपर मनुष्य बसत, उससे परे न कुछ।
मनुष्य बन कर बास करे, तब मिले मनुष्य को सूझ॥

इस मनुष्य धाम के मनुष्य लीला में मनुष्य के अतिरिक्त अन्य किसी का अधिकार नहीं होता। जो मनुष्य का अनुगत होकर सर्वदा मनुष्याचार करता है, केवल वही मनुष्य होकर, इस मनुष्य लीला का अधिकारी बनता है। सहज मनुष्य श्रीकृष्ण, मनुष्य के रूप में, मनुष्य मंन्त्र प्रदान करते हैं, मनुष्य के रूप में मनुष्यता की शिक्षा देते हैं और फिर मनुष्य के रूप में मन-प्राण का हरण भी करते हैं। उसीलिये प्राकृत मनुष्य सहज भाव से सहज मनुष्य का अधिकारी बन कर स्वरूप में सहज मनुष्य को भजते हैं। सहज बन कर सहज मनुष्य के इस साक्षात उपासना को सहज-भजन कहते हैं।

नित्य वृन्दावन में दास, सखा, गुरु (पिता, माता आदि)

और कान्ता—चार प्रकार के मनुष्य रहते हैं जो सहज मनुष्य श्रीकृष्ण के नित्य सिद्ध सेवक हैं। इसी तरह संसार में भी चार भावों के चार प्रकार साधक-मनुष्य बर्तमान हैं। इन चार प्रकार के साधक-मनुष्य के चतुर्विध साक्षात् उपासना को ही सहज भजन है। किन्तु रसिक भक्तगण मधुररस के अन्तरंग साधक हैं और इसीलिये उनलोगों ने मधुररस के साक्षात उपासना को **सहज भजन** कहा है। चंडीदास के इष्टदेवी ने उन्हें जपतप को त्याग, सर्वसाध्य श्रेष्ठ सहज साधना में नियुक्त किया था —

चंडीदास को मार तमाचा, बोल उठी बाशुली माई।
सहज भजन करो मनन, अन्य न दूसरा कोई॥
त्याग दो जपतप करो आरोप एक ज्ञान कर मन में।
कहती हूँ जो सुने उसे, इस चौंषठ के सन् में॥

अतएव नायक-नायिका का शृंगार रसात्मक साधना ही, सहज भजन है। प्रापंचिक नरनारी भी गोपीयों की तरह सहज मनुष्य हैं। उनमें भी गोपीयों की तरह सहज मनुष्य श्रीकृष्ण के साथ भेदाभेद रहता है। केवल मायाशक्ति के आवरण के कारण, वे आत्मस्वरूप तथा श्रीकृष्ण के स्वरूप को अभिन्नता को उपलब्ध नहीं कर पाते। किन्तु शृंगार के चरम अवस्था में जब सहज मनुष्य श्रीकृष्ण रममाण नरनारी के हृदय कमल में विद्युत विलास वत् प्रकाशित होते हैं, तो अन्धकार में सूर्योदय की भाँति उनकी स्वरूप आच्छादिका माया विलुप्त हो जाती है। वे उसी क्षण श्रीकृष्णके साथ भेदाभेदशुन्य अपने स्वरूप को प्राप्त

होते हैं और उसी मुहुर्त अभेद अंश में 'त्वमहं' ज्ञान शेष होकर विभेद के अंश में आनन्दमय कृष्ण की स्वरूप मूर्ति का आस्वादन करते हैं। प्राकृत नरनारी भी काममय शृंगार की चरम अवस्था में कम से कम एक निमेष के लिये भी उस सहज मनुष्य श्रीकृष्ण को हृदय कमल में प्राप्त कर क्षण भर के लिये भी स्वयं सहज मनुष्य बन जाता है। प्रेममय शृंगार-साधना में उसी सहज मनुष्य श्रीकृष्ण को हृदय कमल में चिरकाल तक बन्दी बना कर भक्त स्वयं भी सहज मनुष्य बन जाता है। इसीलिये सहज-भजन-शील रसिक नायक-नायिका, निरन्तर अटल सिंहासन पर अधिष्ठित होकर प्रेममय शृंगार के अनुष्ठान में सर्वदा अपने हृदय कमल में सहज मनुष्य श्रीकृष्ण को प्रकटित करते हैं। रसिक भक्त ने तो गाया भी है--

रस-रति जिसके साध्य।
जगत सारा उसका बाध्य॥

प्राकृत नरनारी शृंगार के चरम मुहुर्त में वीर्य के स्खलन होते समय जिस अनिर्वचनीय आनन्द को क्षण भर के लिये अनुभव करता है, साधक नायक-नायिका सिद्धावस्था में उससे कोटिगुण अधिक आनन्द सदासर्वदा भोग किया करते हैं। सहज मनुष्य श्रीकृष्ण केवल गोपीप्रेम का ऋणी है। वह गोपी हृदय में प्रेम की डोर से बँधा हुआ है। अतएव सहज भजन परायण नरनारी सहज भजन के द्वारा गोपी दशा को प्राप्त कर, प्रेम की डोर से, सहज मनुष्य श्रीकृष्ण को बन्दी बनाकर, स्वयं सहज मनुष्य बनकर,

नित्य वृन्दावन को प्राप्त करते हैं। सुतरां भक्ति प्रतिकूल इन्द्रिय सुखभोग से वे स्वतः दूर चले जाते हैं। यथा—

परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः।
मिथो रतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः॥

इस प्रकार नायक नायिका शृंगार रसात्मक साधन भक्ति के अनुष्ठान के द्वारा भक्ति-प्रतिकूल अनर्थ के हाथों से बच निकलते हैं। और शृंगार रसात्मक सेवा के माध्यम से चरम धातु की रक्षा करने में समर्थ होते हैं। अनर्थ के निबृत्त होते ही प्राकृत काम वशीभूत हो जाता है और चित्त में स्थिरता आजाती है। इस अवस्था में प्रियजन के संसर्ग को छोड़, अन्तःकरण में अन्य किसी पात्र में अनुरक्ति होने की संभावना नहीं रहती। अतः अनर्थ-निवृत्ति के द्वारा अन्त में प्रेमिक दम्पति एक दूसरे के श्रीचरणों में निष्ठा भक्ति लाभ करते हैं। इस प्रकार के निष्ठावान नायक-नायिका एक दूसरे को अत्यधिक रूप गुण सम्पन्न अनुभव करते हैं तथा परस्पर को सर्वोत्तम कान्त समझने लगते हैं। फिर उनमें सर्वदा एक दूसरे के संसर्ग की इच्छा प्रवल होती है तथा अनुक्षण दर्शनाभिलाष लगा रहता है। अतः निष्ठा के द्वारा धीरे धीरे उनके हृदय में रुचि का संचार होता है। रुचि के जनमते ही वे एक दूसरे में दोष गुण को नहीं ढूँढते, केवल परस्पर के सुखमय संसर्ग को अभिलाषा उनमें रहती है। स्वाभिलाष-संसर्ग ही आसक्ति का एक मात्र जनक है। सर्वत्र रुचिकर संसर्ग के जागते ही आसक्ति का संचार होता दीखाई पड़ता है।

इसीलिये रुचिसम्पन्न रागानुगीय भक्त दम्पति परस्पर के अभिलाषामय संसर्ग से शनैः शनैः अत्यासक्ति के अधिकारी बन जाते हैं। आसक्ति के जनमते ही वे एक दूसरे को एक अतुलनीय सुमधुर पदार्थ जैसा अनुभव करते हैं। इस अवस्था में वे कुलधर्म-लाज-धैर्य आदि को भूल कर, एक दूसरे को भजन करते रहते हैं। प्रियजन के सुख-साधन के निमित्त वे सब प्रकार के आत्मसुख का विसर्जन कर डालते हैं। कालक्रम से अत्यासक्त ऐसे नायक नायिकाओं में प्रीत का संचार होता है। इसी को गोपीका-निष्ठ समर्थारति कहते हैं। इस रति के श्रेष्ठ नायक-नायिका परस्पर को मूर्तिमान आनन्दस्वरूप अनुभव करते हैं और एक दूसरे को स्मरण-मनन के द्वारा आनन्द सागर में गोते लगाते रहते हैं। इस स्थिति में उनका देहेन्द्रिय सुख मानो परस्पर के देहेन्द्रिय सुख के साथ मिल कर एक हो गया हो किन्तु फिर भी एक दूसरे के सुख सम्पादन में सर्वदा रत होकर प्रियजन से भी कोटिगुण अधिक सुख उपभोग करते हैं। यही प्रीति उनके प्रेमविलास में, क्रमशः परिपूष्ट होकर अन्त में प्रेमस्वरूप में परिणत हो जाता है। शास्त्र कहता है—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसंगोऽथ भजनक्रिया,
ततोऽनर्थनिबृत्तिः स्याततो निष्ठा रुचिस्ततः।
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदंचति,
साधकानामयं प्रेम्नः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु

इस प्रकार के रागानुगीय श्रद्धावान साधक-दम्पति, भक्ति साधना में परिपूष्ट होकर गोपीकानिष्ठ निर्मल प्रेम में, पर्यवसित होते हैं। कोयले में शर्करा का भाग वर्तमान है किन्तु सौ बार उसको धो डालने पर भी वह शर्करा नहीं बनता जब तक वैज्ञानिक उपायों के द्वारा उसे हम मिठा चिनि न बनायें; उसी प्रकार प्राकृत नरनारी के कलुषित शृंगार तथा पंकिल काम में भगवान के प्रेमानन्द का स्वाद रहने पर भी वे उसका अनुभव नहीं कर पाते और वे कदाचि भगवत प्रेम को लाभ नहीं कर सकते जब तक प्रेमिक दम्पति गुरु-उपदिष्ट शृंगार-रसात्मक साधन-भक्ति के द्वारा क्रमशः प्रेमभक्ति को लाभ न कर सकें। परिपक्व दशा में यही प्रेम, स्वकीय उज्ज्वल प्रेम रसवृत्ति को प्रकाश करता है। उसी के प्रभाव से साधक दम्पति श्रीकृष्ण के स्वरूप को अनुभव करते हैं—उनके उज्ज्वल प्रेमरस का आस्वादन करते हैं। इस स्थिति में उनके मनश्चिन्तिताभीष्ट गोपी सिद्धदेह के रूप में आत्म-प्रकाश करते हैं। अतएब बाहर से मायामय स्वरूप रहते हुये भी अन्तर में वे गोपीस्वरूप को प्राप्त होते हैं। यह अवस्था मायामय स्वरूप में वर्तमान रहते हुये भी अभिन्न होता है। उनके चित्त के परिपाक के अनुसार गोपीदेह जितना पुष्ट बनेगा, उतना ही मायामय देह का अवसान होता रहेगा। अन्त में मायिक देह के शेष होते ही साधक-दम्पति केवल आनन्दघन स्वरूप में विराज करते हैं।

यह साधन-लव्ध गोपीदेह कोई विशेष गुणमयी मूर्ति नहीं होती, वह आनन्दघन विग्रह होता है। जड़ शरीर

में एक के साथ अन्य का भेद रहता है किन्तु चिदानन्द विग्रह में स्वगत भेद नहीं रहता। साधक के हृदय में अवस्थित गोपीदेह जड़मूर्ति की तरह भिन्न वृत्ति संपन्न तथा अंग प्रत्यंग विशिष्ट नहीं होता, वह सर्वेन्द्रिय वृत्ति सम्पन्न तथा स्वगत भेदवर्जित केवलानन्द मूर्ति होती है।* इसीलिये गोपी कृष्ण का मिलन प्राकृत नरनारी का मिलन नहीं है, वह सर्वांगीण संभोग है। जब साधक-दम्पति इस प्रकार गोपीदेह को प्राप्त करता है तो वे अपने को केवल आनन्दमयी कृष्णप्रिया जैसा अनुभव करते हैं। उन्हें किसी नये शरीर का बोध नहीं होता। फलतः श्रेष्ठ रति भक्ति गोपी-जनोचित मनोवृत्ति समूहों को लाभ करते हैं। वे गोपीयों की तरह सर्वांगीण संभोग रस के आभास को उपलब्ध करते हैं। बे इसीलिये गोपी बने। इसके अतिरिक्त भक्त के हृदय में किसी विशेष मूर्ति का उदय नहीं होता।

जिस प्रकार श्रेष्ठ रतिरसिक दम्पति अपने अपने आत्म-स्वरूप को नव गोपी समझते हैं उसी प्रकार परस्पर को भी प्रेमानन्दमयी गोपी मानते हैं। वे एक दूसरे के गोपीजनोचित भाव चेष्टा मुद्रा को देखते हैं और परस्पर को नित्यसिद्ध सखी समझ बैठते हैं। उनके चित्तका भाव क्रमशः प्रेमविलास में पुष्ट बन कर उज्ज्वलाख्य प्रेमस्वरूप में पर्यवसित होता है। इस प्रकार प्रेमोदय होने पर उनका सिद्ध गोपीदेह परिपुष्ट होता है।

---

* "अंगानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति" तथा "आनन्दमात्रकरपादनखोदरादि सर्वत्र च स्वगतभेदविवर्जितात्मा"—गोपीस्वरूप ऐसा होता है।

इस प्रकार उनमें उन्मुखयौवना कान्ता जैसी पतिसंसर्ग की योग्यता उत्पन्न होती है और उनके प्रेमपुष्ट देह में स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, महाभाव आदि उज्जूल रसात्मक प्रेमविलास के संचारका होना आरंभ होता है। इस स्थिति में चित्शक्ति उनके प्रेमनेत्र के समक्ष श्रीकृष्ण के महा अन्तःपूर के द्वार को उद्घाटित करता है और उनको वृन्दावन का समस्त संपद प्रदान करता है।

अतएव उज्जूल प्रेम का अधिकारी बनने पर ही भक्त, सिद्धि लाभ करता है—गोपी बन कर श्रीवृन्दावन में प्रवेश करता है। वहाँ स्वकीय गुरुरूपी नित्यसखी के साथ वह अभिन्न बन कर स्वयं नित्यसखी बनकर श्रीराधाकृष्ण लीला में सदा के लिये डूब जाता है। यथा—

राधाया भवतश्च चित्तजतुनो स्वेदैर्विलाप्य क्रमाद्
युंजन्नद्रिनिकुंजकुंजरपतेर्निर्धुतभेदभ्रमम्।
चित्राय स्वयमन्वरंजयदिह व्रह्मांडहर्म्योदरे
भूयोभिर्नवरागहिगुंलभरैः शृंगारकारुःकृती॥

—उज्जूलनीलमणि

जिस प्रकार लाखा (जतु) के दो टूकड़ों को जोड़ कर हिंगुल वर्ण के रंग से रंगीन बनाकर उसे आग में तपाने पर, अन्दर और बाहर से वे हिंगुलाकार बन जाते हैं, उसी प्रकार शृंगार रसात्मक नायक नायिकायें भी आश्रयविषयभावापन्न उज्जूल रसमय दोनों चित्त को प्रदीप्त प्रेम संताप के द्वारा नित्यसखीभावमयी अभिन्न

चित्तता को प्राप्त होते हैं। वे अविद्या योग रहित आनन्दघन मूर्ति को प्राप्त होकर नित्यसखी के रूप में श्रीराधाकृष्ण के अनन्त विलास सागर में अनन्तकाल के लिये डूब कर उनके असमोर्ध्व प्रेम-रसमाधुर्य का आस्वादन करते हैं।

शृंगार रसात्मक साधन भक्ति के अनुष्ठान में गोपीभावलुब्ध साधक ऐसे आश्रित गुरुरूपा नित्यसखी के साथ अभिन्न होकर श्रीवृन्दावन में पहुँचते हैं।

———

साधना के स्तर तथा सिद्ध के लक्षण

प्रेमभक्ति के प्रचारक महाप्रभु श्रीगौरांगदेव के महासमाधि के पश्चात उनकी भक्तमंडलियोंने जिस संप्रदाय का गठन किया, उसे 'गौड़ीय वैष्णव संप्रदाय' कहते हैं। उनका प्रधान लक्ष्य उज्ज्वल मधुर रस की साधना है। उस संप्रदाय में दास्य आदि रस के साधक नहीं होते ऐसी बात नहीं किन्तु वह संप्रदाय प्रधानतः मधुर रस का प्रवर्तक रहा है। उनके गोस्वामीयों ने मधुर रस के शास्त्र भी रचे हैं जिन्हें भक्तिशास्त्र कहा जाता है। काम-कामना-मुक्त निर्विकार साधक के सिवा अन्य कोई उस रस-तत्व तथा साध्य-साधन का अधिकारी नहीं होता। इसीलिये वैष्णव संप्रदाय के अधिकांश व्यक्तियों ने निर्मल राग मार्ग को लक्ष्य बना कर सहज-भजन पंथ का अवलम्वन किया है। किन्तु यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि वैष्णव धर्म के अभ्युदय काल

में वैष्णवाचार्यों ने यथासंभव तंत्रोक्त पशुभाव को प्रधानता देकर वाह्यिक शौचाचार के पक्षपाती बने हैं। उन्होंने प्रचार किया कि आहार-विहार में शौच तथा अन्य सब विषयों में शुचिशुद्ध रहकर नाम को ब्रह्मज्ञान मान कर केवल मात्र भगवान का नाम जपने पर ही जीव सिद्धकाम बन सकता है।

किन्तु उनके तिरोधान के अल्पकाल पश्चात ही प्रवृत्तिपूर्ण मानव-मन ने उनके प्रवर्तित शुद्ध मार्ग में भी कलुषित भाव का प्रवेश करवा दिया है। सूक्ष्म भाव को छोड़ कर स्थूल विषयों को वह ग्रहण कर बैठा है। परकीया नायिका के उपपति के प्रति आन्तरिक आकर्षण को ईश्वर पर आरोप करने के बदले, वे परकीया स्त्री पर करने लगे। उनके प्रवर्तित शुद्ध योग मार्ग में अल्पमात्रा भोग को प्रवेश करवा कर उन्होंने उसे अपनी प्रबृत्ति के अनुसार तोड़ मड़ोड़ दिया हैं। और वे करते भी क्या? वे उस मात्रा तक शुद्धभाव रखने में असमर्थ थे। अतएव वे भोग और योग के मिश्रित भाव को ही ग्रहण कर सके हैं। वे धर्मलाभ करना चाहते तो थे किन्तु उसके साथ साथ अल्प मात्रा में रूप रस आदि के भोग की लालसा भी रखते थे। इसी कारण वैष्णव संप्रदाय में कर्ताभजा, आउल, बाउल, साँई, दरवेश, सहजिया, आलेखिया आदि मतवादों की उपासना तथा गुप्त साधन प्रणालीयों की उत्पत्ति हुई। तंत्रोक्त पशु आचार के बदले उन्होंने कुलाचार प्रथाओं का अवलम्वन किया है।

वंगाल के हर शहर और गाँव में ऐसे वैष्णवों की स्वतन्त्र बस्तियाँ फैल गई हैं। योग को छोड़, भोग को ही उन्होंने अपना उद्येश्य बना लिया है किन्तु अपने को धार्मिक कहते फिरते हैं। साधारण मनुष्य धर्म के योग रहस्य को न जानने के कारण, केवल उनके बाहरी भोग को देख कर प्रलुब्ध होता है और धर्म मार्ग को कलुषित करता फिरता है। धर्मराज्य के श्रेष्ठ सिंहासन को भूत प्रेतों ने अधिकार कर लिया है। यह वेदना का विषय है कि आज उन्हीं की संख्या बढ़ती जा रही है। जिस तरह तान्त्रिक साधक पंच-मकार के नाम पर शराव की बोतले खाली कर रहे हैं, माँस के लोभ में प्रशुओं की हत्या कर रहे हैं, उसी प्रकार सहज भजन के नाम पर सहज ब्यभिचार कर रहे हैं। इसी कारण समाज के शिक्षित लोग, वैष्णवों के मधुर रस का नाम आते ही घृणा से नाक सिंकोड़ते हैं। ईश्वर तुल्य हमारे वैष्णव गोंसाई को वे लंपट, बदमाश से भी अधिक घृणा की दृष्टि से देखते हैं। पथभ्रष्ट वैष्णव भलेही उपेक्षा के पात्र हों किन्तु उनका पथ तो घृण्य नहीं है। बराबर से ही धर्मराज्य का अधिक अंश भूत-प्रेत ओर बर्वरों के द्वारा अधिकृत रहा है। तथापि उनमें कभी कभी नन्दी अथवा हनुमान का दर्शन हमें मिलता है। धर्म के नाम पर अधर्म किया जा सकता है किन्तु उसका यह अर्थ नहीं कि साधन पंथ दूषित है। मैं विनष्ट हो सकता हूँ किन्तु धर्म कभी विनष्ट नहीं होता। इनके पीछे वही प्राचीन वैदिक कर्मकांड का प्रवाह दीखाई पड़ता है। वहाँ योग भोग का मिलन-तथा तांन्त्रिक

कुलाचार्यों के द्वारा प्रवर्तित अद्वैत-ज्ञान और उनकी प्रतिक्रिया के सम्मिलित भाव भी मिलते हैं। तंन्त्र शास्त्रानुसार सर्वोच्च अकुल स्थान सहश्रा है और सर्वनिम्न कुलस्थान मूलाधार है। यहीं पर शुक्र संम्पर्कित साधना का अनुष्ठान करना पड़ता है। इसीलिये इस साधना को कुलाचार प्रथा कहा गया है। योगेश्वर महादेव कहते हैं—

कुलाचारं बिनां देवि कलौ मन्त्रं न सिध्यति।

—निरुत्तरतंन्त्र

कलिकाल में कुलाचार के सिवा अन्य कोई भी मन्त्र सिद्ध नहीं होता। वास्तव में कलि का भोगपरायण जीव काम के चंगुल से निकल न सकने पर धर्मराज्य में भला कैसे प्रवेश करेगा? इसीलिये वे कुल साधना के द्वारा काम मुक्त होकर, भाव के राज्य में प्रवेश करने में समर्थ होते हैं। कर्ताभजा आदि वैष्णव शाखाओं के संप्रदाय का ईश्वर, मुक्ति, संयम, त्याग, प्रेम आदि शब्दों के उल्लेख से ही पाठक हमारे पूर्वोक्त बातों को आसानी से समझ गये होंगे। इस संप्रदाय के लोग ईश्वर को 'आलेक लता' कहते हैं। संस्कृत के अलक्ष शव्द से ही 'आलेक' की उत्पत्ति हुई है। वही 'आलेक' शुद्धसत्व मानव-मन में प्रविष्ट अथवा प्रकाशित होकर 'कर्ता' या 'गुरु' के रूप में आविर्भूत होता है। इस प्रकार के मानव को वे 'सहज' उपाधि दिया करते हैं। यथार्थ गुरुभाव से भावित मानव ही उस संप्रदाय का उपास्य निर्दिष्ट होने के कारण, उनका नाम, कर्ताभजा पड़ा है। देवदेवी की मूर्ति को अस्वीकार न करने पर भी वे उनकी पूजा कदाचित ही करते हैं। वे ईश्वर

के 'अरूप रूप' की उपासना किया करते हैं। गुरु की उपासना देह-मन-प्राण से करना ही इनका प्रधान साधन है। भारत में देवदेवी को उपासना प्रचलित होने के पहले से ही गुरु या आचार्य की पूजा का प्रचलन चलता आया है। शास्त्र में मिलता है—"आचार्यं मां विजानीयात्", "आचार्यो व्रह्मणों मूर्तिः" इत्यादि। भारतवर्ष में गुरु या आचार्य को पूजा करने को रीति अत्यन्त प्राचीन है। अतः मनुष्य गुरु को पूजकर उन्होंने कोई शास्त्र-विरोधी कार्य नहीं किया है। विशुद्ध मानव में "आलेकलता" के आवेश के सम्पर्क में वे कहते हैं—

आलेक में आता, आलेक में जाता,
आलेक किन्तु कोई, देख न पाता।
आलोक को जो ले पहचान,
तीनों लोक का ईश्वर जान॥

सहज मनुष्य का लक्षण है कि वे "अटूट" रहते हैं अर्थात् सर्वदा रमणी के साथ रहने पर भी काम भाव में उनकी धैर्यच्युति नहीं घटती। उनका अटल शुक्र रमणी के भाव-तरंग से टलता नहीं। कहते हैं—

'रहे रमणी संग, करे न रमण'।

संसार में काम-कांचन के प्रति अनासक्त न होने पर, साधक अध्यात्मिक उन्नति को लाभ नहीं कर सकता। इसीलिये इनलोगों ने उपदेश दिया है—

करो रसोई परसो भोजन, हँडी लगे न हाथ।
साँप के सन्मुख वेंग नचाओ, निगल न जाये साथ॥

सुधा सागर में खूब नहाओ, बाल न भींगे साथ।
मकड़ी जाल से हाथी बाँधो, मिले प्रेम सौगात ॥

इस संप्रदाय में भी, छोटे बड़े साधक की चर्चा मिलती है। यथा—

आउल बाउल दरवेश साँई।
साँई से उपर और न होंई ॥

सिद्ध होने पर इस संप्रदाय में उनको साँई के नाम से पूकारा जाता है। किस प्रकार के नरनारी इनके संप्रदाय के लिये योग्य होते हैं, उस संपर्क में कहते हैं—

हिजड़ा नारी, पुरुष खोजा।
फिर बनोगे कर्ता भजा ॥

पाठक ! निश्चित ही समझ गये होंगे कि इस संप्रदाय का साधन पंथ किस आधार पर खड़ा है। यदि कोई अनाधिकारी पशु भावापन्न जीव इसको कलूषित करे तो उसमें साधन पंथ का क्या दोष है ? किसी भी कार्य को करने से पहले उसका अधिकारी बनना सबसे पहला कर्तव्य है।

हम कह चुके हैं कि जीव मात्र ही सुख का अभिलाषी होता है। कोई भी दुःख को भोगना नहीं चाहता। सभी सुख चाहते हैं। लोकिन इस जगत में सुख कहीं भी नहीं है। यहाँ तो सब कुछ अनित्य है। जो अनित्य है, उसमें नित्य सुख कहाँ ? फूल मुरझा जाते हैं, जीवन मृत्यु मुख में पतित हो जाता है, हँसने के बाद ही रोना पड़ता है, आलोक के बाद अंधकार, संयोग के

वाद वियोग—सर्वदा ऐसा ही होता है। अतएव निर्मल निरविच्छन्न सुख इस अनित्य जगत में असंभव है। किन्तु हम उसी सुख की प्रार्थना करते हैं। श्रीभगवान के नित्यधाम से शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा मधुर नित्यरस को धारा जो छलक कर इस जगत में चू पड़ता है, उसी की अनुभुति में जीव सुख को ढूँढता है। जिस प्रकार भौंरा गंध से आकुल हो पड़ता है, उसी प्रकार जीव भी गंध से अंधा तथा उद्भ्रान्त हो पड़ता है। अतः जोव की शिक्षा, दीक्षा, साधना, भजन या उपासना का चरम उद्देश्य उसी सुख को प्राप्त करना है। किन्तु उस रस की पूर्ण प्राप्ति मधुर रस में है और मधुर रस में ही पूर्ण आनन्द निहित है। युगल की उपासना में मधुर रस है। अतएव पूर्णानन्द अथवा पूर्णसुख की प्राप्ति के लिये पहले काममुक्त होकर और अन्त में कामानुगा-भक्ति के सहारे **युगल** को उपासना करनी होगी।

तंन्त्रशास्त्र के श्रेणी विभाग को तरह वैष्णव शास्त्र में भी जीव के चार प्रकार के अवस्था की चर्चा मिलती है—तटस्थ, प्रवर्तक, साधक तथा सिद्ध। तटस्थ देह में शुन्यता रहती है अर्थात् तटस्थ अवस्था प्राकृत जीव भाव है। यहाँ जीव किसी उपासना का आश्रय नहीं लेता। तंन्त्र में जिस प्रकार साधक को पशु, वीर तथा दिव्य भाव में बाँटा गया है, उसी प्रकार भक्ति मार्ग के साधकों में भी प्रवर्तक, साधक और सिद्ध—तीन स्तर माने गये हैं। तंन्त्र के पशुभाव के साधन भेदों की तरह, भक्तिमार्ग के इन तीन स्तरों में भी तीन प्रकार के भजन प्रणालीयों की व्यवस्था है।

साधक, प्रवर्तक अवस्था में आश्रयसिद्ध अर्थात् आश्रयालम्वन भक्तिमार्ग सिद्ध कहलाता हैं। फिर साधन मार्ग में प्रवेश कर, साधनभक्ति के अंगों को साधते समय, उपासक को प्रवर्तक कहते हैं।

प्रवर्तक का भाव सिद्ध हो जाने पर भगवत-माधुर्य का आस्वादन करने के लिये हृदय में जो तीव्र आकांक्षा का आविर्भाव होता है तथा प्राकृत भाव के लिये प्राणों में जो आकुल आवेग की वृद्धि होती है—उस अवस्था के उपासक को साधक कहा गया है। यथा—

उत्पन्नरतयः सम्यक् नैर्विघ्नैमनुपागताः।
कृष्णसाक्षात्कृतौ योग्याः साधकाः परिकीर्तिताः॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु

जिनके अन्दर भगवान के सम्पर्क में रति उत्पन्न हुई हो किन्तु सम्यक रूप से विघ्ननिवृत्ति न हुई हो तथा जो भगवत साक्षातकार के योग्य बना हो, उसे साधक कहा गया है। ईश्वर में प्रेम, उनके भक्तों से मित्रता और ईश्वर विद्वेषीयों के प्रति उपेक्षा—इस प्रकार का भेद जिसमें रह गया हो, उसे साधक कहा गया है। और—

अविज्ञाताखिलक्लेशाः सदा कृष्णाश्रितक्रियाः।
सिद्धाः स्युः सन्ततं प्रेमसौख्यस्वादपरायणाः॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु

जिसको कोई क्लेश का अनुभव नहीं होता, जो सर्वदा भगवत सम्पर्कित कार्य करता है तथा सब प्रकार से प्रेम-सौख्यादि के आस्वादन को जानता है—उसे सिद्ध कहा गया है।

सिद्ध तथा साधक का अन्तःकरण भगवान के भाव से भावित रहने के कारण उन्हें भगवद्भक्त कहा गया है। किन्तु प्रवर्तक को भक्तों की श्रेणी में स्थान नहीं दिया जाता।

सिद्ध दो प्रकार के हैं—एक, संप्राप्तिसिद्धरूप सिद्ध और दूसरा, नित्यसिद्ध। फिर संप्राप्तिसिद्धरूप सिद्ध को साधना तथा भगवत् कृपा के दृष्टिकोण से दो भागों में बाँटा गया है। साधना-संप्राप्तिसिद्धरूप सिद्ध फिर दो श्रेणीयों में विभक्त हैं - मंत्रसिद्ध—जो मंत्रों की साधना से सिद्ध बने हैं और साधनसिद्ध—जो योग-याग आदि अनुष्ठान के करने के कारण सिद्ध बने हैं। कृपाप्राप्त सिद्ध भी दो प्रकार के हैं—जिसने स्वप्न में भगवान की कृपा को प्राप्त की हो उनको स्वप्नसिद्ध तथा जिसने साक्षात् भगवत् कृपा पाई हो, उसे कृपासिद्ध कहा गया है। कहते हैं—

आत्मकोटिगुणं कृष्णे प्रेमाणं परमं गताः।
नित्यानन्दगुणाः सर्वे नित्यसिद्धा मुकुन्दवत्॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु

जिनका गुण मुकुन्द की तरह नित्य तथा आनन्दस्वरूप है और जो अपने से कोटिगुण अधिक, भगवान के प्रति प्रेमविधान करते हैं—वे नित्यसिद्ध हैं।

ये नित्यसिद्ध व्यक्ति भगवान के किसी विशेष कार्य को संपादन करने के लिये समय समय पर मनुष्य का रूप लेकर इस धरणी पर अवतीर्ण होते हैं। फिर जब भगवान अवतीर्ण होते हैं तो ये नित्य-सिद्ध व्यक्तिगण उनका पार्षद बन कर, उनका सहायक बन कर,

उनके साथ धरती पर आते हैं। श्रीकृष्ण के प्रायः समस्त गुण तथा अन्य सिद्धियाँ प्रदत्त गुण, उन नित्यसिद्धगणों में बर्तमान होते हैं।

प्रवर्तक, साधक तथा सिद्ध के भिन्न भिन्न साधन प्रणालीयाँ वर्णित हैं। यथा—

मन्त्र, नाम, भाब, प्रेम, रसाश्रय।
ये पाँच हैं, साधना के आश्रय॥
प्रवर्तक, साधक, सिद्ध उन्हीं से होता।
प्रवर्तक को मंन्त्राश्रय, नामाश्रय भाता॥

—श्रीचैतन्यचरितामृत

प्रवर्तक, साधक तथा सिद्ध व्यक्तियों के साधनार्थ मंन्त्र, नाम, भाव, प्रेम तथा रस—ये पाँच उनके आश्रय स्वरूप निर्दिष्ट हुये हैं। उनमें मंन्त्र तथा नाम प्रवर्तक का और भाव, प्रेम तथा रस साधक एवं सिद्ध भक्तों का आश्रय है। सिद्धभक्त युगल रूप के नित्यलीला में सर्वदा निमग्न रह कर पूर्ण रसास्वादन किया करते हैं। वे इस आनन्द लीला को रसविग्रह, सुनहला दिव्यछवि, सुन्दर महाप्रेम-रसप्रद पूर्णानन्दरसमय, मूर्ति की भावना के निरविच्छन्न आनन्द में निमग्न रहते हैं।

———

लेखक का मन्तव्य

प्रेमभक्ति को लाभ करने के पश्चात, अपने स्वरूप में रहते हुये, भगवान की लीला रस माधुर्य का आस्वादन करना ही जीवन का परम साध्य है। सार्वभौम धर्म भी यही है। साधना के द्वारा धीरे धीरे उन्नत बन कर धर्म तक पहुँचना पड़ता है। साधना के तीन उपाय हैं—कर्म, ज्ञान तथा भक्ति। ये तीनों ओतप्रोत हैं और एक ही सूत्र में वँधे हुये भी हैं। उनमें से किसी एक को भी त्याग देने पर, धर्म का पूर्ण साधन नहीं होता। जिस प्रकार मछली, बगल में लगे पंख और पूँछ के द्वारा जल में अनायास ही तैरता फिरता है परन्तु उनमें से किसी एक के अभाव में दूसरा व्यर्थ हो जाता है और वह अनायास तैर नहीं सकता, उसी प्रकार कर्म ज्ञान तथा भक्ति के सहारे जीव धर्मराज्य में बिना किसी क्लेश के भ्रमण कर सकता है। किन्तु उनमें से यदि किसी एक का भी अभाव रहे तो अन्य व्यर्थ हो पड़ते हैं और जोव मोहान्धकार में निमग्न हो जाता है।

यही दुर्दशा वर्तमान हिन्दु समाज का है। उसने हिन्दुधर्म रूप कल्पवृक्ष के आश्रय को त्याग कर, परगच्छे का आश्रय ले लिया है। अतः उसे कल्पतरू प्राप्त नहीं होता। एक ही धर्म का आश्रित होकर भी वे ज्ञानवादी, कर्मवादी अथवा भक्तिवादी बन कर एक दूसरे से विद्वेष करते हैं और उनके इस कोलाहल ने धर्मजगत में

एक हंगामा बना रखा है। संप्रदाय के अन्धेपन में वे वृथा ज्ञान, भक्ति और योग में विवाद की सृष्टि करते हैं। किन्तु वस्तुतः वे एक है। अन्य विषय को त्याग कर परमात्मा का सदा बोध ही प्रकृत ज्ञान का लक्षण होता है और अनुराग के वस्तु पर सर्वदा चित्त को लगाये रखना ही भक्ति का लक्षण कहलाता है। इन दोनों को ही योगशास्त्र में चित्त समाधान अर्थात् समाधि कहते हैं। अतएव अभिष्ट बस्तु पर अनन्य चित्तता, इन तीनों पथ पर चलने से हो संभव है।

जिनकी बुद्धि स्थूल है, जो दार्शनिक तत्वों को परिपाक नहीं कर पाते, संयम नहीं कर सकते किन्तु हृदय आवेगपूर्ण होता है—वे भक्ताभिमानी होते हैं। वे स्थूल बुद्धि के लोग जिनमें हृदयावेग कम है किन्तु शारीरिक संयम अधिक है—वे योगाभिमानी होते हैं। फिर जिनमें हृदयावेग तथा शरीर के संयम का अभाव है किन्तु दार्शनिक विषयों को समझने की क्षमता अधिक है—वे ज्ञानाभिमानी होते हैं। ये सभी अधम अधिकारी कहलाते है। वस्तुतः कसरत करने से, शारीरिक संयम करने से अथवा शास्त्रोपदेश का लेकचर मारने से ही वह प्रकृत भक्त अथवा योगी अथवा ज्ञानी नहीं बन जाता। सद्‌ विषयों में तीव्र आवेग, पूर्ण शरीर संयम तथा सम्यक् प्रभा यदि न रहे तो वह भक्त, योगी ज्ञानी कुछ भी नहीं बन सकता और न वह किसी मार्ग के माध्यम से सिद्धि को लाभ कर सकता है।

कभी इस देश में कर्मयोग का प्राधान्य था किन्तु ज्ञान तथा भक्ति के अभाव में वह सकाम बन गया। इसी कारण भगवान

बुद्ध ने कर्म को संप्रसारण कर ज्ञान का प्रचार किया। किन्तु वह ईश्वर के संपर्क में निरवताप्रयुक्त नास्तिकता और जड़त्व में परिणत हुआ। तब शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म के जड़त्व को दूर भगा कर उसे ज्ञान के संप्रसारण में विलीन कर दिया। किन्तु शिक्षा के अभाव में वह भी मायावाद के कठोरता में परिणत हो गया। फिर श्रीकृष्णचैतन्य ने आविर्भूत होकर उसके साथ प्रेमभक्ति को मिलाकर हिन्दुधर्म को मधुर बना दिया है। अतः धर्मपिपासु साधकगण कर्म, ज्ञान तथा भक्तियोग के आश्रय में साधना करके मानव जोवन के पूर्णत्व को प्रतिष्ठित कर सकेंगे।

चैतन्यदेव शेष अवतार हैं, अतः चैतन्योक्त प्रेमभक्ति को लाभ करना ही साध्यावधि अर्थात् चरम धर्म है। कर्म, ज्ञान और भक्ति की सहायता से प्रेमभक्ति को लाभ करना हीं मानव का परम पूरुषार्थ है। मैं अब तक उसी प्रेमभक्ति को लाभ करने के उपायों को विवृत करता आया हूँ। यद्यपि भक्ति के अधिकारी तथा उनके स्तरभेदानुसार उसकी साधना तथा साध्यफल अलग अलग वर्णित हुये हैं किन्तु सुधीजन उन सबमें साध्य प्रेमभक्ति को लाभ करने के उपायस्वरूप एक सार्वभौम पंथ को ही देख पायेंगे। उन्हें यह भी दीखाई पड़ेगा कि उस साधनपंथ में कर्म ज्ञान और भक्ति का एक अपूर्व समावेश है। आधुनिक वैष्णवगण अपने को अधिक ज्ञानी और बुद्धिमान समझ कर कहते फिरते हैं—"कर्म कांड और ज्ञान कांड तो विष का भांड है।" किन्तु महाप्रभु श्रीगौरांगदेव के पार्षदस्वरूप श्रीमत् रामानन्द राय ने कहा है—"स्वधर्माचरण से ही कृष्णभक्ति जागती

है।" ऐसा कह कर उन्होंने यही प्रमाणित करना चाहा है कि कर्मयोग ही भक्ति का आधार है।

एक बार महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव ने राय रामानन्द को अतुल सन्मान प्रदान कर शिक्षार्थी (नौ सिखिया) शिष्य की तरह प्रश्न पर प्रश्न करने लगे और रामानन्द भाव कतृकित देह में आत्मविस्मृत तथा विह्वल होकर देवाविष्ट की तरह उसका उत्तर देने लगे। उस प्रश्नोत्तर के आधार पर ही हम प्रतिपाद्य विषय की मीमांसा करेंगे। यथा—

प्रभू बोले, सुनाउ मुझे साध्य का निर्णय।
बोले राय, स्वधर्माचरण में होता कृष्णभक्ति निश्चय॥
प्रभू बोले, हैं ये वाह्य की बातें कुछ और कहो।
बोले राय, कृष्ण को कर्मार्पण ही सार गहो॥
प्रभू बोले, वाह्य ये भी कहो आगे की बात।
बोले राय, स्वधर्म त्याग है भक्ति साध्य सौगात॥
प्रभू बोले, बाह्य ये भी कहो आगे क्या है।
बोले राय, ज्ञान मिला भक्ति साध्य वही है॥
प्रभू बोले, वाह्य ये भी आगे की बात करो।
बोले राय, ज्ञान शुन्य भक्ति को साध्य में भरो॥
प्रभू बोले, हाँ होता ऐसा आगे की बात करो।
बोले राय, प्रेमभक्ति को ही सर्वसाध्य धरो॥
प्रभू बोले, ठीक यह भी, आगे की सुनाओ।
राय बोले, दास्यप्रेम को सर्वसाध्य बनाओ॥

प्रभू बोले, होता ऐसा भी आगे की बात बताओ।
राय बोले, सख्य-प्रेम को सर्व सार जताओ॥
प्रभू बोले, उत्तम यह भी आगे की सूध कहो।
राय बोले, वात्सल्य प्रेम सबसे श्रेष्ठ गहो॥
प्रभू बोले, उत्तम यह भी, आगे क्या है धारा।
बोले राय, कान्ताप्रेम श्रेष्ठ साध्य प्यारा॥
प्रभू बोले, यहीं तक है साध्य सुनिश्चय।
कहो कृपा कर यदि आगे और कुछ होय॥
बोले राय, राधा-प्रमे है साध्य शिरोमणि।
महिमा जिनकी सब शास्त्रों ने है बखानी॥

—श्रीचैतन्यचरितामृत

अतएव प्रेममय स्वभाव को लाभ कर राधाप्रेम का आस्वादन लेना ही साध्य शिरोमणि अर्थात् चरम साध्य है। वही चरम साध्य स्वधर्माचरण से आरम्भ होकर क्रमशः निष्काम कर्म, स्वधर्मत्याग, ज्ञानमिश्रा भक्ति, ज्ञानशुन्या भक्ति, प्रेमभक्ति, दास्यप्रेम, सख्यप्रेम, वात्सल्य प्रेम तथा कान्ताप्रेम में उत्तरोत्तर पुष्ट बन कर राधा-प्रेम में पर्ववसित होता है। अतः इनमें से कोई भी पथ स्वतन्त्र साध्य पंथ नहीं होता। वे केवल चरम साध्य तक पुहुँचने के लिये क्रमोन्नति के स्तर मात्र हैं। धर्माचरण से आरंभ करके इन स्तरों के माध्यम से साधना करते करते अन्त में जाकर राधा-प्रेम का अधिकारी बनना पड़ता है। ये बातें मेरी मनगढ़न्त नहीं हैं—ये प्रेमभक्ति के जगत के श्रेष्ठ महाजनों के

द्वारा प्रकटित तथा रागमार्ग के रसिक भक्तों के द्वारा कथित हैं। अतः साधक बृथा विभिन्न पंथों का अनुगामी न बन कर, बृथा शास्त्रों में पंथ ढूँढते हुये क्लान्त न बनकर, केवल इस पंथ के अवलम्वन से क्रमशः राधा-प्रेम का अधिकारी बन, सर्वाभीष्ट सिद्ध और नित्य पूर्णानन्द का अधिकारी हो सकता है। इस प्रकार वह इस मरणशील जगत में रहकर भो अमृतत्व को प्राप्त कर सकता है। वह मानव-जीवन के पूर्णत्व को प्रतिष्ठित कर सकता है। अब मैं धारावाहिक रूप से प्रेमभक्ति को लाभ करने के सार्वभौम पथ को आलोचना करने के बाद इस विषय का उपसंहार करुँगा।

जो लोग हठात् भगवत कृपा को लाभ कर प्रेमभक्ति पर अधिकार पा कृतार्थ हुये हैं, उनकी बात स्वतन्त्र है। ऐसे भाग्यशाली जीव कदाचित ही मिलते हैं। हम जैसे साधारण जीवों के लिये उनकी कृपा को आकर्षित करने के लिये विभिन्न उपायों का अबलम्बन करना कर्तव्य है।

सबसे पहले भक्ति के बीज को रोपने के लिये उपयुक्त क्षेत्र प्रस्तुत करना होगा जिस के लिये धर्माचरण की व्यवस्था दी गई है। मानव जीवन को संगठित करने के लिये सबसे पहले शृंखला अथवा Discipline सिखना होगा। जो व्यक्ति शुरु से ही किसी विधि मार्ग पर नहीं चलता, उसमें व्यभिचार आ धमकता है और विशृंखला की गंदगीयों से उसका जीवन घिर जाता है। उशृंखलता से स्वेच्छाचारिता जागती है और स्वेच्छाचारिता मनुष्य को क्रमशः

अधोगति के पथ पर ले आती है। इसीलिये धर्माचरण ही साध्य हैं क्योंकि धर्माचरण से चित्त शुद्ध होकर मानव के हृदप में भगवद् बुद्धि का उदय होता है। जन्मजात गुणोचित कर्मानुष्ठान करना ही **स्वधर्माचरण** है। स्वधर्माचरण से साधक का गुणक्षय होता है और उसके अन्दर ज्ञान-भक्ति का विकाश होता है।

किन्तु कर्मानुष्ठान करने में जहाँ गुणों का क्षय होता है, वहाँ गुणों का संचय भी होता है। इसी कारण कर्मानुष्ठान में 'कर्मफल' को भगवान पर समर्पण करने की व्यवस्था की गई है। इस निष्काम कर्म के अनुष्ठान से विधिमार्ग पर चलते हुये मनुष्य का अभिमान नष्ट होता है और उसके चित्त की चंचलता दूर होती है। उसके फलस्वरूप ज्ञान का विकाश होता है। फिर उसका जीवन विधिमय तथा कर्म भगवदार्पित होने के कारण, समाज को उससे क्षति की आशंका नहीं रहती। इस स्थिति में उसकी उन्नति स्वतन्त्र होने में है जो विधिमार्ग की सीमा से परे होती है। इसलिये अब **स्वधर्मत्याग** ही उसका धर्म है। अब विशुद्ध चित्त को लेकर साधक शास्त्रादि का विचार करेगा और नित्यानित्य विवेक के द्वारा जगत की सृष्टि-कौशल के आलोक में ज्ञानालोचना किया करेगा।

इसी ज्ञान के कारण जब इन्द्रियग्राह्य सभी विषयों को मलमूत्र की तरह वह परित्याग करेगा, इन सबके प्रति वैराग्य जन्मेगा और केवल भगवान को ही आश्रय तथा अवलम्वन समझने लगेगा तब जाकर भगवान के प्रति उसमें जो अनुराग अथवा आसक्ति जन्मेगी उसी को **ज्ञानमिश्रा** भक्ति कहते है। प्रकृत भक्ति का यह प्रथम

स्तर है। इस भक्ति में स्तव-स्तुति रहती है, प्रार्थना-मिनति रहती है, आराधना-उपासना रहती है। अतः इसका नाम साधन-भक्ति कहा गया है।

तत्पश्चात् क्रमशः साधक का चित्त भगवान पर एकाग्र होता है और भक्ति की गोद में आत्मसमर्पण कर उसके स्निग्ध शरीर के स्पर्श से संसार कोलाहल को भूल कर जब साधक अपने समग्र हृदय वृत्तियों के साथ भगवान में लीन हो जाता है तब ज्ञान का वंधन खुल जाता है। **ज्ञानशुन्या** होने पर भक्ति तद्गगता होती है, फिर उसमें स्वार्थ चिन्ता नहीं रहती, विचार नहीं रहता, कोई उद्देश्य नहीं रहता, केवल भगवान रहते हैं।

ज्ञानशुन्या विशुद्ध भक्ति की साधना में क्रमशः भगवान का महिम ज्ञान दूर भाग जाता है अर्थात् यह ज्ञान कि भगवान सर्वशक्तिमान तथा पाप पुण्य के लिये दंड विधायक एवं सृष्टि-स्थिति-प्रलय के कर्ता हैं इत्यादि जैसा ऐश्वर्यज्ञान विदुरित होकर, प्रेम का संचार होता है। फिर भगवान अपना प्राण, प्राणों के प्राण प्रतीत होने लगते हैं और केवल मात्र उसी ज्ञान के माध्यम से हम उसे पूत्र की तरह, भृत्य की तरह, प्रेमपूर्ण हृदय से सेवा करने की वासना करते हैं। यहीं पर रागानुगा भक्ति वास्तव में **भावभक्ति** में पर्यवसित होती है।

यदि इस भाव में विभोर हो सकें तो भगवान अपने बन जाते हैं—हमारे पास आते हैं। साधना में **दास्यभाव** के पुष्ट होने पर दास्य का संकोच दूर हो जाता है और फिर भगवान प्राण-सखी प्रतीत होते हैं। सख्यप्रेम की क्षीरधारा से भगवान परितृप्त होकर

आनन्दित तथा प्रीत होते हैं। सख्यभाव में भक्त और भगवान एक बन जाते हैं। उस स्थिति में ब्रज के चरवाहों की तरह बिना किसी संकोच के भगवान के साथ हम खेलते हैं, उसके कंधों पर चढ़ बैठते हैं, उसके साथ भोजन करते हैं, सोते हैं, वन पल्लवों से उसका व्यजन करते हैं, वनफूलों की माला से उसे सजाते हैं और इस प्रकार भक्त विभोर हो जाता है। उसके अभाव में सबकुछ शुन्य प्रतीत होता है।

इस सख्यमाव के परिपुष्ट होते ही **वात्सल्यभाव** का संचार होता है। साधक भगवान को अपने से छोटा समझता है। भक्त, स्वयं माता-पिता बन कर भगवान को शिशुपूत्र की तरह स्नेह-यत्न करता है। अपन स्वार्थ को भूल कर, वासना-कामना का विसर्जन देकर, एकमात्र पूत्र की सेवा करना ही माता-पिता का ध्यान ज्ञान बन जाता है। माता-पिता पूत्र से कुछ भी नहीं माँगते, सर्वस्व देकर, अपने को मूल कर पूत्रके सुख और स्वास्थ्य के लिये सर्वदा व्यग्र रहते हैं। इस प्रकार के भाव के जनमते ही उसे वात्सल्य भाव कहते हैं। नन्द-यशोदा के बात्सल्यभक्ति में भगवान बालक बन कर यशोदा का स्तन पान करते है, नन्द बाबा के बोझ को अपने कंधों पर उठाते हैं।

वात्सल्यभाव के परिपाक होने पर भक्त आत्महारा हो जाता है, उसका समस्त देह-मन-वुद्धि भगवान पर समर्पित हो जाता है। इसी को **कान्ता भाव** कहते हैं। जिसप्रकार स्त्रो अपने स्वामी से प्यार करता है, उसी प्रकार अपना प्राण देकर, शरीर-जीवन-योवन

को समर्पित कर यदि भगवान से प्रेम कर सकें तो वही साध्य का शेष स्तर होता है—भाव-भक्ति की यही उत्कृष्ट अवस्था होती है।*

तत् पश्चात् भक्त सब प्रकार के वेद विहित कर्म तथा लोकधर्म को त्याग कर केवल प्रेम-करुण कंठ से गा उठेगा—

जप तप आन्हिक या पूजा, तुम हो मूल मंत्र का घेरा।
तुम ही नाम, गान, श्रवण, कीर्तन, साधन भजन सब कुछ मेरा॥
गया गंगा वाराणसी वृन्दावन, कोटि तीर्थ हैं चरण तुम्हारे।
यदि तुम हो, लगे छोटा गृह मेरा, जैसे नन्दन कानन सारे॥

जिस प्रकार सती, पति के बिना कुछ नहीं जानती, वही भाव यदि भगवान के लिये उत्पन्न हो जाये तो उसे कान्ता भाव कहते हैं। किन्तु प्रेमिक ऋषि प्रेमभक्ति तत्व में केवल कान्ताप्रेम को दर्शा कर ही निश्चिन्त नहीं हो सके, उन्होंने स्वकीया कान्ता के स्थान पर परकीया कान्ता भाव को भी ग्रहण किया है। पत्नि पति को अत्यन्त निकट

*मेरे "ब्रह्मचर्य साधन" नामक पुस्तक के नियमानुसार ब्रह्मचर्य के पालन करने से चित्त की शुद्धि होती है। फिर मन को स्थिर करने के लिये "योगीगुरु" पुस्तक के अनुसार आसन-मुद्रा आदि छोटी छोटी योगक्रियाओंका अनुष्ठान करना पड़ेगा और "ज्ञानीगुरु" पुस्तक के अनुसार ज्ञानालोचना करनी पड़ेगी। फिर योगीगुरु अथवा ज्ञानीगुरु पुस्तक के अनुसार सूक्ष्मभाव से ब्रह्मोपलब्धि या "तान्त्रिकगुरु" पुस्तकोक्त स्थूल साधना के माध्यम से भगवान का साक्षातकार करना पड़ेगा। तत् पश्चात् "प्रेमिकगुरु" में लिखित साधना के द्वारा गोपीकानिष्ठ प्रेममय स्वभाव को लाभ कर भगवान के असमोर्द्ध लीला-रसमाधुर्य में अनन्तकाल के लिये डूब जाना पड़ेगा। अतएव मेरी ये पुस्तकें संसार की समस्त धर्म सम्पर्कित अभाव को पूर्ण करने में समर्थ होंगी।

के समझते तो हैं किन्तु थोड़ा उच्चभाव—प्रभूभाव का आरोप करते हैं। केवल वे ललनायें जो छुप कर परपुरुष की अनुरागिनी होती हैं, उनके प्रेम में वह प्रभूभाव—दूरत्व का भाव नहीं रहता। इसीलिये कान्ताप्रेम को परकीया भाव से ग्रहण किया गया है।

मधुरभाव में जो निमज्जित हो गया हो उसके लिये वाह्य धर्म कर्म कुछ भी नहीं रहता। वे वेदविधि से मुक्त हैं। प्रेमसुधा पान में मत्त होकर उन्होंने लज्जा-भय को त्याग दिया है, जातिकुल के अभिमान को चिरकाल के लिये सागर की गहराईयों में डूबो दिया है। व्रजगोपीयों का कामगंधहीन प्रेम हो मधुर रस का परम आदर्श है। गोपीगण श्रीकृष्णके विरह में जर्जर हैं। कभी वे कृष्ण को 'निर्दय' 'कठोर' कहती हैं तो कभी अभिमान से फूल कर, 'उसका नाम तक नहीं लुँगी'—का संकल्प करती हैं। किन्तु प्राणों की उच्छ्वास को रोकने को शक्ति उनमें कहाँ है? इसी कारण हृदय के आवेग में सब कुछ को भूला कर "दर्शन दो" कह कर फ़िर हाहाकार करती फिरती हैं। इस स्थिति में विरह के समय विषको ज्वाला रहती है तो मिलन में अत्यन्त तृप्ति। विरह में विष की ज्वाला रहने पर भी प्राणों में अमृत वरसते रहते हैं। प्राणों के इस भाव को भाषा में व्यक्त किया नहीं जा सकता। उस स्थिति में यदि हृदय चीर कर उसके अन्दर भगवान को रख भी दें तो भी तृष्णा नहीं मिटती। हृदय में भगवान के साथ, मुख में भगवान का नाम, लेकर भी भक्त उस संभोग सुधा को पीकर आत्महारा बन जाता है। उसको विश्वमय ईश्वर स्फूर्ति तथा

ईश्वरानुभव का अनुमान होने लगता है। वह सम्पूर्ण रूप से अपने अस्तित्व को प्रियतम के अस्तित्व में डूबाकर भगवत-भाव-तन्मयता को प्राप्त होता है। इस प्रकार के भक्त का सुख अपार है। धन्य है उसका कूल, धन्य है उसका देश।

यही गोपीकानिष्ठ मधुर भाव क्रमशः प्रेम-विलासके विवर्त में पुष्ट बन कर, महाभाव में पर्यवसित होकर प्रौढ़ दशा में **प्रेम-भक्ति** कहलाता है। इस अवस्था में भक्त निरन्तर भगवान के अनिर्वचनीय प्रेमरस सागर में परमा आनन्द के साथ तैरता रहता है। अनन्तर, प्रेममय स्वभाव को लाभ कर, मृत्युके पश्चात् वह राधेश्याम महारास के महामंच में मिल कर उसके लीलारस-माधुर्य के आनन्द में अनन्त काल के लिये निमग्न होकर, उसके साथ एक बन जाता है।

क्या तुम उस मधुर वीणा की झंकार को सुन नहीं पा रहे जो अपनी धुन से जीव को इस रस के उपभोग के लिये बुला रही है? चलो, चलें—उस आनन्द मिलन में, सुख-मिलन में, रस मिलन में! जीव तो सुख-तृष्णा की आकुल आकांक्षा से व्याकुल है। किन्तु इस मरणशील जगत के पार्थिव पदार्थों में सुख को ढुंढना, विड़म्वना मात्र है। मृगतृष्णा को जल समझ कर रस के लिये व्याकुल होने से कोई लाभ नहीं। कंठ सुख कर काठ बन जायेंगे और प्राण त्याग देने पड़ेंगें। यदि जीव प्रेमभक्ति को साधना से गोकुलाख्य महाधाम में उपस्थित होकर सखीभाव से प्रेमसेवोत्तर गति को लाभ कर सके और राधाकृष्ण के मिलनानन्द को अनुभव कर सके तो

वह पूर्णतम रस, पूर्णतम सुख तथा परिपूर्ण आनन्द को लाभ कर कृतार्थ बन सकता है।

यदि सुख चाहते हो तो सुखस्वरूप भगवान को अपना हृदय अर्पण करो। यदि रस चाहते हो, तो वृत्ति समूहों को रसविग्रह ईश्वर को समर्पित करो। यदि काम को दवा कर कामरूप बनना चाहते हो तो मदनमोहन को मन की कामना-वासना अर्पण करो। यदि जगत के शक्ति को वशीभूत करना है तो ह्लादिनी-शक्ति-मिलन-रसानन्द श्रीकृष्ण को सर्वशक्ति का उपहार दो। सुख, कहीं और नहीं, नित्यसुख सुखमय **श्रीकृष्ण** में है। आनन्द भी कहीं और नहीं, पूर्णानन्द ह्लादिनीशक्ति **श्रीराधा** में है। रस, कहीं और नहीं, **श्रीश्रीराधा-कृष्ण के युगलमिलन** में है। अतएव सब इन्द्रियों को संयत कर, प्रेमभक्ति से हृदय को पूर्ण करो। प्रेम-करुण कंठ से कहो—"मैं केवल उनके ही चरण में अनुरक्त हुँ।" चाहे वह मुझे अपनी छाती से पीस डाले अथवा अदर्शन से मर्महत करे, वह लम्पट जी चाहे जो भी करे पर उसके सिवा मेरा प्राणनाथ दूसरा कोई नहीं। यथा—

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मामदर्शनान्मर्म्माहतां करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो मत् प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥

ॐ हरि ॐ

उत्तरस्कन्ध

जीवन्मुक्ति

प्रेमिकगुरु

उत्तरस्कन्ध—जीवन्मुक्ति

भक्ति हो मुक्ति का कारण है।

एक मात्र परमेश्वर के प्रति सुदृढ़ भक्ति-योग के बिना केवल याग-यज्ञादि रूप लौकिक क्रियाकांड के अनुष्ठान अथवा किसी देव-देवी की पूजा-अर्चना अथवा तीर्थस्थान की परिक्रमा से जीव कभी भी मुक्तिलाभ करने में समर्थ नहीं हो सकता। जप, तप, प्रतिमापूजा आदि तो बच्चों का सांसारिक कर्मवोध रूप गुड़ियों के खेल के समान है। जब तक ये वालिकायें अपने पति को नहीं पातीं तब तक वे उन गुड़ियों से खेलती रहती हैं किन्तु पतिमिलन हो ते ही गुड़ियों को पेटी में बन्द कर दती हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है —

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढ़ोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥
अव्यक्तं ब्यक्तिमापन्न मन्यन्ते मामवुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥

—श्रीमदभगवद्गीता, ७।२४-२५

—मैं सब के समक्ष प्रकाशित नहीं होता और इसीलिये मूढ़ व्यक्ति मेरी माया के द्वारा सम्यक आच्छन्न होकर उत्पत्ति, ह्रास, बृद्धि रहित मुझे जान नहीं पाता। संसार से परे मेरे शुद्ध नित्य सत्व स्वभाव को, अल्पबुद्धि वाले लोग, समझ नहीं पाते और मुझे वे मनुष्य जैसा अव्यय आदि विशिष्ट समझ बैठते हैं।

कल्पित उपासना से चित्त शुद्ध मात्र होता है, किन्तु जीव मुक्ति कदापि नहीं पा सकता। अतः यदि कोई व्यक्ति उस अविनाशी बुद्ध शद्ध परमेश्वर को न जानकर इस जगत में हजारों वर्ष तक होम-याग-तपस्यादि करे, फिर भी उसका फल स्थायी नहीं होता। यथा—

यथा यथोपासते तं फलमीशस्तथा तथा।
फलोत्कर्षापकर्षौ हि पूज्यपूजानुसारतः॥
मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा।
स्वप्रबोधं विना नैव स्वस्वप्नो हीयते यथा॥

—पंचदशी ६।२०६-२१०

जो व्यक्ति जिस बस्तु की उपासना जिस प्रकार करता है, उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है। पुज्यवस्तु के स्वरूप तथा पूजानुष्ठान के तारतम्य के अनुसार फल का उत्कर्ष अथवा अपकर्ष हुआ करता है। किन्तु जिस प्रकार जागने के अलावा स्वप्नावस्था को दर करने का अन्य उपाय नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्मतत्वज्ञान के सिवा मुक्तिफल को प्राप्त करने का दूसरा कोई उपाय नहीं है। अतः—

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय ।

—श्वेताश्वतर श्रुति

—उस परमात्माको जानने पर ही मनुष्य मृत्यु के मुँह से उतीर्ण हो सकता है। मुक्ति को प्राप्त करने का इसके सिवा दूसरा कोई पथ नहीं है। अतः व्रह्मतत्व परिज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी भी उपाय से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती है।

वह ज्ञान-भक्ति के द्वारा भी प्राप्त हो सकता है। यदि भगवान, आत्मा या व्रह्मतत्व में प्रबल अनुराग, परा अनुरक्ति अथवा ऐकान्तिक भक्ति न जागे तो ज्ञान का प्रकाश कभी भी नहीं हो सकता। यथा—

ज्ञानात् संजायते मुक्तिर्भक्तिर्ज्ञानस्य कारणम् ।
धर्मात् संजायते भक्तिर्धर्मो यज्ञादिको मतः ।

—श्रीमद्भगवतीगीता १५।५६

—"यज्ञादि के द्वारा धर्मलाभ, धर्म से भक्तिलाभ, भक्ति से ज्ञान-लाभ तथा ज्ञान से मुक्ति लाभ होता है।"

अतः मुक्ति का उपाय ज्ञान है और ज्ञान से मुक्तिलाभ होता है। तो भक्ति, मुक्ति का कारण बनता है। यदि उत्तम साधक मुक्ति पाना चाहे तो उसे भगवान का भक्ति परायण बन कर उनके ही पूजन-प्रसंग में मन को प्रफूल्लित रखना चाहिये। मन वचन कर्म में उसका ही आश्रय लेना चाहिये। सर्वदा उस पर मन को बनाये रखने की चेष्टा करना चाहिये और तद्गतप्राण बनना चाहिये। प्रतिक्षण उसी का प्रसंग, उसी का नाम गुण गान और उसके नाम लेने में ही उत्सुक रहना चाहिये। अपने वर्णाश्रमोचित तथा वेदविहित

एवं स्मृति के द्वारा अनुमोदित पूजा-यज्ञ आदि के द्वारा उसकी ही अर्चना करनी चाहिये अर्थात् कामनारहित होने पर भी भगवान-प्रीतार्थ समस्त क्रियानुष्ठानों को उसे करना चाहिये। इस प्रकार क्रमशः जब भक्ति दृढ़ बन जायेगी तो ज्ञान का उदय होगा। उसी तत्वज्ञान के द्वारा वह भक्ति को लाभ करेगा। भक्तिलाभ करने पर फिर वर्णाश्रमोचित कर्म तपस्या योग याग पूजा आदि का कोई प्रयोजन नहीं रहा जाता। भगवान कहते हैं—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

—श्रीमद्भागवत ११।२०।६

—जब तक निर्वेद अर्थात् विषयों के प्रति वैराग्य उत्पन्न न हो एवं जब तक मेरी चर्चा में श्रद्धा न जागे तब तक वर्णाश्रम विहित कर्मों को करना चाहिये।

इस प्रकार शास्त्रविहित कर्मों को करने के पश्चात अन्तःकरण निर्मल बनेगा और भक्ति जागेगी। ऐसा लगने लगेगा कि इस परम-धन को मैं कब लाभ करुँगा। संसार के समस्त वस्तुओं के प्रति वैराग्य जन्मेगा और केवल उन्हीं अध्यात्म शास्त्रों की आलोचना में रुचि होगी जिनमें भगवान के सच्चिदानन्द रूप नित्य विग्रह पर प्रकाश है। गुरु के उपदेश के अनुसार उन अध्यात्म शास्त्रों को आलोचना करते करते यदि क्षण भर के लिये भी उसके नित्य कलेवर या अपार आनन्द सागर का आभास अन्तःकरण को स्पर्श कर ले तो संसार की वस्तुयें निम्नकोटि के सुख का कारण प्रतीत होगा। अतएव

उन बस्तुओं के प्रति अभिलाषा नहीं होती। अतः कामना का परित्याग हो जाता है। फिर समस्त जीव जगत में ईश्वरसत्ता का निश्चित अवस्थान प्रतीत होने के कारण प्रत्येक जीव के प्रति परम यत्न का भाव जाग उठता है। अतः हिंसा का परित्याग हो जाता है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि इस प्रकार सोचते सोचते, तत्व विद्या का आविर्भाव होता है। तत्वज्ञान के जागते ही उसके नित्यानन्द विग्रह का परमानन्दभाव प्रत्यक्ष होता है और प्रत्यक्ष होते ही साधक की मुक्ति हो जाती है।

मुक्ति का कारणस्वरूप भक्ति, हजारों में से किसी एक में जागती है। जैसा हजारों भक्तों में कदाचित कोई तत्वज्ञ होता है। भगवान के उस परम सूक्ष्म रूप को, जो सुनिर्मल, निर्गुण, निराकार, ज्योतिस्वरूप, समस्त जगत का आधारस्वरूप, निरालम्व, निर्विकल्प नित्यचैतन्य, नित्यानन्दमय है, उसको मुमुक्षु व्यक्ति देहबन्ध-विमुक्ति का अवलम्वन बनाते हैं। मायामुग्ध व्यक्ति सर्वगत अद्वैतस्वरूप परमेश्वर के अव्यय रूप को नहीं जान पाते। किन्तु भक्तिपूर्वक जो भगवान को भजते हैं, केवल वे ही परमेश्वर को जान कर मायाजाल से उत्तीर्ण होते हैं। सूक्ष्मरूप की तरह स्थूलरूप में भी समस्त विश्व में, वे ही परिव्याप्त हैं। अतः समस्त रूप, उसीके स्थूल रूप में परिगणित होता है। तथापि हमें अपने गुरुउपदिष्ट ध्येय मूर्ति की ही आराधना करनी चाहिये क्योंकि वह शिघ्र मुक्तिदान में समर्थ है। इस प्रकार उपासना करते करते जब प्रगाढ़ भक्ति जाग उठती है तब परमात्मस्वरूप इष्टदेवता

का सूक्ष्मरूप प्रत्यक्ष होता है। फिर संसार की अति रमणीय बस्तु भी उससे अधिक रमणीय प्रतीत नहीं होती। जगत का कोई भी लाभ उससे अधिक लाभजनक नहीं जँचता। मन-प्राण सब उसी के प्रेमरस-माधुर्य में चिरकाल के लिये डूब जाता है। ऐसा महात्मा फिर दुःखालय के अनित्य पूर्वजन्म को नहीं भोगता। वह अनन्यामन होकर सर्वदा भगवान का स्मरण करता है और अल्पकाल में ही साधक इस दुस्तर सागर को पार कर लेता है। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता १०।१०

—जो सर्वदा श्रद्धा के साथ मेरा भजन करता है उसे मैं ऐसी बुद्धि (ज्ञान) प्रदान करता हूँ कि वह मुझे प्राप्त कर सके।

अतः बिना किसी द्वन्द के यह स्वीकार किया जा सकता है कि भक्ति ही मुक्ति का एक मात्र कारण है। तत्वदर्शी अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से पूछा—"हे कृष्ण। जो तद्गतचित्त बन कर तुम्हारी उपासना करता है और जो केवल अक्षर ब्रह्म की आराधना करता है, इन साधकों में श्रेष्ठ योगी कौन है ?"

भगवान ने कहा—"हे अर्जुन। जो मेरे प्रति अत्यन्त अनुरक्त तथा निविष्ट बन कर परम भक्ति के साथ मेरी उपासना करता है वह श्रेष्ठ योगी है किन्तु जो सर्वत्र समदृष्टि सम्पन्न, सर्वभूतों के हित में निरत तथा जितेन्द्रिय बन कर अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त,

सर्वव्यापी, कूटस्थ तथा नित्य परब्रह्म का उपासना करता है, वह मुझको प्राप्त करता है। जो देहाभिमानी हैं, वे अति कष्ट से अव्यक्त गति को लाभ करने में समर्थ होते हैं। अतएव जो अव्यक्त ब्रह्म पर मन को आसक्त करते हैं, वे अधिक दुःख भोगते हैं। किन्तु जो मत्परायण बन कर मुझ को समस्त कर्म समर्पण पूर्वक एकान्त भक्ति के साथ मेरा ही ध्यान करते हैं, मैं उन्हें अल्पकाल में ही मृत्युमय संसार से मुक्त कर देता हूँ।"

सर्वमतों के सामंजस्य रूपी मुक्तिपथ प्रदर्शक शिवावतार भगवान शंकराचार्य ने कहा है—शास्त्रकारों के द्वारा निर्दिष्ट मुक्ति-लाभ के उपायों में भक्ति ही श्रेष्ठ है। यथा—

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।

—विवेकचूड़ामणि, ३१

—मुक्ति के कारणों में भक्ति ही श्रेष्ठ है। भगवती पार्वती देवी ने भी अपने पिता गिरिराज को कहा था—

भवेन्मुमुक्षू राजेन्द्र मयि भक्तिपरायणः।
मदर्चाप्रीतिसंसक्त मानसः साधकोत्तमः॥

—श्रीमद्भगवतीगीता, १५।५७

—हे राजेन्द्र! यदि मुक्तिलाभ करने की इच्छा हुई हो तो भक्तिपरायण बन कर मन को मेरी अर्चना में लागाओ।

तत्व ज्ञान के विकाश होते ही साधक मुक्त हो जाता है। यह सर्व शास्त्रानुमादित तथ्य है कि इस ज्ञान का प्रधान साधन भक्ति है। अतएव मुमुक्षु व्यक्ति को कामनाविहीन होकर, भक्तिपूर्वक श्रुति-

स्मृति-विहित सर्वाश्रम कर्त्तव्यानुसार यज्ञ, तपस्या तथा दान के द्वारा भगवान के प्रीतार्थ उनकी अर्चना करनी चाहिये। इस प्रकार विधि-प्रतिपादित कर्म के अनुष्ठान को करते करते चित्त जब निर्मल बन जाता है, तब वह आत्मज्ञान के उपयुक्त बनता है उसके अन्दर सर्वदा मुक्ति लाभ करने की कामना प्रवल होती है। फिर उसके अन्दर पुत्र मित्र तथा बन्धु के लिये कारूण्य के भाव का विलोप होता है और उसका मन वेदान्त आदि शास्त्रचर्चा में अथवा भगवान के गुण-ध्यानके अनुशीलन में लगने लगेगा। फिर काम और हिंसा की वृत्तियाँ दूर भागती है। इस प्रकार इसमें कोई संशय नहीं कि तत्वज्ञान के विकसित होते ही आत्मा का दर्शन होता है और मुक्ति लाभ होती है।

अतः भक्ति ही मुमुक्षु व्यक्तियों का एकमात्र श्रेष्ठ साधन है। केवल भक्तियोग के माध्यम से ही मनुष्य अपनी आत्मा, अपना धर्म, ज्ञान, कुल-शील, ख्याति-जाति, मान-यश, पुत्र-कलत्र आदि को भगवान की चरणों में अर्पण कर उनके स्वरूपानन्द में मत्त हो सकता है। भक्तियोग के माध्यम से ही मनुष्य भगवान के असमोर्द्ध प्रेम-माधुर्य में प्रमत्त होकर अपने जन्म-जन्मान्तर के संस्कार को भूल कर वर्त्तमान जीवन के संस्कार को दूर हटा कर, मुक्ति के पथ पर अग्रसर हो सकता है। ब्रज के कृष्णप्रेम में पागल आभीर रमणीयाँ श्रीकृष्ण के विरह में आत्महारा होकर उनका ही ध्यान-मनन करते करते अपने को 'कृष्ण' समझने लगीं और उनकी ही लीला का अनुकरण किया। श्रीगौरांग देव ने भी, भगवत प्रेम

में उन्मत्त होकर, अपने को भूल कर भगवान के महाभाव की अवस्था में, अपनी माँ के मस्तक पर अपना पैर रख कर आशिर्वाद दिया था। अतएव भक्तियोग में स्वरूप तत्व अर्थात् "सोहम्" ज्ञान को लाभ कर अल्प चेष्टा से ही मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है। इसमें कोई संन्देह नहीं कि मुक्ति का प्रधान कारण ही भक्ति है। जो आनन्द के निर्झर स्वरूप मुक्तिदाता परमेश्वर में भक्तिपरायण न होकर अन्य उपायों का अन्वेषण करते हैं, वे घी के बदले एरंड का तेल मात्र ग्रहण करते हैं। आनन्द का उपभोग उनका अल्प होता है तथा संसार कार्यों में भी कृतकार्य न होकर वे अतिशय दुःख भोगते हैं। याद रहे कि भगवान ने स्वयं कहा है—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत् प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्रापस्यसि शाश्वतम्॥

—श्रीमद्भगवद्गीता १८।६२

—हे भारत! सब प्रकार से तुम उनके (परमेश्वर) शरण में आओ, उनके प्रसाद से तुम पराशान्ति तथा शाश्वत स्थान को प्राप्त करोगे।

याद रहे कि भगवती पार्वती देवी के श्रीमुखविगलित सुधा धारास्वरूप तत्वोपदेश में भी मिलता हैं—"हे पितः! जो मेरी भक्ति नहीं करता उसकी मुक्ति दुःसाध्य हैं। अतएव मुमुक्षु व्यक्ति यत्न पूर्वक मेरे प्रति भक्तिपरायण बनते हैं।" यथा—

किंत्वेतद्दुर्लभं तात मद्भक्तिविमुखात्मनाम्।
तस्माद्भक्तिः परा कार्या मयि यत्नात् मुमुक्षुभिः॥

—श्रीमद्भगवतीगीता १५।६६

मेरा अनुरोध हैं कि प्रचलित इस वचन को सर्वदा याद रखें—

"भक्ति सवका मूल, मुक्ति है उसकी दासी"।

———

मुक्ति का स्वरूप लक्षण

प्रकृत ज्ञानी व्यक्तियों ने चिरकाल इस रोग, शोक, जरा, मृत्युमय संसार में जन्म लेकर मुक्तिरूप निरापद स्थान को लाभ करने की चेष्टा की है। प्रत्येक देश के मनीषीयों ने मुक्ति के स्वरूप के संपर्क में अपनी अपनी गम्भीर गवेषणापूर्ण युक्तियों को व्यक्त किया है। उनके प्रदर्शित युक्तियों में मुक्ति के स्वपक्ष में मतभेद रहने पर भी उसके विपक्ष में प्रायः सब का मतवाद एक है। इस प्रवन्ध में मैं प्राच्य तथा पाश्चात्य देशों के समस्त प्रसिद्ध दार्शनिक बुद्धिवादियों के मतवादों को उद्धृत कर, मुक्ति के स्वरूप की आलोचना करने का प्रयत्न करूँगा। आशा है इससे पाठक मुक्ति के सम्पर्क में एक सार्वभौम तथा सर्व समन्वयी मतवाद को ग्रहण करने में निःसंशय हो सकेंगे।

हिन्दु शास्त्रानुसार मुक्ति को साधारणतः दो भागों में बाँटा गया है—ज्ञानमुक्ति तथा कर्मज मुक्ति। पहला है ज्ञानमुक्ति अर्थात् ज्ञान के द्वारा जो मुक्ति होती है, उसे "निर्वाण" अथवा "विदेह कैवल्य" मुक्ति कहते हैं। वही है चरम मुक्ति। यह मुक्ति अनन्तकाल व्यापी मुक्ति है। दूसरा है—कर्मज मुक्ति, अर्थात् कर्म

के द्वारा जो मुक्ति प्राप्त होती है, वह मुक्ति एक निर्दिष्ट काल व्यापी मुक्ति है ।

यही कर्मज मुक्ति अर्थात् याग-यज्ञ तपस्या आदि का अनुष्ठान, काशी आदि स्थानों पर शरीर त्यागने के द्वारा प्राप्त मुक्ति है। कर्मज मुक्ति भी चार प्रकार के होते हैं—सालोक्यमुक्ति, सारूप्यमुक्ति, सार्ष्टिमुक्ति तथा सायुज्यमुक्ति ।

मां पूजयति निष्कामः सर्वदाज्ञानवर्जितः ।
स मे लोकं समासाद्य भुंगक्ते भोगान् यथेप्सितान् ॥

—शिवगीता १३।४

जो व्यक्ति अज्ञान-वर्जित तथा निष्काम बन कर सर्वदा भगवान की अर्चना करता है, वह भगवत-लोक में पहुँच कर वांक्षित भोग का उपभोग करता है—इसको **सालोक्यमुक्ति** कहते हैं ।

ज्ञात्वा मां पूजयेत् यस्तु सर्वकामविवर्जितः ।
मया समानरूपः सन् ममलोके महीयते ॥

—शिवगीता १३।५

जो व्यक्ति परमेश्वर को जान कर विषयों का त्याग करे और उसकी पूजा करे, वह अपने इष्टदेवता के सदृश्य रूप को प्राप्त कर उसी लोक में जाता है—इसको **सारूप्यमुक्ति** कहते हैं ।

सैव सालोक्य-सारूप्य-सामीप्या मुक्तिरिष्यते ॥

—मुक्तिकोपनिषत्

सालोक्य सारूप्य मुक्ति ही **सामीप्यमुक्ति** का स्वरूप है । इसी लिये सामीप्यमुक्ति अलग मुक्ति में गण्य नहीं होती ।

इष्टापूर्त्तादि कर्माणि मत्प्रीत्यै कुरुते तु यः ।
सोऽपि तत् फलमाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ॥

—शिवगीता १३।६

जो व्यक्ति भगवत प्रीतार्थ इष्टापूर्त्तादि कर्म समूहों का अनुष्ठान करता है, वह उत्तम लोक में जाकर अपने कर्मानुसार उपयुक्त फल भोगता है। इसी को **सार्ष्टिमुक्ति** कहते हैं।

यत् करोति यदश्नाति यज्जुहोति ददाति यत् ।
यत्तपस्यति तत् सर्वं यः करोति मदर्पणम् ।
मल्लोके स श्रियं भुंगते समतुल्यप्रभाववान् ॥

—शिवगीता १३।७

यदि कोई व्यक्ति किसी कर्म का अनुष्ठान, भक्षण, होम, दान, तपस्या आदि के कर्मफल को भगवान पर समर्पण करे तो वह व्यक्ति उतना ही प्रभावशाली बन कर उन्हीं के लोक में जाकर सुखभोग किया करता है—इसीको **सायुज्यमुक्ति** कहते हैं।

"इति चतुर्विधा मुक्ति निर्वाणं च तदुत्तरम्"—अर्थात् इन चार प्रकार की मुक्ति के पश्चात ही **निर्वाणमुक्ति** संभव होता है। ज्ञानी निर्वाण के अतिरिक्त इन चार प्रकार की मुक्ति के पक्षपाती नहीं होते क्योंकि मोक्ष कर्मादि के द्वारा अर्जित मुक्ति का क्षय भी होता है। परिमित काल के लिये सुखसंभोग मिलता तो है किन्तु उस काल के बीतते ही फिर दुःख उपस्थित होता है। अतः ये सम्यक मुक्ति के उपाय नहीं होते। रोग के आरोग्य हो जाने पर यदि फिर रोग हो जाये तो उसे प्रकृत आरोग्य लाभ नहीं कह

सकते। आत्यन्तिक दुःख मोचन अथवा स्वरूप प्रतिष्ठा का नाम ही यथार्थ मुक्ति है—इसी को निर्वाण कहते हैं। परमपुरुषार्थ तो निर्वाण का ही दूसरा नाम है। संसार के ज्ञानी व्यक्ति चिरकाल से उसी निर्वाणरूप निरापद स्थान को लाभ करने का प्रयत्न करते रहे हैं। प्राच्य और पाश्चात्य दर्शन का विशेष अंग यही पुरुषार्थ रहा है। सर्वप्रथम मानव जीवन के लक्ष को स्थिर करने के पश्चात् वे तदनुकुल शास्त्रविचारों की अवतारणा किया करते थे। हम देखते हैं कि इन दार्शनिकों ने मूलतः तीन विषयों पर ध्यान दिया है—दुःख निबृत्ति, सुख लाभ तथा स्वरुप लाभ (Self realisation)। इसके अतिरिक्त किसी किसी दार्शनिकों ने परमपुरुषार्थ के रूप में पूर्णत्व लाभ (Perfection) के विषय में भी आलोचना की है। Aristotle तथा उनके पूर्ववर्ती युनानी दार्शनिकों ने साधारणतः पूर्णत्व लाभ करने को ही मूल लक्ष के रूप में उपस्थापित किया है। इसका कारण यह है कि वे कर्त्तव्यानुष्ठान तथा सुखलाभ के विरोध की संभावना को स्पष्ट रूप से हृदयगंम नहीं कर सके थे। अतः उन्होंने कर्त्तव्य तत्परता और सुखलाभ को परस्पर अनुगामी मान कर, इन दोनों का एक ही उद्देश्य, पूर्णत्वलाभ को ही मानव के परम पुरुषार्थ का, निर्देश दिया है।*

Plato के मतानुसार केवल ज्ञान अथवा सुखान्वेषण ही मानव जीवन का चरम लक्ष प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः वृत्तियों के परस्पर

*Vide Sidgwick's Methods of Ethics. P. 106

स्फुरणरूप पूर्णत्व से ही आत्मा प्रकृत जीवन लाभ करती है। यद्यपि Plato ने कहीं कहीं सुख को दुःखानुसंगी तथा क्षणस्थायी कह कर उसकी निन्दा भी की है किन्तु आद्योपान्त देखने पर ज्ञानानुसार कर्त्तव्य तत्परता (Virtue) और सुखलाभ इन दोनों के बीच अविच्छिन्नता का प्रदर्शन करवाना ही Plato का उद्येश्य जान पड़ता है। Aristotle के मतानुसार शुभलाभ ही (Eudaemonia) मानव जीवन का चरम लक्ष है। यह शुभलाभ, सुखलाभ का नामान्तर नहीं होता, वह Aristotle के मतानुसार—"Perfect activity in Perfect life." अर्थात् "साधु जीवन का साधु कर्मानुष्ठान" है। सुख इसका नियत अनुसंगी मात्र है। अतएव हम देखते हैं कि दोनों दार्शनिकों ने सुख-निरोधी कर्त्तव्य तत्परता का विचार नहीं किया है और न कर्त्तव्य-तत्परता तथा सुख के नियत सहचरित्व स्वरूप किसी प्रकृष्ट प्रमाण को ही उन्होंने दर्शाया है। वस्तुतः सुखलाभ और स्वरूप लाम को यदि विच्छिन्न होकर देखें तो फिर कर्त्तव्यानुष्ठान के चरम लक्ष का उद्देश्य उत्पन्न ही नहीं होता।*

Aristotle के बाद Stoyik तथा Epicurean का मतवाद यहाँ विशेष उल्लेखयोग्य है। Stoyik का कहना है कि स्वभाव का अनुर्वतन करना ही मनुष्य का चरम लक्ष है। सुखानुसरण इसका विरोधी है। दुःख से उद्विग्न रहीत तथा विषानुसक्त पकी पकाई भोजन के सुखलिप्सा को परित्याग कर, एक मात्र कर्त्तव्यानुष्ठान ही मनुष्य के

*Vide Sidgwick's Methods of Ethics. P. 392

लिये श्रेष्ठ पथ है। पीछे जो कुछ कहा गया है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि दुःखनिवृत्ति के बिना Stoyik के मतवाद का कोई अन्य विशेष लक्ष दृष्ट नहीं होता। स्वभाव के अनुवर्तन (Conformity to nature) का वास्तव स्वरूप अत्यन्त दुर्बोध्य है। आधुनिक युरोप के राजनैतिक तथा सामाजिक इतिहास पर इसकी छाया पड़ी है। पता नहीं कि घोर अन्धकार के समय इसका परिणाम क्या होगा? इस छायापात के होता हैं—फ्राँस के रूसो (Roussuee)। अपूर्व कल्पना के द्वारा अनुप्राणित होकर फ्राँस के इस पंडित ने मानव जाति के आदिम अवस्था का एक अद्भुद चित्र अंकित किया है। इस चित्र में धनो-दरिद्र, राजा-प्रजा, प्रभू-दास में, कोई भेद नहीं दीखाई पड़ता। अतएव उनके मतानुसार किसी की असामान्यता, अकारण प्रधानता, आदि केवल अत्याचार का रूपान्तर अथवा स्वार्थ का कुत्सित परिणाम मात्र है। Live according to Nature—अर्थात् प्रकृति का अनुवर्तन करो, अन्याय तथा अकारण अस्वभाविक तारतम्य को दूर हटाना चाहिये। यही है उनका मूलमंत्र। पाठक अबतक Stoyik के मतवाद के भाव को निश्चित ही समझ गये होंगे।

प्राचीन युनानी दर्शन में Epicureas का मतवाद Stoyik का प्रतिद्वन्दी है। Epicureas कहते हैं कि सुखलाभ (Happiness) मानव जीवन का अन्तिम लक्ष है। कहते हैं—जो पुण्यकर्म सुख नहीं देता, उसका कोई मुल्य नहीं है। किन्तु उनके सुख की व्याख्या स्वतन्त्र है; कहते हैं—वह प्रकृति

का अनुवर्तन तथा सामयिक उत्तेजना का तृप्ति साधक है। दुःखवाद हेय है और दुःखासंभिन्न शान्ति (Imperturbable Tranquillity) ही सर्वथा अनुसरणीय है। अतएव Epicurean मतवाद में अत्यन्त दुःख निवृत्ति ही एक प्रकार का परम पुरुषार्थ है।

ये तो रही प्राचीन काल की बात। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में अधिकांश लोगों का मत है कि सुख (Pleasure) ही मानव जीवन का चरम लक्ष है। लक, हियुम, मिल, वेन्थाम, वेइन तथा सिजउइक जैसे आधुनिक दार्शनिकों का भी यही मतवाद है। उधर जर्मन पंडित Hegel और उनके अनुगामी Green, Caird, आदि दार्शनिकों ने आत्मा के पूर्णत्व (Self realisation)—साधन को ही सर्व शेष लक्ष, जीवन का, बतलाया है। कहते हैं—

To the self-conscious being, pleasure is a possible but not an adequate end ; by itself, indeed, it cannot be made an end at all, except by a self-contradictory abstraction.

—Caird's Kant, Vol II. Page 230

बुद्धिजीवी के लिये अन्यान्य लक्षों में सुख भी एक लक्ष हो सकता है किन्तु उसको हम पूर्ण लक्ष नहीं मान सकते। संपूर्ण विच्छिन्न होकर विचार करने पर सुख को लक्ष बतलाना भी असंगत हैं। वस्तुतः सुख आत्मपूर्णत्व लाभ का आनुसंगिक फल होने

पर भी, मूल लक्ष को छोड़ कर, उसीको एकमात्र चरम लक्ष मान लेना संगत नहीं जान पड़ता।

परमपुरुषार्थ के संपर्क में पाश्चात्य दार्शनिकों के मतवाद उद्धृत किये गये। अब हम भारतीय दार्शनिकों के मतवादों को संक्षेप में उद्धृत करना चाहेंगे।

भारतवर्ष के मूल दर्शन शास्त्र छः हैं। यथा —

गौतमस्य कणादस्य कपिलस्य पतंजलेः।
व्यासस्य जैमिनेश्चापि दर्शनानी षड़ेव हि॥

गौतम का न्याय, कणाद का वैशेषिक, कपिल का सांख्य, पतंजलि का योग, व्यास का वेदान्त तथा जैमिनी की मीमांसा—छः ऋषियों के द्वारा उपलब्ध, ये छः मूल भारतीय दर्शन शास्त्र, प्रचलित हैं। फिर उनके शिष्य-उपशिष्य गणों के द्वारा विरचित अनेक दर्शन शास्त्र भी विद्यमान हैं, किन्तु वे सब उन्हीं के अन्तर्गत माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त चार्वाक-दर्शन, बौद्धदर्शन पाशुपत या शैवदर्शन, वैष्णव या पूर्णप्रज्ञदर्शन आदि दार्शनिक, इतिहास में विशेष रूप से परिचित हैं।

चार्वाक के मतानुसार अंगो का आलिगंन और ऋण करके भी घृत सेवन करना परमपुरुषार्थ हैं। अतएव यहाँ परतंत्रता ही बन्धन तथा स्वाधीनता ही मोक्षस्वरूप है। आतमा के प्रति नास्तिक तथा देहातमवादीयों के लिये देह-मुक्ति ही परम मुक्ति है। इस प्रकार के मुक्तिवाद के सम्पर्क में दत्तात्रेय ने कहा हैं—"या मुक्तिः

पिंडपातेन सा मुक्तिः शुनि शूकरे"—अर्थात् देहत्याग के द्वारा जो मुक्ति मिलती है, वह शुकर कुत्तों को प्राप्त है।

बौद्ध मतानुसार समस्त वासनाओं को दूर करने के पश्चात् जो परिनिर्वाण मिलता है, वही परमपुरूषार्थ है। आत्मोच्छेद अथवा परिनिर्वाण—बात एक है। इस आत्मोच्छेद को अत्यन्त दुःखनिवृत्ति का साधन-स्वरूप मान लेने पर भी वस्तुतः अत्यन्त दुःखनिवृत्ति ही परमपुरूषार्थ है। यदि ऐसा न होता तो कौन ऐसा बुद्धिमान है जो हृदय से, अन्तरतम आत्मा के उच्छेद करने की चेष्टा करेगा? बुद्धवंश के लेखक तथा वर्तमान बौद्धधर्म के गौरवस्थल Rhys Davis ने निर्वाण शब्द का अर्थ समझाते हुये कहा है—निर्वाण का अर्थ, मनुष्य के सत्ता का विलोप अथवा महाविनाश नहीं होता, वह भ्रम, घृणा तथा तृष्णा का आत्यन्तिक उच्छेद है।*

जैन मतानुसार अवरण मुक्ति ही मुक्ति है। यह अवरण चाहे जो भी हो, दुःख निवृत्ति या सुखलाभ के साधनस्वरूप मुक्ति ही वांक्षनीय हो सकती है।

---

* "Nirvana is therefore the something as a sinless, calm state of mind; and if translated at all, may best, perhaps, be rendered 'Holiness'—Holiness that is in the Buddhist sense, perfect peace, goodness and wisdom."
—Buddhism by Rhys David, Chap. IV. Page-112

वैष्णव मतानुसार जीव भगवान का नित्यदास है। अतः वंन्दना-अर्चना के द्वारा जीव स्वरूप अर्थात् प्रेमसेवोत्तरा गति को लाभ करना ही परमपुरूषार्थ है। जीव और ईश्वर परस्पर भिन्न हैं। सर्वज्ञ ईश्वर तथा मूढ़ जीव एक दूसरे का विरोधी धर्मापत्र है। उनमें अभेद भाव उत्पन्न नहीं होता।

शैव तथा पाशुपत मतानुसार परमेश्वर कर्मादिनिरपेक्ष निमित्त कारण है। पशुपति ईश्वर ने पशुपाश के विमोक्ष के लिये योग का उपदेश दिया है। योग, ऐश्वर्य तथा दुःखान्त का विधान करता है और यही पुरुषार्थ है। **शाक्त** मतावलम्वीयों ने भी उसी मतवाद का अनुसरण किया है।

भट्टमतावलम्वि कहते हैं कि (प्रसिद्ध भट्टपाद कुमारिल ने इस मतवाद का प्रवर्तन किया है अत: उसे भट्टमतवाद कहते हैं) नित्य निरतिशय सुखाभिव्यक्ति का नाम ही मुक्ति है। वेदोक्त कर्मानुष्ठान केवल उस स्थिति को लाभ करने के उपाय हैं। अतएव गृहस्थाश्रम को ही उन्होंने श्रेष्ठ आश्रम माना है। अंधे, पंगु आदि गृहाश्रम के अक्षम व्यक्तियों के लिये ही उन्होंने सन्यास धर्म अथवा नैष्ठिक व्रह्मचर्य का उपदेश दिया है। ये इश्वर में नास्तित्ववादी हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि भट्ट का नित्यसुख, संभव स्थिति है भीया नहीं ? विचार करने पर पता चलता है कि सापेक्ष सुख की नित्यत्व को हम किसी प्रकार से भी उत्पन्न नहीं कर पाते। जिस सुख का मूल है विच्छेद्य-संम्पर्क, उसके अविच्छन्न प्रवाह को हम सिद्ध किस प्रकार करेंगे ? सुखलाभ को ही यदि परमपुरुषार्थ

मान लें तो फिर सुख के नित्यत्व की ओर दृष्टि न डाल कर परिणामाधिक्य को लक्ष बनाना ही हमारा कर्तव्य होगा।

पातंजल दर्शन का मुख्य लक्ष योगानुशासन है। चित्तवृत्ति निरोध को ही योग कहा गया है। यहाँ योगानुष्ठान को अनुभव करना ही परमपुरुषार्थ है। यह आत्मा के वहुत्व तथा ईश्वर को स्वीकार करता है। इसका ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा समस्त जगत का निमित्त कारण है। अतएव अत्यन्त दुःख-निवृत्ति रूप मुक्ति, तत्वाभ्यास अथवा ईश्वर प्रणिधान के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा कि वेदान्त को छोड़ कर अन्य भारतोय दर्शनों की अपेक्षा पातंजल के सूक्ष्म लक्ष को उच्च आसन दिया गया है।

सांख्य, न्याय, वैशेषिक, तथा मीमांसा-दर्शन के मतानुसार अत्यन्त दुःखनिवृत्ति ही परमपुरुषार्थ है। किन्तु इस दुःखनिवृति के भी अनेक प्रकार के भेद हैं। सांख्य कहता है—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।

—सांख्यदर्शन-१।१

त्रिविध दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही परम पुरुषार्थ है।

(आध्यात्मिक दुःख, अधिभौतिक दुःख, अधिदैविक दुःख)

सांख्य के मतानुसार, ईश्वर को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। आत्मा अनेक है और परस्पर भिन्न भी। आत्मा स्वामी है तो बुद्धि उसकी स्त्री है। अविवेक अवस्था में स्त्री ज्ञान स्वरूप निर्गुण स्वामी पर अपना कर्तृत्व विकार आदि को

आरोपित कर अपराधिनी बनती है और उसके फलस्वरुप दःख को भोगती है। जब साध्वी अर्थात् शुद्ध सत्व सम्पन्ना बुद्धि अपने पति की प्रकृत आत्मा को देख पाती है तो इस जन्म में ही वह अपार आनन्द को अनुभव कर अन्त में शरीर अर्थात् आत्म स्वरूप में लीन हो जाती है। यही आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति रूप परमपुरुषार्थ है। इस मतानुसार आत्मा मुक्त अवस्था में ही स्वाभाविक लगती है। अज्ञान के द्वारा उसका रूप बद्ध हो जाता है। यदि बद्ध रूप ही उसका स्वाभाविक रूप होता तो श्रुति में मोक्षसाधन का उपदेश कभी नहीं रहता। अतएव विवेक के द्वारा अज्ञान के हट जाते ही, द्रष्टा के आत्म स्वरूप में अवस्थान करना ही मुक्ति है।

न्याय दर्शनकार गौतम कहते हैं—

'दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये
तदन्तरापायादपवर्गः।

—न्यायदर्शन १।१।२

दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष तथा मिथ्या ज्ञान के वर्जन या अभाव में जिस सम्पूर्ण सुखावस्था को हम प्राप्त होते हैं, उसी का नाम अपवर्ग अथवा परमपुरुषार्थ है। अनुमान के प्रमाण से वे ईश्वर के अस्तित्व को सप्रमाण करने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु जो संसार केवल दुःख का खेल है, वह प्राणिकृत कर्म का अवश्यम्भावी परिणाम है। परमेश्वर के अनुग्रह से श्रवण आदि के फलस्वरूप यदि तत्व का उदय हो तो इस दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति रूप

निश्रेयस को हम लाभ करते हैं क्योंकि मिथ्याज्ञान ही देहरुपी अनात्म पदार्थ में आत्मवुद्धि को उत्पन्न कर तदनुकुल पदार्थ में राग, तत्प्रतिकूल पदार्थ में द्वेष तथा तन्मुख में सब प्रकार के दुःख का कारण बन जाता है। तत्वज्ञान के द्वारा अज्ञान के निवृत्त होते ही सब प्रकार की प्रवृत्ति का निरोध होता है। फिर पुनर्जन्म की संभावना नहीं रहती। अब पुरुष यन्त्र की तरह नियत परिवर्तनशील सर्वदुःख के मूल कारण—इस संसार से, मुक्ति लाभ करता है। इसी को परमपुरुषार्थ कहते हैं। ये भी आत्मा के वहुत्व को स्वीकार करते हैं।

वैशेषिक दर्शन प्रणेता कणाद ने न्याय दर्शन की तरह ही, अनुमान प्रमाण के द्वारा ईश्वर को प्रमाण करने का प्रयास किया हैं। अनेक क्षेत्रों में गौतम के साथ कणाद का ऐक्य दृष्टि-गोचर होता है। वैशेषिक के मतानुसार आत्मा नित्य है, विभु भी अनुमेय है और सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष आदि उनके लिंग हैं। सुख-दुःख वैषम्य तथा अन्यान्य, अवस्था भेद के अनुसार आत्मा के अनेकत्व को भी वे स्वीकार करते हैं। आत्म चैतन्य आगन्तुक है और इच्छा द्वेष आदि की तरह चैतन्य भी आत्मा का गुणमात्र है। गुणों के निरस्त होते ही आत्मा आकाश की तरह अवस्थान करती है। यही है वैशेषिकों की मुक्ति। अतएव यहाँ भी अत्यन्त दुःख निवृत्ति ही परमपुरुषार्थ है।

मीमांसा दर्शन प्रणेता जैमेनि ने ईश्वर को निराकरण माना है। किन्तु उससे उनकी निरीश्वरवादित्व सिद्ध नहीं होती।

वस्तुतः वैशेषिक के मतानुसार उनका वास्तव उद्देश्य निराकरण करना ही है। वे कहते हैं कि ईश्वर के न रहने पर भी मनुष्य विधिविहित कर्म के द्वारा प्रपंच संम्पर्क-विलोप रूप परमपद को लाभ कर सकता है। वेद का भी यही अभिप्राय है। जीव अनेक है और वह कर्म का अनुचर है। कर्म स्वयं ही फल प्रदान करता है। मोक्षावस्था में मनोनिवेश नहीं होता। वस्तुतः उस अवस्था में आत्मा मन के माध्यम से स्वरूपानन्द को उपभोग करता है। कहते हैं—

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतंच तत् सुखं स्वः पदास्पदम्॥

निरविच्छन्न सुखसंभोग ही स्वर्ग है और वही मनुष्य के सुख-तृष्णा की विश्राम भूमि है। वही परमपुरुषार्थ है, मुक्ति है, अमृत है।

वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि दुःख के निरोध होते ही मनुष्य मुक्त हो जाता है। दुःख को निवारण करने के लिये ही मनुष्य आकुल आकांक्षा से भागता फिरता है। ऐकान्तिक दुःख निरोध ही मुक्ति है। यह कोई अस्वाभाविक तर्कजाल से भरा अद्भुत बात नहीं है—प्राण के निकट की वार्ता है। इसीलिये तो संसार के समस्त दार्शनिकों ने "दुःख के आत्यन्तिक निरोध" को ही "परमपुरुषार्थ" बतलाया है। अन्तर केवल इतना है कि विभिन्न दार्शनिकों के मतानुसार यह विभिन्न उपायों से उपलव्ध हो सकता है। पाश्चात्य दार्शनिकों के इस विभेद का उल्लेख पीछे हो चुका है। भारतीय

दार्शनिकों के मतवाद में भी अतिसूक्ष्म दुर्लक्ष प्रभेद वर्तमान है। माधवाचार्य के वर्णनानुसार श्रीशंकराचार्य जी ने सारदा पीठ में कहा है—

अत्यन्तनाशो गुणसंगते-र्या स्थितिर्भबेन्नोकणभक्तपक्ष्चे।
मुक्तिस्तदीये चरणाक्षपक्ष्चे सानन्दसम्वित् सहिता विमुक्तिः॥

—शंकरविजय

गुरु संग के संम्पूर्ण निरोध होते ही आत्मा आकाश की तरह शुन्य हो जाती है—यही है वैशेषिक मुक्ति। न्यायमतानुसार आनन्द तथा ज्ञान—संमिश्र पूर्वोक्त अवस्था ही मोक्षावस्था है।

किन्तु नैयायिक के इस मुक्ति को यदि स्वीकार कर लिया जाय तो उसके बाद की संगति दूर्घट बन जाती है। नैयायिक के मतानुसार अदृष्टवश आत्मा के साथ मन का संयोग, चैतन्य को उत्पन्न करता है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि की तरह यह भी आत्मा का एक गुण मात्र है। बिमुक्त अवस्था में जब गुण संगति का अत्यन्त नाश हो जाता है, तो चैतन्य रहता कहाँ है? फिर आनन्द उत्पन्न कैसे होता है? हाँ, यदि दुःख वाद को ही अनिर्वचनीय आनन्द कहें तो बात दूसरी है। बैसा करने पर वैशेषिक और नैयायिक मतवादों में फिर क्या प्रभेद रह जाता है? जैमिनी के अनुसार आत्मा का स्वरूपानन्द भोग ही मोक्ष है। किन्तु मन तो अनित्य पदार्थ है। अतः मन की सहायता से नित्यानन्द को उपभोग करना असंभव है। जितने दार्शनिक मतवादों की चर्चा अबतक हुई है, यदि उनकी विवेचना करें तो

हम देखेगें कि आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति, सुखलाभ तथा स्वरूप-लाभ—इन तीनों को ही दार्शनिक संप्रदायों ने परमार्थस्वरुप बतलाया हैं।

अब हम देखेंगे कि उन लक्षों का सम्पर्क क्या है और उनमें से कौन सर्व-श्रेष्ठ लक्ष कहलाने के योग्य है। एक ओर तो दुःख से भरा संसार है। जीव निरन्तर आध्यात्मिक, अधिभौतिक, अधिदैविक—इन तीन दुःखों से उपतापित है। मनुष्य जीवन के आदि में अंधकार, अन्त में अंधकार है, केवल उसका मध्यभाग सुख-खद्योत की तरह जल कर बुझ जाता है। इस प्रकार क्षणस्थायी विषयसुख ही दुःख का कारण है। वह दुःखानुरक्त तथा दुःख लभ्य है। विचार करने पर पंडितों को इससे तृप्ति नहीं मिलती। अतः परिणामवादी पंडित वैषयिक रागानुविद्ध सुखलाभ को छोड़ कर दुःखनिवृत्ति को ही अनुसरणीय मानकर अत्यन्त दुःखनिवृत्ति को ही परमपुरुषार्थ बतलाया है।

अत्यन्त दुःखनिवृत्ति आखिर है क्या? यह मात्र अभाव-प्रकृति (Negative) है। भाव स्वरूप सुख के द्वारा उसके स्वतः प्राधान्य को हम स्वीकार नहीं कर सकते। सांख्यवादी तथा नैयायिक आदि ने जिस दुःखनिवृत्ति के चरम लक्ष का प्रतिपादन किया है, उसे वस्तुगत सुखनिवृत्ति भी कहा जा सकता है। अतः हम देखते हैं कि एक पक्ष ने सुख के लिये दुःखानुभव को स्वीकार कर सुखलाभ को ही श्रेष्ठ लक्ष वतलाया है। दूसरा पक्ष दुःख वाहुल्य को देखने के लिये सुख को त्याग देने में सहमत

होकर अत्यन्त दुःखनिवृत्ति के परमपुरुषार्थ के प्रतिपादन में सचेष्ट दीखाई पड़ते हैं। प्रश्न है कि इन दो विरुद्ध पक्षों के बीच समन्वय संभव है भी या नहीं? आनन्द तथा अत्यन्त दुःख-निवृत्ति, दोनों एक साथ रह सकते हैं क्या?

वेदान्त दर्शन ने इस विरोध का समन्वय किया है। वेदान्तवादी का परमपुरुषार्थ न केवल दुःखनिवृत्ति मात्र है और न क्षणभंगुर सुख स्वरुप है। वस्तुतः दुःख मूलोच्छेद तथा नित्यानन्द संपादन करना ही वेदान्त का चरम लक्ष है। इसीलिये माधवाचार्य ने कहा है—

विषयोत्थ सुखस्य दुःखयुक्तेऽप्यलयंब्रह्मसुखं न दुःखयुक्तम्।
पुरुषार्थतया तदेव गम्यं न पुनस्तुच्छकदुःखनाशमात्रम्॥

—शंकरविजय

—विषयजात सुखसमूह दुःखयुक्त होता है किन्तु नित्य ब्रह्मसुख कभी भी दुःखयुक्त नहीं होता। अतएव उसको प्राप्त करना ही परमपुरुषार्थ है, तुच्छ दुःख नाश से क्या लाभ?

अतः उस परमानन्द आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी साधना-सापेक्ष नहीं हो सकता। इसी कारण से वह विषय सुख की तरह दुःखानुषक्त तथा क्षणभंगुर नहीं होता। अनात्म अथवा अनात्मीय पदार्थों पर 'अहं', 'मम' का अभिमान ही दुःख का निदान है। ज्ञान के आलोक में इस मिथ्याभिमान के दूर होते ही दुःखवीज सर्वथा दग्ध होकर, आत्मा अपने स्वस्वरूप में अवस्थान करने लगती है।

किन्तु आत्मा का स्वरुप क्या है ?* वेदान्त शास्त्र ने आत्मा तथा ब्रह्म के ऐक्य का प्रदर्शन किया है और आत्मा के आनन्द स्वरुप का प्रतिपादन किया है। अतएव आत्मलाभ अथवा आनन्दलाभ एक ही है। इस अपूर्व आनन्द का न विनाश संभव है और न ह्रास संभव है। ज्ञान के माध्यम से एक बार स्वस्वरूप को अधिगत करते ही फिर उसकी विच्युति नहीं घटती। ब्रह्मज्ञान हो जाने पर, सब वस्तुओं में ऐक्य स्थापित होते ही, सुख विरोधी अनात्म पदार्थों का, आत्मस्वरुप में, लय हो जाता है। आनन्द का अनुभव और पूर्णज्ञान नित्य सहचर हैं। पूर्णत्व तथा कामत्व, ब्रह्मज्ञान का अवश्यम्भावी परिपाक है। एक ओर वह सुख के हेतु का नित्य सद्भाव है तो दूसरी और वह सुख विरोधी अत्यन्ताभाव विचारणीय सुख के नित्यत्व का संपादन करता है। जहाँ आत्म और अनात्म रूपी विवेक दुःख के बीज को वह उखाड़ फेकता है, वहाँ अद्वैत ज्ञान तथा अद्वैतानन्द का उत्पादन भी करता है। जो वस्तु अपरिच्छन्न तथा अद्वीतिय है—वही सुख है। त्रिविध-भेद विशिष्ट परिच्छन्न वस्तु सुख स्वरुप नहीं हो सकता। केवलमात्र आत्मा ही अपरिच्छन्न वस्तु है और इसीलिये आत्मज्ञ व्यक्ति ही यथार्थ सुखी

* मेरे 'ज्ञानीगुरु' ग्रंथ में आत्मा का स्वरूप तथा उसको प्राप्त करने के उपायों का सविशेष वर्णन मिलेगा। अतः उसको पढ़े विना इस तत्व को समझाना कठिन होगा।

होता है। अतएव सुख देने वाली सारी बस्तुयें जो आत्मतृप्ति का संपादन करती है, प्रिय जान पड़ती हैं।

सभी आत्मा के अस्तित्व की इच्छा रखते हैं, उसके विनाश की नहीं। सुतरां आत्मप्रेम प्रत्यक्ष-सिद्ध है। समस्त वस्तुयें उसकी ही प्रिय बनना चाहती हैं। उसकी प्रिय बनने के योग्य होने के कारण ही, अन्य वस्तुओं में वह प्रिय भाव उपचारित होती हैं। अतः आत्मा ही परमानन्द स्वरूप है। इसी कारण आत्म-साक्षातकार के होते ही, शोक-मोह दूर भाग जाते हैं और निर्विघ्नव आत्मानन्द का स्फुरण होता है। इसीलिये शिव स्वरूप शंकराचार्य ने कहा है—"आत्मलाभात् परलाभलाभात" अर्थात् आत्मलाभ से श्रेष्ठ अन्य कोई लाभ संभव नहीं। आत्मलाभ, व्रह्मलाभ तथा आनन्दलाम बात एक ही है। मुनिवर श्रीमदभारतीतीथजीने भी कहा है—

व्रह्मज्ञः परमाप्नोति, शोकं तरति चात्मवित्।
रसो ब्रह्म रसं लब्ध्वानन्दी भवति नान्यथा॥

—पंचदशी

व्रह्मज्ञ व्यक्ति परमानन्द स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होते हैं तथा आत्मवित् शोक से निष्कृति लाभ करते हैं। ब्रह्म रसस्वरूप है। उस रसस्वरूप को प्राप्त करते ही जी आनन्दमय हो जाता है – इसमें तनिक भी संन्देह नहीं। अतएव वेदान्त के मतानुसार आत्म-साक्षातकार लाभ करना अथवा स्व-स्वरूप में अवस्थान करना ही मनुष्य का परम पुरूषार्थ है। सर्व मतों को समन्वय करने बाली **निर्वाणमुक्ति** यही है।

———

वेदान्तोक्त निर्वाणमुक्ति

सर्वधर्म समन्वयी तथा सर्व मतभेदों में सामंजस्य लाने वाला वेदान्त शास्त्र के उदार गर्भ में सर्वाधिकारी जनगण अपना स्थान पाकर धन्य बना है, कृतार्थ हुआ है। वेदान्त के परमपुरुषार्थ विचार प्रसंग में जिस निर्वाण मुक्ति को चर्चा है, वहाँ विभिन्न दार्शनिकों के चरम लक्ष समा गये हैं। निर्वाणमुक्ति के अतिरिक्त वैदान्तिकों ने सालोक्य आदि चतुर्विधा मुक्ति को, चरममुक्ति का हो विशेष अवस्था, बतलाया है।

परमेश्वर तो सर्वत्र हैं, सव कुछ में व्याप्त हैं। पृथ्वी, चन्द्रमा, सूर्य, भूलोक तथा द्युलोक, सर्वत्र वही प्रतिष्ठित है। इस महान सत्य को जब साधक विशेष रूप से हृदयंगम करता है तो क्रमशः वह भाव, उसके जीवन का अंग बन जाता है और फिर वह परमेश्वर के साथ एक ही लोक में निवास करता है। इसी को **सालोक्य मुक्ति** कहते हैं। इस स्थिति में साधक महासमुद्र में स्थित द्वीप पुंजों की तरह, अनन्त ब्रह्मसमुद्र के गर्भ में भूलोक तथा द्यु लोक को तैरता हुआ पाता है। यद्यपि वाहर से पृथ्वी ही उसका निवास स्थल है किन्तु वास्तव उस स्थिति में वह पृथ्वी का मनुष्य नहीं रह जाता। अनन्तकाल के लिये अपने को ब्रह्म का निवासी समझ कर, मनुष्य निर्भय तथा निश्चिन्त होकर परमानन्द में विभोर रहता है। अतः साधक के हृदय को क्रमशः जब सर्वव्यापी का भाव अधिकार कर लेता है तब उसकी सालोक्य मुक्ति की साधना सिद्ध होती है।

सालोक्य मुक्ति की यह अवस्था जब क्रमशः साधक में गहरी बन जाती है अर्थात् ब्रह्म दर्शन अथवा ब्रह्मसत्ता के अनुभव का पहला आभास जब उसके अन्तश्चक्षु के निकट उज्ज्वल मुर्ति बन कर आती है, जब प्रेममय के प्रेमानन्द को वह बिना किसी संशय के सर्वत्र अनुभव करने लगता है तो उसकी दृष्टि जिस ओर भी पड़ती है, वहीं उसकी आँखें उसी 'विश्वत चत्तू' के उज्ज्वल नयन पर पड़ती है—उस अवस्था को **सामीप्यमुक्ति** कहते हैं।

फिर साधक के अन्दर सामीप्यमुक्ति की स्थिति जब और गहरी बनती है और वह परमात्मा में संलग्न होकर जीने लगता है तथा उसके आनन्दसुधा को पान करता रहता है—तो उस स्थिति को **सार्ष्टिमुक्ति** कहते है। फिर जब साधक अपने को ब्रह्म से अभिन्न समझने लगता है—तो उस अवस्था को **सारूप्यमुक्ति** कहते हैं।

ततृपश्चात साधक जब ब्रह्म सत्ता सागर में मग्न होकर अपनी सत्ता तक को खो बैठता है, अर्थात् क्रमशः जब उसकी बुद्धि ब्रह्म में लय-विलय होने लगता है तो उस अवस्था को **निर्वाण** अथवा शेष मुक्ति कहते हैं। वैदान्तिक कहता है—

ब्रह्मैव मुक्ति र्न ब्रह्म क्वचित् सातिशयं श्रुतम्।
अत एकविद्या मुक्तिर्वेधसो मनुजस्य वा॥

—वेदान्तसार ३।४।१०

वह ब्रह्मावस्था जो विशेष रहित होता है, उसी को वेद ने मुक्ति कहा है। अतः मुक्ति एक ही प्रकार का हो सकता है, अनेक प्रकार का नहीं। हम जो सालोक्य आदि विशेष प्रकार का वर्णन करते

हैं, वह साधक के ज्ञान की गहराईयों का तारतम्य मात्र है। वैसे तो मुक्ति ब्रह्म से लेकर मनुष्यतक का, एक ही प्रकार का होता है किन्तु ज्ञान के परिपुष्ट अवस्था में साधक जब ब्रह्म के रूप में आत्मस्वरूप को उपलब्ध करता है तो उसे शेष अथवा **निर्वाणमुक्ति** लाभ कहते हैं।

अब हम आलोचना करेंगे कि निर्वाण क्या है? अद्वैतवादी वैदान्तिकों के ब्रह्मनिर्वाण को अनेक अनाधिकारी व्यक्ति हृदयंगम नहीं कर सकते। अधिकांश तो निर्वाण के व्यवहृत अर्थ को न समझ कर ही वेदान्त के मतवाद की हँसी उड़ाते हैं। अनभिज्ञ लोगों की विज्ञता विज्ञान-विरूद्ध होता है। विशेषकर विज्ञ व्यक्ति अज्ञ लोगों के बातों को अवज्ञा ही करते हैं। उनके लिये निर्वाण एक अनास्वादित मधु है अर्थात् जिसने कभी भी मधु का स्वाद न लिया हो उसके लिये वह केवल मधु के स्वाद जैसा लगता है। जिस प्रकार कुमारी के लिये स्वामी सहवास "न जाने कैसा" प्रतीत होता है, उसी प्रकार जिसने ब्रह्म निर्वाण का स्वाद न लिया हो वे गर्व से कहते फिरते हैं—"निर्वाण यदि वुझ जाना है तो मैं वुझना नहीं चाहता। मैं चिनि खाना तो चाहता हुँ किन्तु चिनि हो जाना नहीं चाहता"। चिनि मिठा तो है किन्तु चिनि बन जाने पर, उसके सेवन से समग्र जीवोंके आस्वादन का आनन्द मेरे अपने अन्दर अभिव्यक्त होगा। केवल अपने चिनि का आस्वाद कितना अल्प है? समग्र जीव जगत के आस्वादन को यदि हम अपने भीतर ले सकें तो उसको तुलना में केवल अपना आस्वादन एक कण के भी

बरावर नहीं होता। शक्कर का आस्वाद लोलुप स्वार्थी व्यक्ति क्या भक्त प्रवर श्रीमत गोस्वामीपाद के निम्नोक्त गोपीभाव के निगुढ़ तत्व को हृदयंगम कर सकेगा ?

देख गोपी कृष्ण को होता जितना आनन्द मन।
कोटिगुण अधिक उससे गोपी करता आस्वादन॥

राधाकृष्ण के मिलनात्मक आत्मा की स्वरूपानन्द को उपभोग किये बिना श्रीकृष्ण उपभोग का आनन्द कभी भी गोपीभाव का आदर्श नहीं हो सकता। निर्वाण का अर्थ बूझ जाना नहीं होता। विलीन होने के भाव को ही निर्वाण कहते हैं। आचार्यप्रवर श्रीमत् रामानुज स्वामी ने भी निर्वाण शव्द का यथार्थ अर्थ न कर, कहते हैं—

अहमर्थविनाशे चेत् मोक्ष इत्यध्यवस्यति।
अपसर्पेदसौ मोक्षकथाप्रस्तावगंधतः॥

अर्थात् "अहं अर्थ का विनाश यदि मोक्ष (निर्वाण) है, तो वैसे मोक्ष के गंध मात्र से ही में पीछे हट पड़ूगाँ।" मैं तो 'निर्वाण' शब्द से 'अहं का विनाश' नहीं वरन उसका विपरीत 'अहं प्रतिष्ठा' ही समझता हुँ। समस्त वेदान्त शास्त्र का अभिप्राय भी यही है। अस्तु जिस आत्मा का क्षय नहीं, विनाश नहीं, जो आत्मा अजर अमर है, वह वुझ कैसे सकता है ?

श्रुति, दर्शन, पुराण, उपनिषत्, तन्त्र आदि शास्त्रों में मुक्ति के संपर्क में जितना कुछ कहा गया है, उससे यही प्रतीत् होता है कि जीवात्मा की स्वरूप अवस्थान ही मुक्ति और स्वरूप त्याग ही वन्धन है। हृदय के ग्रंथियों की अर्थात् जड़ तथा चैतन्य के बन्धन-

ग्रन्थि समूहों का उच्छेद ही मुक्ति और उनका अवस्थान ही बन्धन है। यथार्थ दर्शन अथवा भ्रमबुद्धि का विदुरित होना ही मुक्ति और यथार्थ दर्शन का अभाव ही बन्धन है। चंचलता शुन्य मन की स्थिरता ही मुक्ति और अनेक विषयों की ओर मन का धावन होना ही बन्धन है। मन का शान्ति रूप निर्मल आनन्द ही मुक्ति और मन का स्वरूप प्रकाश ही बन्धन है। संसार के किसी भी वस्तु के प्रति आस्था का न होना ही मुक्ति और अनात्मिय पदार्थों के प्रति कण मात्र आस्था का रहना ही सुदृढ़ बन्धन है। इस अनित्य संसार की समस्त संकल्पों का क्षय ही मुक्ति और संकल्प मात्र ही बन्धन है। सम्पूर्ण रूप से अपनी इच्छा अथवा वासना का त्याग ही मुक्ति और वासना मात्र ही बन्धन है। सब आशाओं के क्षय होने से मन का जो क्षय होता है वही मुक्ति है और आशा मात्र ही बन्धन है। भोग चिन्ता का सम्पूर्ण विराम ही मुक्ति है और भोग चिन्ता ही बन्धन है। सब प्रकार की आसक्तियों का त्याग ही मुक्ति और विषयसंग ही बन्धन है। द्रष्टा के साथ दृश्य वस्तु का सम्पर्क ही बन्धन है। विशेष विवेचना करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन वाक्यों के द्वारा हम केवल मुक्ति के भाव को ही प्रकाशित कर सकते हैं। आत्मा के स्वरूप भाव से विच्छिन्न होना ही बन्धन और स्वरूप में अवस्थान ही मुक्ति है। स्वरूप संपर्क में मतभेद रह सकता है, किन्तु इसमें कोई मतभेद नहीं कि स्वस्वरूप में अवस्थान करना ही मुक्ति है। यथा—

मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।

अर्थात, अन्य रूप को त्याग कर, स्वरूप अवस्थान ही मुक्ति है। दूर्वासा दत्तात्रेय, उद्दालक, आरुणि, शुकदेव, प्रह्लाद, श्वेतकेतु आदि अनेक व्यक्ति, देह-धारी मनुष्य होते हुये भी, शास्त्रों में इन्हें मुक्तपुरुष कहा गया है। अतः आशा है कि निर्वाण का अर्थ 'अहंका नाश' नहीं होता हैं—इस को आपलोग समझ गये होंगे। निर्वाण का अर्थ यदि स्वरूप में प्रतिष्ठित होना है तो फिर 'बुझ जाना' कैसा? पार्थिव सुख-दुःख, पार्थिव अभिलाषा इत्यादि सभी प्रकार के पार्थिव भावों की विलीन अवस्था ही निर्वाण है। अद्वैतवादी, "निर्वाणन्तु मनोलयः" अर्थात् मन के लय को ही निर्वाण मानते हैं।

भगवान बुद्ध ने जरा, मृत्यु तथा दुःख से छूटकारा पाने को ही निर्वाण कहा गया है। अतएव निर्वाण शब्द से सत्ता का विलोप अथवा 'महानाश' का अर्थ नहीं होता, वह केवल मात्र भ्रम, घृणा, तृष्णा, आदि का आत्यन्तिक उच्छेद करबाना होता है। Prof. Maxmuller ने निर्वाण के विषय में कहा है—If we look in the Dhammapada, at every passage when Nirvan is mentioned, there is not one which would require that its meaning should be anihilation, while must of all would become perfectly unintelligeble if we assigned to the word Nirvan that signification.

—**Buddha Ghosha's Parable P. XII**

ज्ञानगरिष्ठ ऋषिश्रेष्ठ वशिष्ठ देव ने कहा है—

एष एव मनोनाशस्त्वविद्यानाश एव च।
यद् यत् सद्विद्यते किंचित् तत्रास्थापरिवर्जनम् ॥
अनास्थैव हि निर्वाणं दुःखमास्थापरिग्रहः ॥

—योगवाशिष्ठ

जो वस्तुयें सतरुप में विद्यमान हैं, उनके प्रति आस्था का परित्याग ही मनोनाश तथा अविद्या का नाश कहलाता है। अनास्था रुप मनोनाश ही निर्वाण है। अतः अविद्याजनित मन का बुझ जाना ही निर्वाण शब्द का अर्थ है।

मनोलयात्मिका मुक्तिरिति जानीहि शंकरी।

—कामाख्यातंत्र, ८५

—जिस स्थिति में मन का लय हो उसी को मुक्ति समझो। अद्वैत मत प्रतिष्ठाता शिवावतार भगवान शंकराचार्य ने कहा है—

कस्यास्ति नाशे मनसो हि मोक्षः।

—मणिरत्नमाला

—किस वस्तु के नाश हो जाने पर जीव को मुक्ति मिलती है?: मन के विनाश हो जाने पर जीव को मुक्ति मिलती है। अत मुक्ति की चरम अवस्था को ही ब्रह्मनिर्वाण कहा जा सकता है। साधक जब शान्त आदि गुण से युक्त होकर परमेश्वर को आत्म-स्वरूप के रूप में अवलोकन करता है तो परम रसानन्द-स्वरूप ज्योतिर्मय अद्वैत परब्रह्म उसके आत्मस्वरूप में अवस्थान करता है। इसी को ब्रह्मनिर्वाण कहते हैं। यथा—

पुरुषार्थ शुन्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः।
निर्वाणं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति ॥

गुण अर्थात् प्रकृतिदेवी जब पुरुषत्यागिनी होती है अर्थात् जब गुण पुरुष अथवा आत्मा के सामिप्य में महत् तथा अहंकार आदि के साथ नहीं मिलती तो पुरुष या चित्स्वरूप आत्मा को वह रूप-रसादि रूप किसी भी प्रकार की विकृति करवाने में समर्थ नहीं होतीं। पुरुष जब निर्गुण होता है अर्थात् जब प्रकृति और प्राकृतिक विकार, आत्मचैतन्य में प्रदीप्त नहीं होता, जब आत्मा में किसी भी प्रकार की प्राकृतिक द्रव्य अथवा प्रकृति प्रतिबिम्बित नहीं होती, केवल मात्र वह चैतन्य में प्रतिष्ठित होता है—विकारों का दर्शन नहीं होता, तो वह निर्विकार अथवा केवल बन जाता है। इसी को कैवल्य या निर्वाण मुक्ति कहते हैं। सब मतावलम्बियों की विश्राम भूमि यही स्थिति है। अतएव वेदान्तोक्त निर्वाणमुक्ति ही ज्ञानी मात्र का चरम लक्ष होना चाहिये।

———

मुक्तिलाभ करने के उपाय

वेदान्तोक्त निर्वाणमुक्ति ही यदि सभी मतवादों के परमपुरुषार्थ का लक्ष है तो हमें उसको लाभ करने की चेष्टा सर्वप्रकार से करना चाहिये। स्वरूप में प्रतिष्ठित होते ही निर्वाणमुक्ति मिलती है। अतः यदि स्वरूप का ज्ञान न रहे तो हम उसमें प्रतिष्ठित कैसे हो सकते हैं? मैं स्वयं वेदान्तवादी हुँ, इसलिये यहाँ पर वेदान्त प्रतिपादित स्वरूप का ही अनुसरण करुँगा।

वेदान्त के मतानुसार ब्रह्म के अतिरिक्त न कुछ है और न कुछ हो सकता है, क्योंकि—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान् ।

—छान्दोग्योपनिषत्

यह सारा जगत ही ब्रह्म है क्योंकि तज्ज—उसी से जन्म होता है, तल्ल—उसी में लीन होता है तथा तदन्—उसी में स्थिति होती है अथवा चेष्टित होता है। अतः वृक्ष, लता, नदी, पर्वत, जीव, जन्तु, ग्रह, नक्षत्र आदि जो कुछ भी हम देखते हैं—वह ब्रह्म है। ब्रह्म के सिवा अन्य वस्तु आयेगा कहाँ से ? परब्रह्म अनादि तथा अनन्त है। अनन्त वस्तुओं की सत्ता को स्वीकार कर लेने पर अन्य किसी भी वस्तु की स्वतन्त्रता को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। यह इसलिये कि अनन्त सत्ता तो एक है, अनेक नहीं। जो वस्तु अनन्त है, वह सर्बव्यापी भी है। अनन्त के रूप में जो सर्वव्यापी है, उसे छोड़ कर अन्य किसी भी वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार कर लेने पर फिर अनन्त वस्तु का सर्व व्यापीत्व रहता ही नहीं। जो अनन्त है उसमें समस्त वस्तु ही अवस्थान करता है। यदि यह प्रमाणित सत्य है तो फिर इस परिदृश्यमान जगत की स्वतन्त्र सत्ता असत्य है। जगत उस अनन्त सत्ता से अलग कैसे हो सकता है ? यदि हम यह कहें कि जगत स्वतन्त्र पदार्थ है तो मानना पड़ेगा कि परब्रह्म अनन्त नहीं है। अतएव जगत ब्रह्म में ही अवस्थान करता है। ब्रह्म ही विश्वव्यापी बन कर सब पदार्थों में ओतप्रोत है। कोई भी तर्कशास्त्र इस

युक्ति का खंडन नहीं कर सकता है। जो लोग कहते हैं कि परमेश्वर सर्वव्यापी है किन्तु जगत उस परमेश्वर से स्वतन्त्र तथा भिन्न वस्तु है तो वे परमेश्वर की अनन्तसत्ता के अस्तित्व तथा सर्वव्यापीत्व को स्वीकार नहीं करते। जो अनन्त है, वह अनादि भी है। जहाँ आदि है, वहाँ सीमा है और शेष भी है किन्तु अनन्त की न कोई सीमा है और न ही शेष। अतः अनन्तपदार्थ अनादि है। अतएव ब्रह्म यदि अनादि, अनन्त है तो मानना पड़ेगा कि यह जगत और ब्रह्मांड भी उसी अनन्त का (ब्रह्म का) शरीर और रूप है। अनन्त विश्व में वस्तु के रूप में वही अवस्थित है तथा यह अनन्त विश्व भी उसी में अवस्थान करता है। सृष्टि से पहले जब कुछ भी नहीं था तो केवल परब्रह्म ही पूर्ण रूप में सर्वत्र बर्तमान था। इसकी इच्छा हुई—"मैं अनेक बनुंगा।" फिर चेतन-अचेतन जीवों से पूर्ण इस जगत के रूप में वह अनेक बना। अतएव यह जगत ब्रह्मरूप है और हमारो आत्मा भी अबिद्या विच्छिन्न ब्रह्मात्मा है। जब मनुष्य रूपी अविद्या-विच्छिन्न-ब्रह्म को तत्व ज्ञान होता है तो वह अपने को सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म समझ पाता है। इसी ज्ञान को स्वरूप प्रतिष्ठा अथवा मुक्ति कहते हैं।

मैं ब्रह्म हूँ ; यही हमारा स्वरूप है। माया परिशुन्य "मैं" ब्रह्म है और मायोपाधिक "मैं" जीव। जीव में चैतन्य तथा चैतन्य चालक शक्ति विद्यमान है। चैतन्य ही ईश्वर है और चैतन्य चालक शक्ति ही माया है। जिस तरह वासना के सहयोग से जीव अनेक प्रकार का रूप ग्रहण करता है, वह नाना प्रकार का क्रिया-

परतन्त्र बनता है, उसी प्रकार माया के सहयोग में चैतन्य भी बहु क्रिया-मय बन कर जीव जगत के रूप में प्रकाशित हुआ है। जीव मायाधिकृत है तो चैतन्य माया मुक्त ब्रह्म है।

चैतन्य और माया अलग कोई पदार्थ नहीं होता, केवल विभिन्न क्रियामय रूप होता है। चैतन्य जड़भाव में रूपान्तरित होने पर जड़ बन जाता हैं। चैतन्य और जड़ के बीच, किन्तु दोनोंके मिश्रण से बना, जो चैतन्य-प्रकाशित शक्ति रहती है, उसी को माया अथवा ईश्वर वासना कहते हैं। यदि चैतन्य क्रियात्मक अवस्था में न रहे तो माया चैतन्य में लय हो जाता है। माया के लय होते ही, जगत का भी लय हो जाता है। चैतन्य को क्रियान्वित तथा प्रकाशित करने के लिये काल और सत्—ये दो ईश्वरीय चैतन्य के कारण जो स्थूल अवस्था प्रकाशित होती है—वही माया अथवा प्रकृति है। अतएव एक ही चैतन्य, वासना में भी परिवर्तित हो जाती है। जिस प्रकार सूर्य अपनी शक्ति से स्थूल भूत के रूप में जल बरसाता है और फिर सूक्ष्म रूप से उसे ग्रहण भी करता है, उसी प्रकार ईश्वर वासना युक्त होकर जीव बनता है और फिर वासना विमुक्त होते ही ईश्वर बन जाता है। ईश्वर चैतन्यस्वरूप है। उसकी सक्रिय वासना उसी में लीन हो जाती है अथवा ऐसा भी संभव है कि जिस अंश में वासना नहीं रहता वह अंश नित्य तथा सर्वाधार के रूप में वर्तमान रहता है। एक ही आत्मा, मन के अनेकत्व के कारण विभिन्न रूप में प्रकाशित होता है। जीव असंख्य होता है किन्तु आत्मा असंख्य नहीं होता। एक ही आत्मा

देह-परिच्छेद के अनुसार अनेक देह में विभिन्न बन कर विराज कर रहा है। प्रति शरीर में मन भिन्न होता है। अतएव सुख-दुःख, शोक-संताप, जन्म-मृत्यु, वन्धन-विमुक्ति आदि भी भिन्न होते हैं। यथा—

ईश्वरेनैव जीवेन सृष्टं द्वैतं विविच्यते।
विवेके सति जीवेन हेयो वन्धः स्फुटीभवेत्॥

—द्वैतविवेक

एक तथा अद्वितीय ब्रह्म ही कार्यकारण भावानुसार जीव और ईश्वर बना है। कारण भावानुसार अन्तर्यामी ईश्वरोपाधि तथा कार्य भावानुसार अहंपदवाच्य जीवोपाधि हुआ है। ब्रह्म अद्वैत होने पर भी कार्यकारण भावानुसार द्वैत प्रतीयमान हुआ है। इस द्वैत भाव को दूर भगाने का एक मात्र उपाय विवेक है। जीव में विवेक-ज्ञान उपस्थित होने पर जीव तथा ईश्वर रूपी उपाधि का नाश हो कर केवल मात्र शुद्ध चैतन्य अवशिष्ट रह जाता है। वही अद्वैत ब्रह्म है। इसी अद्वैत ज्ञान के द्वारा ही संसार वन्धन से मुक्ति मिलती है।

यद्यपि सृष्टि से पहले परब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं था। एक मात्र वही पूर्ण रूप से अनन्त देश को अधिकार कर रखा है। यद्यपि संसार के उपादानों को उसने कहीं बाहर से नहीं लाया किन्तु उसी की इच्छा से तथा शक्ति से वे सब उत्पन्न हुये हैं। यद्यपि वही सबका सर्वस्व है तथापि निम्न अधिकारी के लिये यह मान लेना कठिन है कि पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, चन्द्रमा,

सूर्य आदि दृश्य जड़ बस्तु तथा जीव ब्रह्म ही है। विश्वास तो दूर की बात है, उपर से विज्ञ बनते हुये कहते फिरते हैं कि "ज्ञानमय ब्रह्म जानबुझ कर अविद्यावच्छिन्न बना और जीव तथा जड़ जगत हुआ है, यह बात असंभव हैं। यह कैसे संभव है कि हम सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म हुये और अपनी ही इच्छा से अविद्यावच्छिन्न होकर संसार के ताप से तापित हो रहे हैं और उधर हमारे सामने चारों तरफ के दस्युगण तथा शिविका-वाहक वृन्द—आदि भी ब्रह्म हैं जो केवल अविद्यावच्छिन्न होने के कारण मर्तलोक में जीविका के लिये सद-असत् कार्यों का संपादन कर रहे हैं। ऐसी वातें केवल पागल ही कह सकते हैं। प्रत्यक्षदृष्ट जीव-जगत को मिथ्या कह देने में जिन्हें संकोच नहीं होता, उसे लज्याहीन नास्तिक के सिवा मुक्तपुरुष कौन समझेगा?"

भेदवादी, वेदान्तवादी के "जगत् मिथ्या" भाव को उपलब्ध न कर सकने के कारण, उसका प्रतिवाद करते हैं। यहाँ तक कि आचार्यपाद रामानुज भी इस भूल के हाथ से रक्षा न पा सके। वैदान्तिक कहता है कि व्यवहारिक ज्ञान में यह जगत भो सत्य है। किन्तु भ्रम के दूर होते ही जिस प्रकार सर्प तथा रजत का ज्ञान विदुरित होकर रस्सी तथा सीप का ज्ञान मात्र शेष रह जाता है, उसी प्रकार ज्ञानावस्था में जगत ब्रह्ममय हो जाने के कारण असत्य प्रतीत होता है। यह असत्य, अवस्तु में वस्तुज्ञान की तरह मिथ्या नहीं होता। वह शुन्य में सर्पभ्रम की तरह नहीं, केवल रज्जु में सर्पभ्रम मात्र है। अतएव जबतक भ्रम सत्य है,

तबतक सर्प भी सत्य है किन्तु भ्रम के भागते ही वहाँ रज्जुज्ञान होता है। उसी प्रकार अज्ञान अवस्था में ब्रह्म के स्थान पर जगत का भ्रम होता है और जबतक यह भ्रम रहता है तबतक जगत भी सत्य है किन्तु भ्रम के विदुरित होते ही जगत के स्थान पर ब्रह्म अवशिष्ट रहता है—यहाँ पर जगत मिथ्या है। व्यवहारिक ज्ञान में जगत सत्य है किन्तु पारमार्थिक ज्ञान में वह मिथ्या प्रतीत होता है। उसी प्रकार अज्ञानावस्था में जो व्यवहारिक जीव है, ज्ञानावस्था में वही परमार्थिक ब्रह्म है। "तत्वमसि"—वाक्य के द्वारा आत्मा को प्रतिपन्न किया गया है और "नेती नेती" वाक्य के द्वारा इस मिथ्याभूत पंचभौतिक जगत को हटाकर श्रुतिवाक्यों के द्वारा एक परिशुद्ध आत्मा को ही प्रतिपन्न किया गया है।*

तत्वमसि वाक्य के 'तत्' पद का अर्थ परिशुद्ध परमात्मा और 'त्वं' पद का अर्थ व्यवहारिक जीवात्मा है। 'तत' और 'त्वं' का ऐक्य ही 'असि' पद के द्वारा साधित हुआ है। यदि आपके मन में यह प्रश्न जागे कि सर्वज्ञ परमात्मा के साथ अल्पज्ञ जीवात्मा का ऐक्य कैसे संभव है, तो ऐसा कहा गया है कि 'तत्' तथा 'त्वं'

---

*मेरे 'ज्ञानीगुरु' पुस्तक में ब्रह्मविचार, मायावाद, जगतप्रपंच, जीवेश्वर भेद आदि उसके ज्ञानकांड में विशदरूप से बखाने गये हैं। विरुद्धवादीयों की युक्तियों का खंडन भी वहाँ मैंने किया है। अतः यदि उन तत्वों को सम्यकरूपसे जानना चाहें तो उस पुस्तक को अवश्य पढ़ें। यहाँ पर केवल प्रतिपाद्य विषय का उपयुक्त अंश ही आलोचित हुआ है। अतः ज्ञानहीन व्यक्ति के लिये अंशमात्र पढ़ कर उस उदार ज्ञान के विराट भाव को समझ लेना अत्यन्त कठिन है।

पदार्थ, स्वरूपतः ईश्वर तथा जीव का परोक्ष भाव है किन्तु यदि हम सर्वज्ञत्व तथा अपरोक्षत्व और अल्पज्ञत्व आदि विरुद्ध अंशों को त्याग कर 'त्वं' पद का शोधन करके लक्षणों के द्वारा लक्षित ईश्वर तथा जीव के अविरुद्धांश रूपी चित् पदार्थ मात्र को ही (जो अस्ति, भाति, प्रीति के रूप में सर्वदा स्फूर्ति पा रहा है) ग्रहण करें तो फिर ब्रह्मचैतन्य और जोवचैतन्य के बीच केवल एक चैतन्य ही अवशिष्ट रह जाता है। अतएव चैतन्य का ऐक्य संभव है।

हे पाठक। अद्वैतवादी वैदान्तिकों ने जीव ब्रह्म का ऐक्य किस प्रकार से किया है, उसे आप समझ गये होंगे। जीव और ब्रह्म के निर्गुण एकत्व का प्रतिपादन करना ही अद्वैतवादी का लक्ष है। यह तो महामूर्ख भी समझ सकता है कि गुणों का एकत्व संभव नहीं है। ऐक्य शब्द का यह अर्थ नहीं है कि दो बस्तुओं के परस्पर संयोग के द्वारा वह साधित हुआ हो। एक्य का अर्थ है—एकता भाव। ये एक जैसे हैं—ऐसा प्रतीत होना। जो वस्तु पहले था और अब भी है—यह वही बस्तु है; वे एक हैं। यह अन्य है—ऐसा भाव नहीं होना चाहिये। वही वस्तु है किन्तु केवल भ्रमवशतः अन्य प्रतीत मात्र हो रहा है। अतः यहाँ पर द्वैत भाव स्वीकारनीय नहीं है—भ्रम मात्र है। यह ऐक्य केवल दो वस्तुओं की ऐकता का द्योतक नहीं है, वह हमें स्मरण मात्र करवा देता है कि कल के तुम ही, आज के तुम हो। व्यवहारिक ज्ञान का जोव, पारमार्थिक ज्ञान का ब्रह्म है। हमारा स्वरूप ब्रह्म है, अर्थात्—मैं ब्रह्म हुँ—इस ज्ञान में जिसका विश्वास जितना दृढ़ बन सकाहै, वही मुक्त है।

केवल ब्रह्म ही सत् है, अन्य सभी असत्। अविद्या के प्रभाव से व्यवहारिक दशा में स्वप्न देखने जैसा असत् भी सत् प्रतीत होता है मात्र। जिस प्रकार निद्रा के टूटते ही, मनुष्य केवल मनुष्य रह जाता है और उसके स्वप्न का सुख राज्य लोप हो जाता है, उसी प्रकार अविद्या रूपी निद्रा के टूटते ही जीव अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। यथा—

यथा दर्पणाभाव आभासहानौ मुखं विद्यते कल्पनाहीनमेकम्।
तथा धी-वियोगे निराभासको यः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा॥

—हस्तामलक

—जिस प्रकार दर्पण के अभाव में उसके प्रतिविम्व का भी अभाव होता है और फिर उपाधिरहित मुख मात्र ही शेष रह जाता है, उसी प्रकार बुद्धि के अभाव में प्रतिविम्वरहित आत्मा स्वस्वरूप में अवस्थान करता है—मैं वही परमार्थ सत्य नित्योपलब्धिस्वरूप आत्मा हुँ।

जिसको यह ज्ञान हो चुका हो—वह मुक्त है। इसीलिये तो मुक्तपुरुष की उदात्त घोषणा है—

"श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रंथकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

अर्थात्—असंख्य ग्रंथों में जो कहा गया है उसे मैं श्लोकार्ध में बखान रहा हूँ—"ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या। जीव ब्रह्म के सिवा और कुछ भी नहीं है।"

वेद वेदान्त ने इसी अध्यात्म विज्ञान को प्रकाश किया है और उसे प्रकाशित कर मानव को एक नयी दृष्टि दी है। उसी को गुरु-नेत्र अथवा ज्ञानचक्षु कहते हैं। सद्गुरु की कृपा से जीव की आँखें खुलते ही वह आत्मस्वरूप को लाभ कर कृतकृतार्थ बन, मुक्त हो जाता है। यथा—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

—श्रुति

परावर का अर्थ है कार्यकारण स्वरूप परमात्मा का जीव के द्वारा अधिगत हो जाने पर, उसकी हृदय-ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं और सारे संशय छिन्न हो जाते हैं और त्रिविध कर्मो का क्षय हो जाता है। अतः उसका पूनर्जन्म नहीं होता, उसे निर्वाण लाभ होता है।

अतएव एकमात्र वेदान्तप्रतिपादित ब्रह्मज्ञान ही मुक्तिलाभ करने का उपाय है। वह ज्ञान दो प्रकार का होता है—परोक्षज्ञान तथा अपरोक्ष ज्ञान। पहले ब्रह्म के स्वरूप की उपलब्धि से परोक्षज्ञान जनमता है। फिर जब ब्रह्मस्वरूप, स्व-स्वरूप प्रतीत होने लगता है तो अपरोक्ष ज्ञान का उदय होता है और उससे निर्वाणमुक्ति मिलती है। व्यवहारिक दशा में जीव और ईश्वर में आत्मगत भेद बर्तमान है। स्थूल रूप में हम कह सकते हैं कि ब्रह्म खाँटी सोना है तो जीव मिलावटी सोना। किसी में मिलावट कम है तो किसी में अधिक। उसी कारण जीव में

विभेद दृष्ट होता है। किन्तु खाँटी सोना भी सोना कहलाता है और मिलावटी सोना भी सोना कहलाता है। किन्तु आत्मगत भेद उनमें रहता ही है। वर्ण तथा गुण का पार्थक्य भी रहता है। किन्तु जिस प्रकार स्वर्णकार आग में पिघला कर, विशेष पदार्थ की सहायता से, उसे फिर से पका हुआ सोना बना देता है, उसी प्रकार जीव वासना-कामना के मिलाबट हेतु ब्रह्म से स्वगत भेद युक्त है। वासना कामना की मिलावट अथवा यों कहिये कि अविद्या की खाद को ज्ञान की आग में गला कर अलग कर देने पर जीव फिर से पहले जैसा ब्रह्म बन जाता है। इसी को मोक्षलाभ कहते हैं। यहो कैवल्यप्राप्ति है। इसी अवस्था में द्वैतनिरोध अथवा अद्वैतसिद्धि मिलती है।

यल्लाभान्नापरो लाभो यत्सुखान्नापरं सुखम्।
यज्ज्ञानान्नापरं ज्ञानं तद् ब्रह्मेत्यवधारय॥

—जिस से अधिक लाभ संभव नहीं, जिससे अधिक कोई ज्ञान नहीं, जिससे अधिक न कोई सुख है, उसी को ब्रह्म समझो।

ब्रह्म में आत्म स्वरूप की उपलब्धि से अधिक पुरुषार्थ और क्या हो सकता है? उसी को निर्वाणमुक्ति कहते हैं। आत्मज्ञान के द्वारा ही मुक्तिलाभ होता है। 'ज्ञानात् संजायते मुक्तिः'—अतएव एकमात्र ज्ञान ही मुक्ति लाभ का उपाय है।

———

वैराग्य का अभ्यास

तत्व ज्ञान के द्वारा मुक्ति मिलती है। फिर जैसा कि मैं कह चुका हूँ—"तत्वज्ञानस्य कारणम्"—भक्ति के द्वारा तत्वज्ञान विकसित होता है। अतएव मुमुक्षु व्यक्ति पहले वेद विधि के अनुसार वर्णाश्रम निर्णित क्रिया कलापों का संपादन करेगा जिसके फलस्वरूप, चित्त की शुद्धि होगी और भक्ति का संचार होगा। जब मुक्तिलाभ करने के लिये प्रवल ईच्छा जागेगी तो उस समय आत्मस्वरूप को लाभ करने के लिये वेदान्त आदि शास्त्रानुसार ज्ञान की आलोचना करनी चाहिये। यदि शम-दम, विवेक-वैराग्य से युक्त व्यक्ति मुक्तिलाभ करने के लिये व्याकुल हो तो वह ज्ञाना-लोचना का अधिकारी बनता है। किन्तु कर्मवादी व्यक्ति को ज्ञान चर्चा से वुद्धि-विभेद करना शास्त्रविरोधी कर्म है। यथा—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।

—श्रीमद्भगवद्गीता

मुमुक्षु व्यक्ति, विवेक वैराग्य युक्त होकर ज्ञान की आलोचना करेगा। आत्मा के विचार का नाम विवेक तथा आत्मवस्तु को लक्ष्य बना कर अनात्म वस्तुओं के प्रति अनुराग का परिहार करना ही वैराग्य है। एकमात्र भक्ति के संचार से ही वैराग्य उत्पन्न होता है। आत्म तथा अनात्म के विवेक से जिस प्रकार अनात्म वस्तुओं के प्रति बैराग्य जागता है, उसी प्रकार भक्ति के द्वारा भी भगवान के

सिवा अन्य पदार्थों के प्रति वैराग्य जनमता है। विवेक और बुद्धि— इन दोनों वृत्तियों के अनुशीलन से ही वैराग्य उत्पन्न होता है। किन्तु विवेक के द्वारा उत्पन्न वैराग्य तथा भक्ति के द्वारा पनपता हुआ वैराग्य में स्थूल अन्तर वर्तमान है।

हरगौरी मूर्ति

मैं पुराण के आदर्श को सामने रख कर इस तत्व को समझाने का प्रयत्न करूगाँ। हर और गौरी दोनों संसार त्यागी श्मशान-वासो हैं। भक्त उन्हें वैरागी समझता है। किन्तु हर का वैराग्य विवेक लब्ध है तो गौरी का वैराग्य भक्तिमूलक है जिसका मूल प्रेम है। योगेश्वर हर, आत्म अनात्म विवेक के द्वारा नित्य आत्म स्वरूप को अवगत कर, समस्त अनात्म पदार्थों के प्रति विराग होने के कारण, आत्माराम बन सके हैं। अतः विषय की अनित्यता को बनाये रखने के लिये स्वर्णपूरी तथा कुवेर के रक्षित भंडार को परित्याग कर महाश्मशान जैसे मृत्यु के महाक्षेत्र को उन्होंने अपना निवास स्थान बनाया है। नर-कपाल उनका जलपात्र है और मनुष्य शरीर का अवशेष चिताभष्म उनके अंगों का भूषण बना है। उनके कमर पर कभी चमड़े का आच्छादन रहता है तो कभी वे दिगम्वर बने रहते हैं। भोगी मनुष्य के लिये यह दृश्य कितना कर्कश, कितना कठोर, कितना भीषण-दर्शन लगता

होगा। उधर प्रेममयी गौरीने हर के लिये सर्वस्व त्याग कर उनके अनुराग में पागल बन कर, श्मशान निवासी शिव के साथ अपने सुनहरे तन को राख में लेप रखा है। गौरी शिव को चाहती है बस, उन्हें नित्य अनित्य के विचार के लिये अवकाश नहीं। शिव को पाने के लिये वह कुछ भी कर सकती हैं। शिव सन्यासी हैं इसीलिये गौरी श्मशानवासी बनीं। यदि शिव राजा बन जायें तो वे भी उनके साथ बिना किसी प्रतिवाद के राजराजेश्वरी बन कर उनके ही प्रिय कर्मों में नियुक्त रहेगीं। गौरी अपनी भक्ति, प्रेम और त्याग के कारण शिव के पास अपने स्वरूप में ही अवस्थान करती है, उन्हें विरूप होना नहीं पड़ा है। अहा! कितना सुन्दर दृश्य है! प्रेम, विवेक का अनुसरण कर रहा है और विवेकने प्रेम को अपने हृदय में दवा कर रखा है। यदि हमें हर-गौरी के सम्पर्क का सम्यक ज्ञान हो जाये तो ब्रह्मतत्व, जगततत्व, आत्मतत्व, विवेक वैराग्य तत्व, प्रेमभक्ति तत्व—किसी भी तत्व को समझना वाकी नहीं रह जाता। इस सम्पर्क में पुराणकारों के कृतित्व की प्रशंसा जितनी भी करें, वह कम है। भगवान व्यासदेव के अतिरिक्त ऐसा चित्रण कवि की भाषा में चित्रित करना, अन्य किसी के लिये भी संभव नहीं था।

पाठक! अब आप भक्ति वैराग्य को समझ पाये होंगे। भक्ति में वैराग्य तो प्रमाणित सत्य है। भक्ति तत्व में हम देख चुके हैं कि जब परानुरक्ति वृत्तियाँ विषय की ओर भागती हैं तो उसे आसक्ति और यदि वे भगवान की ओर आकर्षित होती हैं तो उसे

भक्ति कहते हैं। अतः आसक्ति और भक्ति एक साथ नहीं रह सकती। यह विज्ञान सम्मत तथ्य है। फिर आसक्ति का परिहार या विषय के प्रति विरक्ति—बात एक है। सुतरां भक्ति लाभ करने पर वैराग्य का स्वयं उदय होता है। विवेकजनित वैराग्य की अपेक्षा भक्तिजनित वैराग्य अधिक स्वाभाविक होती है। केवल कर्त्तव्य के लिये किसी कार्य को करना अथवा हृदय के आकर्षण से किसी कार्य का संपादन कहना—इनमें जिस तरह अन्तर होता है, उसी प्रकार का अन्तर विवेकजनित वैराग्य तथा भक्ति जनित वैराग्य में भी होता है। दूसरे का पूत्र, जहाँ केवल कर्त्तव्य के लिये मेरी मृत्यु पर शोक सभा का आयोजन करेगा वहाँ मेरे अपने पूत्र को मेरी मृत्यु के लिये शोक सभा के माध्यम से अपना शोक प्रकाश करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। वह अनायास ही गला कटे हुये कपोत की तरह धरती पर कराहता दीखाई पड़ेगा। दूसरे के बेटे को यदि बाघ झपटने आये तो अति वलवान व्यक्ति भी कर्त्तव्य-ज्ञान का विचार करेगा कि बाघ की शक्ति और उसकी अपनी शक्ति में कौन बलवान अधिक है। किन्तु उस बालक की शोषड़ी माँ, जो स्वंय कुत्ते के भोंकने पर घर में जा छिपती है, तत्काल अपने सन्तान के प्राण की रक्षा के लिये, अपने को बाघ के मुँख में सौंप देगी। उसके पास उस क्षण, अपनी और बाघ की शक्ति को सन्तुलन करने की चिन्ता तक करने के लिये समय कहाँ ? अतः विवेक की अपेक्षा भक्तिजनित वैराग्य ही स्वाभाविक है। भक्त न तो विषय में आसक्त रहता है और न उससे विरक्त। इसलिये

विवेक की कठोरता तथा कर्कशता के बदले उसे प्रेम की सुन्दरता तथा मधुरता ही उसे अधिक दृष्ट होती है। भक्त भगवान के लिये सबकुछ कर सकता है। उसे तो उनके सिबा वैकुंठ भी नहीं भाता। उनके साथ वह नरक में भी जाने को प्रस्तुत है। इसीलिये वैष्णव साधक कहते हैं—

अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपभुंजतः।
निर्वन्धं कृष्णसम्वन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु

अनासक्त होकर यथायोग्य विषय को भोग करते हुये भगवान के प्रति जो आग्रह जनमता है, उसी को वैराग्य कहते हैं।

विवेकी, समस्त विषयों का परित्याग कर अन्तर्मुखी बन जाता है और भगवान को हृदय में रख कर सब भोग किया करते हैं—यहाँ तक कि भक्त महाश्मशान में भी सुधांशु सौन्दर्य सुख उपभोग करते हैं। किन्तु भगवान को खो कर, नन्दन कानन भी भक्त के लिये मरुभूमि समान प्रतीत होता है। जहाँ विवेकी आत्मस्वरूप का दर्शन चाहता है वहाँ भक्त भगवान को हृदय में रखने में ही व्याकुल रहता है। अतः उनके लब्ध वैराग्य में भी प्रभेद होता है। त्यागी सन्यासी संप्रदाय में साधन भेद के अनुसार कोई कठोर, कोई सरस, कोई शुष्क, कोई ताजा, कोई विलासी, कोई उदास, कोई गंभीर, कोई बातुनी, कोई रसाल, कोई भयाल, कोई शिष्ट, कोई भ्रष्ट, कोई रुष्ट, कोई तुष्ट—विभिन्न प्रकार के होते हैं।

यद्यपि विवेको अथवा भक्त लब्ध वैराग्य में विभिन्नता दीखाई पड़ती है किन्तु इसमें तनिक भी संन्देह नहीं कि वैराग्य चाहिये ही। किसी कारण वश यदि विषय-वैराग्य का उत्पन्न हो तो तत्वज्ञान प्रकाशित होकर भक्ति प्रदान करती है। फिर तत्वज्ञान प्रकाशक मुक्तिप्रद वैराग्य कहते किसको हैं ?

ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु वैराग्यं विषयेष्वनु।
यथैव काकविष्ठायां वैराग्यं तद्धि निर्मलम् ॥

—अपरोक्षानुभूति-४

जिस तरह काकविष्ठा में किसी की प्रवृत्ति नहीं होती, उसी प्रकार सत्यलोक से मर्तलोक तक के समस्त बस्तुओं में जिस की अनिच्छा होती है—वही वैराग्य है। यह वैराग्य अत्यन्त निर्मल होता है।

वैराग्य के द्वारा मनोवृत्ति का निरोध होता है अर्थात् अभ्यस्त वहिर्गत मन लौट कर अन्तर्मुखी बन जांता है। केवल आत्मा के प्रति चित्त कां अभिनिवेश होता है। इस प्रकार आत्मा के प्रति चित्त का अभिनिवेश दृढ़ बन जाने के लिये सर्वदा निष्ठा के साथ वैराग्य का अभ्यास करना पड़ता है। वैराग्य के सिबा संसार के प्रति आसक्ति कभी भी नहीं छूटती। फिर संसार के प्रति आसक्ति को छोड़े बिना निवृत्ति के पथ पर मुक्ति लाभ करना संभव नहीं होता। अतः निष्ठा के साथ वैराग्य का अभ्यास करना चाहिये। यथा—

जन्मान्तरशताभ्यस्ता मिथ्या संसारवासना।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित्॥

—मुक्तिकोपनिषद २।१५

—वह मिथ्या संसार वासना जो पूर्व के हजारों वर्षों से चलता आ रहा है, वह चिर-अभ्यास योग के माध्यम से वैराग्य साधन करे बिना अन्य किसी प्रकार से भी क्षय प्राप्त नहीं होता।

अतएव इस भीषण संसार यातना के निवारण के लिये शास्त्रों की आलोचना करनी चाहिये, इन्द्रियों को निग्रह करना चाहिये, ओर तपस्या के द्वारा ज्ञान को बढ़ा कर शुभ बुद्धि के लिये उपाय करना चाहिये तब जाकर वैराग्य का उदय होगा। साधुसंग के द्वारा वैराग्य वीज संचित होकर यथासमय स्वयं अंकुरित होता है क्योंकि साधु कभी भी अनित्य अथवा वृथा विषय चिंता में मनोनिवेश नहीं करते। यहाँ तक कि वे उन वस्तुओं की कल्पना तक नहीं करते। अतएव उनके साथ रहने बालों में भी उसी प्रकार की शिक्षा मिलने के कारण शनैः शनैः उसी मनोवृत्ति को प्राप्त कर वैराग्य बीज अंकुरित होता है।

पहले ब्राह्मण वर्ण अपने आश्रम के अनुसार ब्रह्मचर्य आदि धर्मानुष्ठान, वेदविहित कर्मानुष्ठान तथा सर्वभूतों में दया धर्म और संसार को संन्तुष्ट करने वाला कर्म किया करते थे क्योंकि ऐसा करने से चित्तवृत्ति परिशुद्ध होता है। फिर सच्चा विवेक जाग उठता है जो हृदय में सात्विक वैराग्य का उदय करबाता है। यथा—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानंच यदहैतुकम् ॥
—श्रीमद्भागवत १।२।७

ईश्वर-विषयी का, भक्ति के संयोग से, शिघ्र ही ज्ञान का उदय होता है और वैराग्य स्वयं उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार के सात्विक वैराग्य के अतिरिक्त राजसिक तथा तामसिक वैराग्य के माध्यम से तत्वज्ञान लाभ नहीं होता। शास्त्रों में राजसिक तथा तामसिक वैराग्य को ही नैमित्तिक वैराग्य कहते हैं। संसार में सभी को किसी न किसी कारण से कभी न कभी वैराग्य जागता ही है। श्मशान में चिता जलाते समय अथवा स्त्री पूत्र के आकष्मिक मृत्यु से अथवा शत्रु या दैव-ताड़ना के कारण दारिद्र से उपजता हुआ वैराग्य और आलसी, कामचोर, कापुरुष के वैराग्य को नैमित्तिक वैराग्य कहा जाता है। ऐसा वैराग्य अधिक दिनों तक नहीं रहता क्योंकि वह या तो अपूर्ण वासना अथवा भोग्य वस्तु के अभाव में या भय के कारण उत्पन्न होता है। वैसा व्यक्ति कुछ ही दिनों के पश्चात् फिर विषयासक्त हो पड़ता है या त्यागी-समाज को कलंकित करता है। किन्तु कदाचित वह काकतालीय*

*काकतालीय—परिपक्व अवस्था में तालफल का पतन काल उपस्थित होते ही यदि उस पर हठात काक (कौआ) बैठ जाय तो फल के गिरते ही लोग कहते हैं कि काक ने फल को गिरा दिया है, किन्तु वास्तव में काक के भार से फल गिर नहीं सकता। पतन काल के उपस्थित होते ही वह स्वयं गिर पड़ा है लेकिन काक यहाँ निमित्त बन जाता है। उसी प्रकार वन्धु वियोग आदि निमित्त कारण से वैराग्य के उपजने पर यदि वह स्थायी बन जाय तो समझना

(आकस्मिक) वैराग्य भी प्रकृत वैराग्य में परिणत हो जाता है। जो वैराग्य निमित्तरहीत अर्थात् अकारण ही पवित्र मानसक्षेत्र पर स्वयं उदित हो जाय, वहा सात्विक बैराग्य हीता है।

वर्णाश्रमोचित कर्म के द्वारा पापराशि क्षयप्राप्त होकर यदि चित्तशुद्धि न हो तो निमित्तहीन सात्विक वैराग्य उपजा नहीं करता। इसीलिये भगवती गौरो देवी ने गिरिराज को कहा—

तस्मात् सर्वाणि कर्माणि वैदिकानि महामते।
चित्तशुद्ध्यर्थमेव स्युस्तानि कुर्यात् प्रयत्नतः॥

—श्रीमद्देवीभागवत् ३३।१५

—हे महामते! जब तक चित्त शुद्ध बन कर उसमें वैराग्य का उदय नहीं होता तबतक यत्न पूर्वक भक्ति के साथ वेदविहित कर्मकांडों का अनुष्ठान करना चाहिये।

वैराग्य के उदित होते ही परिपक्क अवस्था तक महर्षि पतंजलि ने उसे चार स्तरों में बाँटा है। पहला—यतमान, दूसरा—व्यतिरेक, तीसरा—एकेन्द्रिय, और चौथा—वशीकरण। पहले में वैराग्य अंकुरित होकर विषय वासना को नष्ट करने की चेष्टा करता है—इसे यतमान कहते हैं। दूसरी अवस्था में कुछ वासनायें रह जाती हैं और कुछ का नष्ट हो जाता है। जो रह जाता है उन्हें नष्ट करने का नाम ही व्यतिरेक है। तीसरी

पड़ेगा कि वन्धु वियोग वस निमित्तमात्र है। जन्म-जन्मान्तर का शुभफल के परिपक्व होने के कारण ऐसा हुआ है वरना वन्धुवियोग किसका नहीं होता किन्तु वैराग्य तो सब में अंकुरित नहीं हुआ करता।

अवस्था में समस्त वासनायें तो नष्ट हो जाती हैं किन्तु केवल उनका संस्कार मात्र अवशिष्ट बच जाता है—यही है एकेन्द्रिय वैराग्य। चौथी अवस्था में उस संस्कार का भी लय हो जाता है अर्थात् वासना होती ही नहीं। यही वैराग्य की चरम अवस्था होती है जिसको वशीकार नामक उत्तम वैराग्य कहा जाता है। यथा—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।

—पातंजलदर्शन,समाधिपाद, सूत्र-१५

—दृष्ट विषय अर्थात् यहाँ जिसको हम देखते हैं अथवा भोगते हैं अथवा अनुश्रविक विषय—अर्थात् शास्त्रों में स्वर्गादि की सुनी हुई बातें, यदि किसीको इन दोनों के प्रति वितृष्ण उत्पन्न हो जाये तो उस अवस्था को वशीकार वैराग्य कहेंगे।

यही वैदान्तिकों का "इहामूत्रार्थफलभोगविराग" रूप उत्तम विविदिषा-वैराग्य है। यही वैराग्य मनुष्य के लिये संसार मूल को छेदन करने के लिये खड़्गस्वरूप है। जिसको वैराग्य न हुआ हो वह देह के बन्धनों से मुक्त नहीं हो सकता। यथा—

न ह्यसंजातनिर्वेदो देहवंधं जिहासति।

—श्रीमद्भागवतपूराण

अतः वैराग्य के सिबा देह-बन्धन-विमुक्ति का अन्य दूसरा उपाय उपलब्ध नहीं है। वैराग्य युक्त होने पर विज्ञान तथा वासनायें स्वयं क्षय प्राप्त होती हैं। वासना के क्षय होते ही निःस्पृह होना संभव होता है। निःस्पृह होने पर किसी प्रकार का बन्धन रह नहीं जाता। फिर मुक्ति प्राप्त होती है। यथा—

समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा ।
हृदये नष्टसर्वेहो मुक्त एवोत्तमाशयः ॥

—मुक्तिकोपनिषद २।२२

समाधि से हो अथवा किसी भी प्रकार के क्रियानुष्ठान से हो अथवा अनायास हो—यदि हृदय में वासना का उदय न हो तो वह व्यक्ति मुक्त है। अनात्मा-वासना अर्थात् मिथ्या संसार की वासनाओं के द्वारा परमात्मा-वासना आबृत है। अतः वैराग्य के द्वारा अनात्म बासनाओं का विनाश होते ही परमात्मा-वासना स्वयं प्रकाशित हो पड़ता है। लोकगत वासना, शास्त्रगत वासना तथा देहगत वासनाओं के द्वारा आत्मस्वरूप के आवृत रहने के कारण, प्रकृत ज्ञान प्रकाशित नहीं हो पाता। वैराग्य-साधन के द्वारा वासना के क्षय होते ही आत्मस्वरूप तत्वज्ञान स्वयं प्रकाशित होकर मुक्ति प्रदान करती है। अतः मुक्ति प्रदायक आत्मस्वरूप तत्वज्ञान को लाभ करने के लिये वैराग्य का अभ्यास करना मुमुक्षु व्यक्ति का प्रधान कर्त्तव्य है। जन्म जन्मान्तर के सुकृति से यदि किसी में स्वयं वैराग्य का संचार होता है तो वह अत्यन्त भाग्यशाली व्यक्ति निश्चित है। यथा—

ते महान्तो महाप्राज्ञा निमित्तेन विनैव हि ।
वैराग्यं जायते येषां तेषां ह्यमलमानसम् ॥

—योगवाशिष्ठ, मुःप्रः ११ अः २४ श्लो,

जिसे संसार में बिना कारण वैराग्य उत्पन्न हो, वे निर्मल-मानस महाप्राज्ञ महन्त होते हैं।

———

संन्यास आश्रम ग्रहण

वैराग्य के उत्पन्न होते ही आत्मस्वरूप अथवा सच्चिदानन्द-विग्रह पर मनोनिवेश करने से चित्त शान्त और अटल बन जाता है क्योंकि उस स्थित्ति में चित्त की वृत्तियाँ रुद्ध हो जाती हैं अर्थात् चित्त में अन्य किसी भी प्रकार की क्रिया नहीं रहती। फिर लज्ज्या, घृणा, माया आदि पलायन करते हैं और साधक शिव के रूप में अवस्थान करता है। यथा—

एतैर्वद्धः पशुः प्रोक्तो मुक्त एतैः सदाशिवः।

—भैरवयामल

घृणा, शंका, भय, लज्ज्या, जुगुप्सा, कुल अर्थात् जाति का अभिमान, शील, मान, इन अष्ट पाशों में जो बद्ध रहता है, उसे पशु कहते हैं और जो इन पाशों से मुक्त है—वह सदाशिव है। इस प्रकार शिवत्व को लाभ करने पर ही तत्वज्ञान प्रकाशित होता है। फिर अहंवुद्धि के नष्ट होने के कारण कर्त्तव्य ज्ञान तथा स्त्री-पूत्रों के प्रति करूणा का भाव जाता रहता है। ऐसा होते ही स्वरूप में अवस्थान करने के निमित्त सन्यास आश्रम को ग्रहण करना चाहिये। शास्त्रकारों और ऋषियों के कहने का यही अभिप्राय है। यथा—

तत्वज्ञाने समुत्पन्ने वैराग्यं जायते यदा।
तदा सर्वं परित्यज्य सन्यासाश्रममाश्रयेत्॥

—महानिर्वाण तंन्त्र ८।१५

कठिन वैराग्याभ्यास के कारण जब तत्वज्ञान जाग उठे तो सब कुछ त्याग कर सन्यास आश्रम का अवलम्बन लेना चाहिये। यदि ज्ञान न हुआ हो तो कर्मत्याग पूर्वक सन्यास लेना अनुचित है। इसीलिये शास्त्र कहता है—

ब्राह्मणस्य विनान्यस्य संन्यासो नास्ति चंडिके।

ब्राह्मण—अर्थात ब्रह्मज्ञ के सिवा अन्य किसी को भी संन्यास आश्रम का अधिकार नहीं है। यदि अन्य कोई संन्यास ग्रहण कर भी ले तो उसे उपकार के बदले पाप का भागी होना पड़ेगा। संन्यास का अर्थ है—सम्यक रूप से त्याग। यदि निर्वाण लाभ करने की इच्छा हो तो उसके लिये सन्यास ग्रहण करना ही उचित है। ऐसे लोगों के लिये संन्यास इसी देह में मोक्षसुख लाभ करने के तुल्य है। दूसरों के लिये यह केवल कष्ट का कारण बन जाता है। विशेष कर वे लोग जो संन्यास के अधिकार बिना ही संसार धर्म को त्याग, घरवार छोड़ कर निकल पड़ते हैं, उन्हें भ्रष्टाचारी के सिवा और क्या आख्या दी जाय। अतः संन्यास का अधिकार प्राप्त हुये बिना उसे कदापि ग्रहण न करें। ऐसा करने पर उनका लोकिक तथा पारलौकिक दोनों जीवन नष्ट हो जाता है—उनका श्रम बृथा नष्ट हो जाता है। प्राचीन काल में अधिकारी बने बिना यदि कोई संन्यास ग्रहण कर लेता तो राजा उसे दंड दिया करते थे। आज हमारा राजा विधर्मी है—समाज भी बन गया है, स्वेच्छाचारी। जिसको जैसा जी चाहता है—करता है। ऐसा

करने पर वह स्वयं भी प्रतारित होता है तथा दूसरों को भी भ्रान्त करता है।

अतएव यथार्थ ब्रह्मज्ञान के उत्पन्न होते ही यदि हम अक्षमता-प्रयुक्त क्रिया कर्मों को त्याग देंगें, तब जाकर अध्यात्मविद्या में विशेष पारदर्शी बन सकेंगे। फिर हमें सन्यास आश्रम ग्रहण करना चाहिये। श्रीमदभागवत ने कहा है—"आश्रमानामहं तुर्यो"—आश्रम में मैं चतुर्थ आश्रम हूँ (संन्यास)। "धर्म्मणामस्मि सन्यासः" - धर्म में मैं सन्यास हूँ। गीता में "अनिकेतः" शब्द से भगवान श्रीकृष्ण ने स्पष्ट ही सन्यास को प्रिय कह कर, आश्रम या आश्रमबासीयों के महत्व को विघोषित किया है। जिस मनुष्य के कारण सन्यास धर्म में कलंककालिमा लगे, वह देश तथा समाज का घोर शत्र है। अतः उपयुक्त अधिकार प्राप्त करने के बाद ही सन्यास आश्रम में प्रवेश करना चाहिये। जिस प्रकार पका हुआ फल बृन्त से स्वयं अलग हो जाता है किन्तु पहले तोड़ लेने पर सड़ जाता है या उतना सुस्वादु नहीं होता, उसी प्रकार साधना के पूर्ण होते ही संसार बन्धन स्वयं छिन्न हो जाता है। यदि कोई बलपूर्वक संसार आश्रम को त्याग दे तो उसे सिवा विड़म्वना के अन्य कुछ भी प्राप्त नहीं होगा। अतएव सन्यास आश्रम का अधिकारी बनने के पश्चात् ही संसार धर्म को त्यागना उचित है।

विवेक वैराग्य युक्त मुमुक्षु व्यक्ति गृहस्थाश्रम को छोड़ सन्यास आश्रभ में प्रवेश करते समय चाहिये कि अपने आत्मिय, बन्धु, पड़ोसी, तथा गाँव के लोगों को बुलाकर सबसे प्रेमपूर्वक विदा ले और

गाँव को प्रदक्षिण करते हुये अभीष्ट देवता को प्रणाम पूर्वक गृह का त्याग करे। फिर उसे गुरू के निकट उपस्थित होकर कहना चाहिये—"मैं सन्यास लेने के निमित्त आया हूँ, कृपया मुझ पर प्रसन्न हों।" ऐसा करने पर गुरु, शिष्य को परीक्षा लेते हैं और उसे दीक्षा देते हैं। फिर शिष्य सन्यास ग्रहण करते समय स्नान करता है और संध्यापूजा आदि नित्यकर्म का समापन करता है। अब वह देवऋण को चुकाने के निमित्त ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र की, ऋषिऋण चुकाने के लिये सनक, सनन्दन, सनातन, नारद, भृगु आदि ऋषियों की तथा पितृऋण चुकाने के लिये पिता, पितामह, प्रपितामह, माता, मातामही, प्रमातामही, आदि की अर्चना करता है। ततपश्चात् विधानानुसार वह पिंडदान के द्वारा देवता, ऋषि तथा पितृदेवों के निकट कृतांजलि हाथों से प्रार्थना करता है। यथा—

तृप्यध्वं पितरो देवा देवर्षिमातृकागणः।
गुणातीतपदे यूयम् अनृणं कुरुत चिरात् ॥

अर्थात्—हे पितृमातागण ! देवगण ! ऋषिगण ! आप सब परितृप्त हों। मैं गुणातीत पद पर पहुँच गया हूँ। आप सब शिघ्र मुझे अऋण करें। इस प्रकार आनृण्य प्रार्थणा करते हुये पुनः पुनः प्रणाम करता है। फिर तीनों ऋणों से मुक्त होकर उसे अपना श्राद्ध करना पड़ता है।

श्राद्ध कार्य सम्पन्न करने के पश्चात् चित्त को शुद्ध बनाने के निमित्त वह १०८ बार "त्र्यम्बक" मंत्र को जपता है। इस बीच गुरु वेदी पर मंडल की रचना करते हैं और घटस्थापन के पश्चात् इष्ट

देवता को पूजा करते हैं। फिर गुरुदेव परम ब्रह्म का ध्यान और पूजा करके अग्नि की स्थापना करते हैं। उस अग्नि में शिष्य के इष्टदेवता का होम करके शिष्य को बुला कर वे घी, दुध, शक्कर, तंडुल, यव, तिल आदि को एकत्रित मिलाकर साकल्य होम करवाते हैं तत्पर व्याहृति अर्थात् भूः, भुवः और स्वः, इन मन्त्रत्रय में होभ करवाते हैं और फिर पंच प्राण आदियों का होम करवाते हैं। तत्पश्चात स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर का बिरजा होम करवाते हैं। इस प्रकार सब तत्वों की आहुति देकर शिष्य अपने को मृत समझ लेगा। अब वह यज्ञसूत्र को बाहर निकाल कर घी के द्वारा आग लगा कर यथाविधि मंत्र पाठ पूर्वक उसे अग्नि में आहुति देगा। गुरु, शिष्य से कहेगें—

वर्णधर्माश्रमाचारशास्त्रयंत्रेण योजितः।
निर्गतोऽसि जगज्जालात् पिंजरादिव केशरी॥

अर्थात् तुम वर्ण धर्म, आश्रम, आचार तथा शास्त्र] रूपी यन्त्र में योजित थे। अब पिंजरे में बन्द सिंह जिस प्रकार पिंजरा तोड़ कर बाहर निकल भागता है, उसो प्रकार तुमने भी जगत के ,जाल को छिन्न-भिन्न कर बाहर निकल आये हो। तुम्हारा अब तो न कोई वर्णाश्रम है और न कोई धर्माधर्म। जबतक वर्णाश्रम का अभिमान रहता है तबतक मनुष्य वेद-विधियों का दास बना रहता है। किन्तु वर्णाश्रम अभिमान शुन्य हो जाने पर अब उसका प्रयोजन नहीं रह जाता। तत् पश्चात् शिखाच्छेदन पूर्वक शिखा-होम करना पड़ता है। फिर गुरु शिष्य से कहते हैं—

तत्वमसि महाप्राज्ञ हंसः सोऽहं विभावय।
निर्ममो निरहंकारः स्वभावेन सुखं चर ॥

—हे महाप्राज्ञ! तत्वमसि अर्थात् तुम वही ब्रह्म हो। अपने को 'हंस' तथा' 'सोऽहं' समझो तथा अंहकार और ममता रहित होकर आत्मास्वरूप को ब्रह्म भावापन्न करते हुये सुख से विचरण करो।

गुरु अब घट तथा अग्नि का विसर्जन करेंगें—

'नमस्तुभ्यं नमो मह्यं तुभ्यं मह्यं नमो नमः।
त्वमेव तत् तत् त्वमेव विश्वरूप नमोऽस्तु ते ॥"*

—कहते हुये गुरु शिष्य को नमष्कार करेंगे। जीवन्मुक्त सन्यासी अब अपनी इच्छानुसार संसार में विचरण करने के योग्य बन जाता है।

इस तरह साधक, सन्यासी बन कर सुख-दुःख के द्वन्द से परे, चित्त को स्थिर रख कर, साक्षात् ब्रह्ममय होकर, संसार में स्वेच्छानुसार विचरण करेगा। वह उस विश्व को सत् स्वरूप, ब्रह्ममय समझेगा। वह अपना नाम, रूप, जाति को भूलाकर केवल आत्मा का ध्यान करेगा। वह क्षमाशील, निःशंक, निःसंग, ममता-अभिमान शुन्य, धीर, जितेन्द्रिय, स्पृहा रहित, निष्काम, शान्त, निरपेक्ष, प्रतिहिंसा शुन्य, क्रोध रहित, संकल्प रहित, उद्यम रहित, निश्चेष्ट, शोक रहित, दोष रहित, शत्रु-मित्र समदर्शी, शीत-ताप सहनशील, शुभाशुभ रहित, निर्लोभ, लोहा और सोने में निर्भेद

---

*हे विश्वरूप! तुम्हें नमस्कार, तुम्हें और मुझे बार बार नमस्कार। तुम हीं विश्वरूप हो—तुम वही परम ब्रह्म हो, परम ब्रह्म भी तुम ही हो, अतएव मैं तुम्हें नमस्कार करता हुँ।

दर्शन करने वाला होगा। धातुद्रव्य ग्रहण, परनिन्दा, मिथ्या-आचरण, स्त्रीलोक के साथ रहना अथवा उनके साथ हँसी ठट्टा, यहाँ तक कि नारी मूर्ति का दर्शन तक न करना, सन्यासी का कर्त्तव्य है। वह देश काल पात्र को बिना विचारे ब्राह्मण और चांडाल सब का अन्न ग्रहण करेगा। वह किसी प्रकार का संचय नहीं करेगा। वह स्वेच्छा से ब्रह्मज्ञान को आधार बना कर सबकी सेवा करेगा तथा आत्मतत्व विचार में अपना समय व्यतीत करेगा। अनिकेतः—अर्थात् कहीं भी अधिक दिनोंतक निवास नहीं करेगा। वह जबतक जीवित रहेगा तबतक जीवन्मुक्त बन कर देहपात करता हुआ निर्वाणमुक्ति को लाभ करेगा।

संन्यासी के देह को आग में जलाना मना है। उसके मृत शरीर को सुगन्धित फूलों से चर्चित कर परिशुष्क भूमि के नीचे गाड़ देनी चाहिये अथवा पानी में भसा देना चाहिये। यथा—

संन्यासिनां मृतं कायं दाहयेन्न कदाचन।
संपूज्य गंधपूष्पाद्यै निखनेद्वाप्सु मज्जयेत्॥

—महानिर्वाण तन्त्र, ८।२८४

किन्तु सन्यासी संप्रदाय में भी स्तर भेदानुसार दाह करने की विधि है। सन्यासी संप्रदाय प्रारंभ से लेकर परिपक्क अवस्था तक अर्थात् आत्म ज्ञान के तारतम्य से चार स्तरों में बाँटे गये हैं। यथा—

चतुर्विधा भिक्षवश्च वहूदक कुटीचकौ।
हंसः परमहंसश्च यो यः पश्चात् स उत्तमः॥

—सूतसंहिता

सन्यास आश्रम वालों को चार भागों में बाँटा गया है—वहूदक, कुटीचक, हंस, तथा परमहंस। इनमें प्रथम से द्वीतिय अपेक्षाकृत उत्तम माना जाता है। इस प्रकार का श्रेणी विभाग, आत्मस्वरूप के प्रतिष्ठा की दृढ़ता अथवा मृदुता के अनुसार किया गया है। आत्मस्वरुप में अवस्थित पूर्ण सन्यासी को ही परमहंस कहते हैं। ऐसे लोग सन्यास के चिन्ह तक का परित्याग कर अपनी इच्छानुसार जीवन व्यतीत करते हैं। यथा—

दंडं तोथे विनिक्षिप्य भवेत् परमहंसकः।
स्वेच्छाचारपराणान्तु प्रत्यवायो न विद्यते॥

—परमहंसोपनिषत्

आत्मस्वरूप की प्रतिष्ठा होते ही दंड अर्थात् दंड-कमंडलु आदि संन्यास आश्रम के चिन्हादि को जल में विसर्जन देकर, परमहंस बनना पड़ता है। फिर यथेच्छापरायण होने पर भी उनके प्रत्यवाय होनी की संभावना नहीं रहती। इन चार श्रेणी के संन्यासी के मृत शरीर के संपर्क में व्यवस्था है—

कूटीचकं च प्रदहेत् तारयेच्च वहूदकं।
हंसं जले तु निक्षिप्य परमहंसं प्रपूरयेत्॥

—निर्णयसिन्धु

कुटीचक को दाह, बहुदक को जल में तारण, हंस को जल में निमज्जन तथा परमहंस को भूगर्भ में प्रेरण की विधि है।

संन्यासीयों के संप्रदाय को 'मंडली' कहते हैं। उस 'मंडली' के अवस्थान को 'भठ' और उनके अध्यक्ष को 'महन्त' कहते हैं।

जो संन्यासी मानव समाज को धर्मोपदेश दान तथा धर्म प्रचार करते हैं, उन्हें 'आचार्य' कहा जाता है। इसके लिये उनको देश विदेशों में भ्रमण करना पड़ता है, अतएव उन्हें 'परिव्राजक' भी कहते हैं। इसके अतिरिक्त सन्यासी मात्र को ही 'स्वामी' कहा जाता है। चिरकाल से सन्यासी संप्रदाय ही हिन्दुसमाज के गुरु होते रहे हैं। अतः 'स्वामी' की उपाधि प्रायः उनकी सम्पत्ति सी बन गई है। किन्तु आजकल हिन्दुसमाज की वर्तमान स्वेच्छाचारिता के कारण, अन्य संप्रदाय के ख्यातिवान, समर्थवान व्यक्ति भी गुरू बन कर समाज से सेवापूजा ग्रहण करवाते हैं। यदि वास्तव में उनमें कोई गुरुत्व रही होतो तो चोरी चोरी उन्हें अपने नाम के प्रचार करवाने की आवश्यकता नहीं होती। क्या सत्य की उपाधि लेलेने से ही सत्य का विकाश होता है ?

ब्राह्मण सन्यासी के दर्शन मात्र से ही—"ॐ नमो नारायणाय" कहकर तथा अब्राह्मण सन्यासी को 'नारायणाय नमः' कह कर उन्हें ब्रह्म ज्ञान से प्रणाम करना चाहिये। सन्यासी का देह तो मृतवत् होता है। अतः गृहस्थों को उन्हें स्पर्श करना नहीं चाहिये और न उनका उच्छिष्ट प्रसाद ग्रहण करना चाहिये। किन्तु जब सन्यासी आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होकर, परमहंसत्व को लाभ करता है तब उन नियमों के पालन करने का प्रयोजन नहीं होता क्योंकि परमहंस का शरीर तक चिन्मय होता है। अतएव जाति या वेदविधि का विचार न कर, उन्हें नारायण ब्रह्मस्वरूप ज्ञान करना चाहिये। यथा—

चतुर्णां संन्यासिनां यः परमहंस उच्यते ।
ब्रह्मज्ञानविशुद्धानां मुक्ताः सर्वे ब्रह्मोपमाः ॥

—परमहंसोपनिषत्

चतुर्बिध संन्यासीयों में जिन्हें परमहंस कहा जाता है, वे ब्रह्मज्ञान के द्वारा विशुद्ध हो चुके होते हैं, अतएव वे सभी मुक्त तथा ब्रह्मस्वरूप होते हैं। "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति"—अर्थात् ब्रह्मज्ञ, ब्रह्म बन जाते हैं—इस श्रुतिवाक्य का भी यही अर्थ है।

वैदिक अथवा स्मार्तकर्म में सन्यासी का अधिकार नहीं होता। उन्हें अपनी मृत्यु अथवा पिता पाता की मृत्यु से अशौच नहीं लगता। सन्यासी की मृत्यु से भी उनकी जाति को अशौच या श्राद्ध का पालन करना नहीं पड़ता। इसीलिये हिन्दु संन्यासी को पैत्रिक सम्पत्ति से वंचित किया गया है। राजा, सन्यासी संप्रदाय के आश्रयदाता रक्षक तथा पालक होते हैं। सन्यासो सम्प्रदाय भी कायमनवाक्य के द्वारा राजा और राज्य की मंगल चेष्टा करते हैं। जिन्होंने सन्यास-संस्कार से संस्कृत होकर समस्त कर्मो का परित्याग किया है उन्हें देव कर्म, आर्ष कर्म, अथवा पैत्रिक कर्म का बिन्दुमात्र अधिकार नहीं रहता। यथा—

नापि दैवे न वा पैत्रे नार्षे कृत्येऽधिकारिता।

———

अवधूतादि संन्यास

परमहंस के सिवा यदि कोई सन्यासी, सन्यास धर्म आचरण के विपरीत कार्य करे तो वह पतित समझा जाता है —"पतितः स्यात विपर्यये" और वैसा भ्रष्टाचारी किसी भी आश्रम के ग्रहण योग्य नहीं रह जाता। इसी कारण ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मज्ञ व्यतीत अब्राह्मण अथवा रमणी के लिये सन्यास निषिद्ध है। फिर कलिकाल के शिश्नोदर परायण मनुष्य के लिये सन्यास निषिद्ध है क्योंकि भोगलोलूप होने के कारण उनका पतन अनिवार्य है। अतः कलिकाल के सर्वसाधारण (स्त्री, शुद्र आदि तक) के लिये तंत्रोक्त सन्यास अथवा अवधूत आश्रम निर्दिष्ट किया गया है। कलिकाल में शैव संस्कारके विधान अनुसार अवधूताश्रम का अवलम्बन ही सन्यास ग्रहण है। यथा—

अवधूताश्रमो देवि कलौ सन्यास उच्यते।

—महानिर्वाणतन्त्र ८।२२२

कलियुग में अवधूताश्रम को ही सन्यास कहते हैं। जब समस्त काम्य कर्मों से विरत होकर ब्रह्मज्ञान जागेगा तो अध्यात्म विशारद व्यक्ति अवधूताश्रम का अवलम्बन लेगा। ब्रह्मावधूत, शैवावधूत, कूलावधूत, नकूलावधूत आदि इनके अनेक श्रेणी हैं। इनमें ब्रह्मावधूत, सन्यासी की तरह, न्यायपरायण ब्रह्मनिष्ठ तथा नियमादि का पालन किया करते हैं। अतः इनके पृथक वर्णन की आवश्यकता

नहीं दीखाई पड़ती।* शास्त्रों में अवधूत के निम्नलिखित लक्षण मिलते हैं—

अ— आशापाश विनिर्मूक्त आदिमध्यान्तनिर्मलः।
आनन्दे वर्तते नित्यं अकारस्तस्य लक्षणम्॥

व— वासनावर्जिता येन वक्तव्यंच निरामयम्।
वर्तमानेषु वर्तेत वकारस्तस्य लक्षणम्॥

धू— धूलिधूसर गात्राणि धूतचित्तो निरामयः।
धारणा-ध्याननिर्मुक्तो धूकारस्तस्य लक्षणम्॥

त— तत्वचिन्ता धृता येन चिन्ताचेष्टाविवर्जितः।
तमोऽहकारनिर्मुक्तस्तकारस्तस्य लक्षणम्॥

यह संस्कृतांश इतना कोमल है कि इसका अनुवाद निरर्थक होगा। अवधूत के लक्षणों को देखने पर पता चलेगा कि संन्यास आश्रम तथा अवधूताश्रम में कोई अन्तर नहीं है। जो अन्तर दृष्ट होता है वह शास्त्र तथा संप्रदाय की विभिन्नता मात्र के कारण हैं। सभी अवधूत पूर्णतर अवस्था में पहुँचने पर सन्यासी की तरह परमहंस हो जाते हैं। फिर वे भी परमहंस की तरह सारे नियम-निषेध से परे चले जाते हैं। यहाँतक कि सांप्रदायिक, लक्षणों से भी परे पहुँच जाते हैं जहाँ उन्हें मुक्ति की आकांक्षा तक अवशिष्ट नहीं रह जाती। परमहंस की तरह, अवधूत भी ब्रह्ममय होते हैं।

---

*अवधूत श्रेणी तथा उनकी साधना के बारे में मेरी "तांत्रिकगुरु" पुस्तक में विशद वर्णन मिलेगा। अतः यहाँ पुनरावृत्ति की कोई आवश्यकता नहीं है।

अवधूत भी साक्षात् शिवस्वरूप होते हैं। यथा—

अवधूतः शिवः साक्षादवधूती शिवा देवि।
साक्षान्नारायणं मत्वा गृहस्थस्तं प्रपूजयेत् ॥

गृहस्थों को चाहिये कि वे अवधूत को साक्षात शिवस्वरूप तथा अवधूती को साक्षात् भगवती स्वरूपा मान कर, उन्हें नारायण और नारायणी की भाँति पूजा करें—प्रणाम करें। इसके फलस्वरूप दंडी परमहंस तथा अवधूत परमहंस में कोई भी अन्तर दीखाई नहीं पड़ता। उनके दर्शन मात्र से ही गृहस्थ सर्व पापों से मुक्त हो जाते हैं। वे जिस देश में निवास करते हैं, वहाँ अनावृष्टि, अतिबृष्टि, दूर्भिक्ष, महामारी आदि नहीं होते। वे जिस देश से होकर चलते हैं, वह देश पवित्र तथा धन्य हो जाता है। अवधूत परमहंस शिव के दूसरे रूप होते हैं—

न योगी न भोगी न वा मोक्षकांक्षी न वीरो न धीरो न वा साधकेन्द्रः।
न शैवो न शाक्तो न वा वैष्णवश्च राजतेऽवधूतो द्वीतियो महेशः ॥

अवधूत, योगी की तरह, योग-नियमों के वशीभूत नहीं होते, भोगी की तरह भोगपरायण नहीं होते, ज्ञानी की तरह मोक्षाकांक्षी नहीं होते। वीरों की तरह बल को प्रकाश नहीं करते, धीरों की तरह संयम अभ्यासी भी नहीं, और न वे जपतप के अधिकारियों की तरह साधक ही होते हैं। न वे शैव होते हैं, न शाक्त और न ही वैष्णव। वे न किसी उपासक संप्रदाय के नियमों का पालन करते हैं और न वे उनके विद्वेषी होते हैं। वे साक्षात द्वीतिय शिव-तुल्य, परमानन्दस्वरूप सर्वदा बिराज करते हैं। यदि कोई

जाति अवधूताश्रम को ग्रहण कर ले तो वह जाति, गृहस्थ ब्राह्मण तथा अन्य सभी वर्णों के पुज्य और प्रणम्य माने जाते हैं।

शास्त्रोक्त अवधूत आश्रम के सिवा आजकल वामाचारी, ब्रह्मचारी, कापालिक, भैरव, भैरवी, दंडी, नागा, नखी, आलेखिया, दंगली, अघोर, उर्द्ध्ववाहु, आकाशमुखी, ठारेश्वरी, अधोमुखी, पंचधूनी, मौनव्रती, जलशय्यी, धारातपस्वी, कड़ालिंगी, फरारी, दुधाधारी, अलुणा, ठिकरनाथी, गोरक्षनाथी, उदासी, नानकसाही, आदि आधुनिक त्यागी संप्रदायों का प्रादुर्भाव भी हमारे देश में हुआ है।

भक्तावधूत नामक एक और संप्रदाय हिन्दुसमाज में आ धमका है। भक्तावधूत अपने को 'वैष्णव' कहते हैं। उनमें रमात्, कवीरपंथी, दादूपंथी, रायदासी, रामसे नेही, मध्वाचारी, वल्लभाचारी, मीरावाई, निमात्, गौड़ीय, कर्ताभजा, आउल, बाउल, साँई, दरवेश, न्याड़ा, साध्वी, सहजी, खुसिविश्वासी, गौरवादी, नवरसिक, वलरामी, राधावल्लभी, सखीभावी, चरणदासी, हरिश्चन्द्री, सधनपंथी, चुहरपंथी, आपापंथी, कुंडापथी, अनहद पंथी, अभ्यागत, माधवी, आचारी, अटलभार्गी, पलटुदासी, बनियाददासी, सत्नामी, बीजमार्गी, इत्यादि अनेक शाखा-संप्रदाय हैं। इसके अतिरिक्त न जाने और कितने संप्रदाय हैं जिसका निरूपण करना कठिन है। प्रकृति की अधःश्रोत के कारण हिन्दुसमाज आज दुर्दशा की चरम सीमा पर पहुँचने पर भी, कभी वह गर्व के साथ भारत के बक्षस्थल पर हिन्दुधर्म को विजय पताका को लहराया था। भारतवर्ष के सिवा त्यागी का ऐसा दृष्टान्त अन्य कहीं भी नहीं मिलता। कभी वह

सर्व रूपेण उन्नति की चरम शिखर पर आसीन था किन्तु फिर भी कुत्ते-गीदड़ों की भाँति उसने अपने को भोग्य वस्तुओं से नहीं खेलने दिया। ये त्यागी संप्रदाय आज भी उन्हीं दिनों के साक्षी स्वरूप बर्तमान हैं।

इन विभिन्न संप्रदाय के लोगो को सन्यासी कहा जा सकता हैं। किन्तु प्रधानतः इन्हें दो श्रेणीयों में वाँटा गया है—विवेकी तथा भक्त। जो आत्म-अनात्म विवेक के द्वारा आत्मस्वरूप को लाभ करने के लिये गृहस्थाश्रम का त्याग करते हैं, उन्हें विवेकी कहा गया है। और जो सच्चिदानन्दविग्रह को लाभ करने के लिये गृहस्थाश्रम का परित्याग करते हैं, उन्हें भक्त सन्यासी कहते हैं। किन्तु चाहे जिस कारण से भी उन्होंने गृहस्थाश्रम का त्याग किया हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस त्याग का मूल कारण वैराग्य है ; तो सभी संन्यासी हुये। प्राचीन काल में यदि किसी के वंश में कोई सन्यासी हो जाता तो लोग लोग अपने को धन्य मानते थे ; किन्तु आजकल संन्तान को कोई साधु के निकट इसलिये नहीं भेजता कि कहीं वह सन्यासी न बन जाय। पिता यह नहीं चाहता कि उसका पूत्र नियम निष्ठा या निरामिष भोजन अथवा सद् ग्रंथों का पाठ करे। इसका मूल कारण यह है कि लोग भारतीय शिक्षा से वंचित हैं। वे सन्यास के महोच्च गंभीर तत्व को समझ नहीं पाते। यदि पाते तो पूत्रको संन्यासी के उन्मार्ग पथ पर चलते देते हुये भयभीत नहीं होते। श्रीगौरांगदेव के बड़े भाई विश्वरूप के सन्यास ग्रहण करने पर उनके बुद्ध पिता-माता ने रो रो कर

दिन बिताये किन्तु अपने इष्ट के निकट आकर प्रार्थना की—"मेरा विश्वरूप कभी घर न लौटे।" धन्य हैं ऐसे माता-पिता जो सन्यासी पूत्र के घर लौटने पर, पीछे उसका पतन हो जाये, ऐसा सोचकर पूत्रवत्सल माता-पिता ने पूत्र के विरह में मृतप्राय होते हुये भी, पूत्र की मंगल कामना की। यदि माता-पिता ऐसे न होते तो क्या गौरांगदेव जैसा पूत्रलाभ करने का सौभाग्य उन्हें होता? गंभीर अध्यात्मिक चिन्तान्वित तथा भगवत भाव में विभोर भारत ने ही कहा था—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुंधरा पुन्यवती च तेन।
अपारसम्वितसुखसागरेऽस्मिन् लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

जिसका चित्त अपार संवित् सुखसमुद्र रूप परब्रह्म में लीन है, उसके द्वारा कुल पवित्र तथा जननी कृतार्थ और बसुमती पवित्र होता है।

तो आपने देखा कि सन्यासी का स्थान कितना उँचा है। इसीलिये शिवावतार शंकराचार्य ने कौपीन-कन्थाधारी भिक्षुकों को लक्ष बना कर कहा है—

वेदान्तवाक्येषु सदा रमन्तो भिक्षान्नमात्रेण च तुष्टिमन्तः।
अशोकमन्तःकरणे चरन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः॥

———

सन्यासो का कर्त्तव्य

वैदिक विधान के अनुसार सन्यास जीवन के शेष प्रहर में होना चाहिये। द्विजकुमार पहले सावित्री-दीक्षा लाभ कर, मौंजी-मेखला पहन, जंगल में स्थित गुरुगृह में उपनयन ग्रहण करेगा। वहाँ रहकर वह कठोर अभ्यास के साथ अपना वर्णधर्म, वेदादि शास्त्रीय ज्ञान तथा चित्त में संयम की शिक्षा को लाभ करेगा। विद्या सीख कर संयम अभ्यास के द्वारा ज्ञान लाभ करने पर वह गार्हस्थाश्रम में प्रवेश करेगा। तत्पश्चात् गृहस्थाश्रमोचित क्रियाकलाप का संपादन करते हुये वह कुल को पवित्र करने वाले पुत्र को जन्म देगा। फिर जाकर वानप्रस्थाश्रम का अवलम्वन करना ही द्विज का कर्त्तव्य है। इस आश्रम में एकान्तवास के साथ आत्म-अनात्म-विचार के द्वारा जब तीव्र वैराग्य का उदय होगा तो फिर उसे सन्यास ग्रहण करना चाहिये। किन्तु यदि किसी ने ब्रह्मचर्याश्रम में ही जिह्वा तथा उपस्थ को संयत कर विषय-वैराग्य उपार्जन कर लिया हो तो उसे फिर अन्य किसी भी आश्रम में प्रवेश करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यहाँतक कि ऐसे निष्ठावान ब्रह्मचारी को सन्यास की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। जो गार्हस्थाश्रम में प्रवेश कर विषय में आसक्त हो पड़ते हैं, केवल उनके लिये ही सन्यास आश्रम विहित है जिसे उपयुक्त समय पर लेना चाहिये। जो बुढ़े मातापिता, पतिब्रता भार्या तथा नन्हें बच्चों को त्याग कर सन्यास ग्रहण करता है, वह महा पातकी बनता है। यथा—

मातृहा पितृहास स्यात् स्त्रीवधी ब्रह्मघातकः ।
असन्तर्प्य स्वपित्रादीन् यो गच्छेद्भिक्षुकाश्रमे ॥

—महानिर्वाणतंन्त्र ८।१६

जो व्यक्ति अपने माता पिता, पत्नी आदि को परितृप्त किये बिना ही सन्यास आश्रम को जाता है, उसे पितृहत्या, स्त्रीहत्या तथा ब्रह्म-हत्यादि जनित पाप में लिप्त होना पड़ता है। इसीलिये शास्त्रों में कहा है—

विद्यामुपार्ज्जयेद्द वाल्ये धनं दारांश्च यौवने ।
प्रौढ़े धर्माणि कर्माणि चतुर्थे प्रब्रजेत् सुधीः ॥

—मनुसंहिता

वाल्यकाल में विद्योपार्जन करना चाहिये, यौवन में धन तथा दार परिग्रहण, प्रौढ़ावस्था में धर्म-कर्मानुष्ठानों में रत और बृद्धावस्था (५० वर्ष से उपर) में सन्यास आश्रम ग्रहण करना चाहिये। शास्त्रकारों के इस कठोर अनुशासन के होते हुये भी बुद्धदेव, शंकराचार्य, कपिलदेव, शुकदेव, गौरांगदेव तथा न जाने और कितने अवतारों ने, अपने लोगों को शोक समूद्र में डूबो कर प्रब्रजा ग्रहण करने पर बाध्य हुये थे। अतः इनसे हमें यही शिक्षा मिली कि प्रकृत बैराग्य के उदय होने पर किसी भी अवस्था में सन्यास लिया जा सकता है। शास्त्रों में इसीकारण, सन्यास के अधिकारी के लिये कहा है—"तत्वज्ञाने समुत्पन्ने"—इत्यादि। यदि ईश्वर के प्रेमाकर्षण का अनुभव होने लगे तो फिर शास्त्रयुक्ति की मर्यादा को मान कर चलना कठिन हो पड़ता है। इसलिये तो प्रेम के

महाजन श्रीमत् रूप गोस्वामी जी कहते हैं—

तत्वत् भावादिमाधुर्य्ये श्रुते धीर्यदपेक्षते ।
नात्र शास्त्रं न युक्तिंच तल्लाभोत्पत्तिलक्षणम् ॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु

उस माधुर्यभाव के उदय होते ही ईश्वर लाभ करने के लिये ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि युक्ति अथवा शास्त्रोक्त विधि निषेध को वह नहीं मानता। अतएव उपर का यह शास्त्रवाक्य अनाधिकारीयों के लिये शासन मात्र है। ब्रह्मचर्य ही मुक्ति रूप कल्पतरु का मूल है, गार्हस्थ उसकी शाखा-प्रशाखा युक्त एक बृहत कांड है, बानप्रस्थ उसकी मुकुल और सन्यास उसका शान्ति-सुधा-रस भरा सुपरिपक्क फल है। इस अमृतमय फल को जो लाभ कर न सके, तो उसका जीवन ही व्यर्थ है। अतः तत्वज्ञान के होते ही संसार-लालसा को त्याग कर सन्यास आश्रम को ग्रहण करना चाहिये।

भगवान ईशा ने अपने शिष्यों को सबकुछ बेचकर गरीबों में वितरण कर के फकीर बनने का उपदेश दिया है। यथा—

Sell all that ye have, and give alms, provide yourselves bags which are not old, a treasure in the heavens that faileth not, where no thief approacheth, neither moth corrupteth. For where your treasure is, there your heart be also.

—**Bible St. Luke XII**

फारसी शायर हाफीज ने भी कहा है—"यदि परमेश्वर के उद्देश्य में अपना सर्वस्व विनाश कर सको तो सिर से पैर तक तुम ईश्वर की ज्योतिः से पूर्ण हो जाओगे। यह मत समझो कि अपने अस्तित्व को शेष करने पर तुम्हारा विनष्ट हो जायेगा।

—दिवानेहाफीज

सन्यास आश्रम के गुरुत्व को समझाने के लिये भगवान श्रीकृष्ण ने उद्धव महाराज से कहा—"सन्यास मूर्वनि स्थितः।" अतएव यदि मुक्तिरुप कल्पवृक्ष का फल भक्षण करना हो तो सन्यास आश्रम का ग्रहण अत्यन्त आवश्यक है। यह हिन्दु, बौद्ध, इसाई, मुसलमान—संसार के इन चार श्रेष्ठ धर्म संप्रदाय के आचार्यों के द्वारा अनुमोदित है। किन्तु आज हिन्दुधर्म के अनुमोदित ब्रह्मचर्य रूप मूल के छेदन होने के फलस्वरूप मुक्तिवृक्ष के अन्य अंग श्रीहीन तथा शुष्क हो पड़े हैं। यही नहीं, उस शुष्क वृक्ष को चारों ओर से जंगली घासों ने घेर लिया है। विद्या, ज्ञान, संयम, शिक्षा आदि रहे या न रहे, केवल बाल बढ़ाकर, दाढ़ी रखकर गेरुआ कपड़ा ओढ़ कर और दीखाने में के लिये अनुष्ठान करलेने से ही, आजकल लोग ब्रह्मचारी बन बैठते हैं। देवकृत्य, पितृकृत्य, स्वाध्याय तथा आश्रमोचित अवश्य पालनीय दूसरे कार्यों को न करते हुये भी, विवाह और पुत्रोत्पादन करके ही मनुष्य गृहस्थ बन बैठता है। शिक्षित बहुओं की मंत्रना पर उपयुक्त पूत्र मा-बाप को घर से बिदा कर देता है, उन्हें वाणप्रस्थी बना डालता है। फिर माता-पिता की मृत्यु होते ही उनके शरीर को किसी प्रकार से फटे पूराने कपड़ों में

लपेट कर कलस-पिथड़ा के साथ श्मशान में विसर्जन कर देता है, जिससे उनकी पूर्ण समाधि अथवा सन्यास पूर्ण हो जाता है। हाय ! ब्रह्मचर्य* के अभाव में तथा काल के प्रभाव से हेमप्रभ भारत की मूर्ति कितनी मलीन बन चुकी है। इसीलिये तो आज भारतवासी भी दूर्दशा ग्रस्त और निन्दित हो पड़े हैं।

विषम काल उपस्थित है। काल विषम है, इसीलिये डर लगता है। हाय ! यदि जन्म जन्मान्तर की तपस्या न रहे तो सन्यास लाभ करना कभी भी संभव नहीं होता। काल के प्रभाव से पाप-पुण्यातीत वह पवित्र आश्रम भी संन्देह का कारण हो पड़ा है। न जाने किस अशुभ क्षण में राक्षस रावण ने कपट सन्यासी का भेष बना कर सीता का हरण किया था और उसी दिन से चोर, लफंगे, डाकू, लूटेरे, खूनी अपने बुरे उद्देश्य को पूरा करने के निमित्त संन्यासी बन जाते हैं। हिन्दु समाज में सन्यासी का आसन सबसे उँचा है। इसीलिये हिन्दु मात्र साधु सन्यासी को देखते ही अपने हृदय की श्रद्धाभक्ति अर्पण करते हैं। धुँधट में रहनेवाली कुलबधुयें भी बिना किसी रोकटोक के अकुंठ चित्त होकर साधु के निकट जाते हैं और उनसे खोलकर बातें करती हैं। इसीलिये अनेक पापी अपने को पवित्र सन्यासी का रूप बनाकर साधारण लोगों की आँखों में धूल झोंक कर अपना उद्देश्य सिद्ध करते हैं और बिना परिश्रम के अपना पेट पालते हैं। यद्यपि ये घटनायें सन्यास आश्रम की श्रेष्ठता ही

---

* मेरे "ब्रह्मचर्य साधन" नामक ग्रंथ में ब्रह्मचर्य तथा उसके उपकार भी मुद्रित है।

प्रमाणित करती हैं। किन्तु हम आप बार बार इन कपटी साधु-सन्यासीयों से प्रतारित होकर, प्रकृत साधुओं की भी, हृदय से सेवा नहीं किया करते। विशेष कर अपरिशुद्ध चित्त होने के कारण, प्रकृत साधु को पहचान लेने की क्षमता उनमें नहीं होती। कहते हैं—"साँच कहे तो मारे लाठी, झूटा जगत भूलाये।" इसीलिये बन वे कपटो साधु बन कर साधारण लोगों को मोहकर, अपना मतलव निकालते हैं। साधारण मनुष्य भी प्रकृत्त साधु को त्याग कर, अपने ही हृदय के आदर्शानुसार, जटाजुट समायुक्त चिमटा करंगाधारी कपटी साधु के पीछे भागता फिरता है। प्रकृत साधु के निकट उन्हें सुख नहीं मिलता इसलिये वे उनके साधुपन में संन्देह करने लगते है। अतएव समाज की दूर्दशा के साथ साथ प्रकृत साधु भी दूर भागते जा रहे हैं और उनके स्थान पर सारे चोर उचक्के अपना स्थान बना रहे है। साधु तो सूर्य स्वरूप होते हैं। अंधा उन्हें भले ही देख न पाये किन्तु अध्यात्मचक्षूवाले व्यक्ति से क्या वे अपने को छुपा सकते हैं? साधु शान्त और आनन्दघन मूर्ति होता है। त्रितापक्लिष्ट जोव जिसके पास जाकर त्तण भर के लिये भी आनन्द पाता है—वे यथार्थ साधु हैं। इसके अतिरिक्त शास्त्रों में भी प्रकृत साधु के सुमहान लक्षणों को सुन्दर रूप से बखाना गया है। कहीं किसी शास्त्र में भी इन्द्रजाल अथवा शक्तिमत्ता को साधु का लक्षण बतलाया नहीं गया है। इसी लिये में कह रहा या कि अनधिकारी व्यक्ति होकर कपटी लोगों के दल को पुष्ट नहीं करना चाहिये अथवा अपनी मलीन इच्छाओं की पूर्ती

करने के लिये सन्यास लेना नहीं चाहिये। जब तत्वज्ञान उत्पन्न होकर वैराग्य दृढ़ बनेगा और सांसारिक कर्त्तव्य बुद्धि विनष्ट हो जायेगा, तब जाकर सन्यास ग्रहण करना चाहिये। जिसने इन्द्रियों पर विजय नहीं पायी, केवल वैराग्य रहीत सन्यास को ग्रहण किया है, वैसे धर्मविघाती व्यक्ति अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति किये बिना ही, संसार तथा परलोक दोनों से च्युत होता है। कुत्ता जिस प्रकार बमन किये हुये पदार्थों को खाता है. पतित सन्यासी भी वैसा ही करता है। यथा—

यः प्रव्रज्य गृहात् पूर्वं त्रिवर्गाविपनात् पुनः।
यदि सेवेत तान् भिक्षुः स वै वान्ताश्यपत्रपः॥

—श्रीमद्भागवत ७।१५।२८

रोपे हुये त्रिवर्ग से घिरे घर को छोड़ कर यदि कोई प्रब्रजा अवलम्वन करे और यदि वह सन्यासी फिर से उन त्रिवर्गों की सेवा कहना आरम्भ करे तो उस निर्लज्य व्यक्ति को वमन भोजी कुत्ता कहना उचित होगा। अतएव आत्म प्रतारक न बन कर, अपने को विशेष रूप से परीक्षा करने के पश्चात, तब जाकर सन्यास लेना चाहिये।

यद्यपि तत्वज्ञानी सन्यासी किसी भी शास्त्रीय विधि-निषेध के अधीन नहीं होता, तथापि पूर्ण सन्यासी अर्थात् परमहंसत्व के प्रतिष्ठित न हो जाने तक आश्रमोचित्त नियमों का पालन करना होगा। उसे दंड, कमंडलु, गैरिक वस्त्र पहन कर, गाँव के बाहर अथवा वृक्ष के नीचे अवस्थान करना चाहिये। वह अहिंसक सत्य-शील, अचौर्य होगा तथा सब प्राणीयों के प्रति दयादृष्टि रखेगा।

वह कौपीन मात्र पहन कर दिन बितायेगा और शीत निवारणार्थ कम्वल या कंथा का व्यवहार करेगा। पादुका के सिवा अन्य किसी भी वस्तु को वह अपने पास नहीं रखेगा। यथा—

अनिकेतः क्षमावृत्तो निःशंकः संगवर्जितः।
निर्म्ममो निरहंकारः सन्यासी विहरेत् क्षितौ॥

—महानिर्वाण तंन्त्र ८।२७२

सन्यासी कभी भी एक स्थान पर नहीं रहेगा। वह बृद्ध, मुमुर्ष, भीरु, तथा विषयासक्त व्यक्ति का संग छोड़ देगा। सब प्रकार के लोगों का संग छोड़ कर वह अकेला विचरण करेगा। वह यांचा, शंका, ममता, अहंकार, संचय, दासत्व, दूसरों की निन्दा, आदि का परित्याग करेगा। सन्यासी गाँव के हँसीखेल, नाच-गाने, बात-बितंडा, भाषण का परित्याग करेगा। वह काम क्रोध को मन में कभी भी स्थान नहीं देगा। यथा—

न च पश्येत् मुखं स्त्रीणां न तिष्ठेत् तत् समीपतः।
दारवीमपि योषांच न स्पृशेद् यः स भिक्षुकः॥

—महानिर्वाण तंन्त्र

सन्यासी स्त्री का मुख दर्शन नहीं करेगा। उसके पास न वह रहेगा, यहाँ तक कि नारी मूर्ति तक को वह स्पर्श नहीं करेगा। रमणी के साथ हँसी ठट्टा करना मना है। समस्त वासना-कामना, सुख-दुख, शीत-आतप, मान-अभिमान, माया-मोह, क्षुधातृष्णा को भूलकर वह द्वन्द-सहिष्णु बनेगा और सर्वदा समबुद्धि सम्पन्न होकर सब में ब्रह्म का दर्शन करेगा और ब्रह्म भाव लेकर विचरण करेगा।

फिर आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाने पर वह सर्व बिधि-निषेध को विसर्जन देकर, परमहंस बन जायेगा। यथा—

भेदाभेदौ सपदि गलितौ पुण्यपापे विशीर्णे
मायामोहौ क्षयमधिगतौ नष्टसंदेहवृत्तौ।
शव्दातीतं त्रिगुणरहितं प्राप्य तत्वाववोधं
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः?

—शुकाष्टक

वे महात्मायें जो तत्वज्ञान को लाभ कर निस्त्रैगुण्य के पथ पर विचरण करते हैं, उन के लिये कोई भेदाभेद का प्रश्न उठता ही नहीं। ऐसे लोगों का पाप पुण्य विशीर्ण हो जाता है, धर्माधर्म क्षयप्राप्त हो जाता है और संसार तथा बृत्तियाँ अर्थात् इन्द्रियों के धर्म समूह विनष्ट हो जाते हैं। फिर वे केवल शव्दातीत गुणत्रयशुन्य ब्रह्मतत्व को जान कर विचरण करते हैं। इसी अवस्था में पहुँच चुंकने पर उन्हें परमहंस सन्यासी कहा जाता है। परमहंस अवस्था में, वेदादि शास्त्रों के विधिनिषेध से, फिर से वन्धन का होना संभव नहीं होता।

परमहंस सन्यासो शास्त्रों के निगुढ़ार्थ की व्याख्या करेगा। विषय-विमुढ़ लोगों को तत्वोपदेश के द्वारा प्रवुद्ध करेगा। वह शास्त्रीय गुढ़ रहस्यों को ग्रंथाकार में प्रचार करेगा। वह साधारण मनुष्य के संशय-ग्रंथियों को खोल डालेगा और उनकी भ्रान्तियों को दूर भगायेगा। अधिकांश हिन्दु शास्त्र तथा उनके प्रधान भाष्यकार, टीकाकार सब परमहंस सन्यासी हुये हैं। परमहंस

पुण्यतीर्थ तथा पवित्र देश में वास करेगा और यथाशक्ति देश विदेशों में पर्यटन करता हुआ ज्ञानोपदेश के द्वारा लोगों को पवित्र बनायेगा। परमहंस के जीवन का महाव्रत संसार का सब प्रकार से हित साधन करना होता है।

ऐसा सन्यासी जिसमें सब लक्षण वर्तमान हों, मिलना कठिन है। आप लोग सन्यासी की निन्दा कभी भी करने की धृष्टता न करेगें क्योंकि देवादिदेव ने कहा है—कि जो व्यक्ति बिष्णु, शास्त्र तथा सन्यासी की निन्दा कहता है, वह षाठ हजार बर्ष तक विष्ठा का कीड़ा बन कर काल यापन करता है। यथा—

विष्णुंच सर्वशास्त्राणि सन्यासिनंच निन्दति।
षष्टिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः॥

———

भगवान शंकराचार्य और उनका धर्म

भगवान बुद्ध के तिरोधान के पश्चात् जब पथभ्रष्ट बौद्धवादो के शुन्यवाद तथा नास्तिकता की कठोर कर्कश ध्वनि दिकमंडलों को प्रतिध्वनित करने लगी तो अवसर पाकर बौद्ध, तान्त्रिक तथा कापालिकों ने अपने विकराल मुँह को फार कर, वेदानुग्रह के छाया आश्रित इस भारत भूमि को, ग्रास करना चाहा। पंच मकार की साधना के वहाने मदिरा मांस और नारी की सतित्व से वे होली खेलने लगे। जप, तप, पुण्य, धर्म, याग, यज्ञ, शास्त्रचर्चा प्रायः

लूप्त सा हो गया। विषयासक्ति ने भारतवर्ष को राहुग्रस्त चन्द्रमा की तरह निगल बैठा। तपस्तेजो वीर्यवान ब्रह्मवादी ऋषिगणों ने अपने आश्रमोंको निभृत गिरि गुफाओं में छूपा लिया। मुनि-योगी लोक-समाज के अन्तराल में छिप गये। साधारण मनुष्य विषय का दास बन गया। संसार का कीट बन कर स्वर्ग सुखादि भोग की कामना के पीछे वे ब्रह्मज्ञान, आत्म समाधि आदि को भूलाकर, कर्म कांड का आदर करने लगे। भारत के संन्तान जगतपति को छोड़ कर जगत की सेवा में मनोनिवेश करने लगे। भोगासक्त तथा इन्द्रिय परायण होकर, नरगणों ने नारायण को विदा दे दी और संसार को सार मान कर स्वार्थ सेवा में ब्रती हो गये। भारतवर्ष की भूमि से वैदिक प्रतिभा भाग चला और ब्राह्मण धर्म की उज्जूल हैमप्रभा भी काल के निष्पेषण से सूख कर धरती पर लोट-पोट हो गयी। समस्त भारतवर्ष अज्ञान-अन्धकार में डूब गया।

इस हालत को देखकर देवगण भी लम्वी साँस लेने लगे। अपने प्रिय भारत की भीषण दूर्दशा को देख कर भगवान का सिंहासन काँप उठा। फिर प्रातःस्मरणीय भगवान शंकराचार्य का आविर्भाव भारतवर्ष में हुआ। उन्होंने फिर से भारत-सिंहासन को वेदान्त शास्त्र का विजय मुकुट पहनाया। वेदान्त शास्त्र का पुनः प्रचार कर उन्होंने कर्म की अनित्यता, जगत की असत्यता, विद्युतवत संसार की क्षण भंगूरता तथा ब्रह्म के सत्यता की शिक्षा लोगों को दी। उन्होंने कहा—जीव ब्रह्म है और

जगत भी ब्रह्म है, ब्रह्म के सिवा और कुछ है ही नहीं। उनकी प्रतिभा तथा तपोस्तेजोवीर्यता को सहन न कर सकने के कारण, पथभ्रष्ट बौद्धों ने ब्रह्म, चीन, तिब्बत, लंका आदि अनार्य देशों में जाकर अपना आधिपत्य विस्तार किया। कुछ लोगों ने पर्वत, गुफा, अथवा निविड़ जंगलों में आश्रय लेकर अपने संप्रदाय की रक्षा की। मंडन मिश्र आदि जैसे महामहोपाध्याय पंडितगण भी, शंकराचार्य की प्रतिभा के सामने सिंकुड़ कर रह गये। लोगों ने बड़े ही चाव से शिवतत्व को ग्रहण किया और अति उत्साह के साथ गुरु के कार्य में सहायता पहुँचाने में तत्पर हो पड़े। अति अल्प समय में ही समस्त भारतवर्ष के लोग उनके चरणों पर लोटने लगे। वे लोकगुरु—जगतगुरु के रूप में भारत में सर्वत्र शान्ति की अमिय धारा का वर्षण करने लगे। बौद्ध मन्दिरों में देव देवी को मूर्ति स्थापित होने लगी और बौद्ध मठ हिन्दु मठ में परिणत होने लगा। वेदोक्त ब्राह्मण्य धर्म की सुशीतल छाया को फिर से पाकर लोगों में नवजीवन का संचार होने लगा। अपूर्ण मानव जीवन के पूर्णत्व के साधन से मर्त्य में ही वे अमरत्व को लाभ करने लगे।

भगवान शंकराचार्य ने हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक और गान्धार से चट्टग्राम की पहाड़ीयों तक के प्रत्येक गाँव में घूम घूम कर वैदान्तिक ब्रह्मज्ञान के प्रचार से भारतवर्ष को फिर से जगाया। रोते हुये भारतमाता के मलीन बदन पर फिर से जीबन जाग उठा। विश्व के अन्य धर्ममत प्रतिष्ठाताओं ने,

भगवान के किसी एक विशेष लक्षण का निरुपण कर उसे लाभ करने के उपायों का प्रचार किया है और इसी कारण उन धर्म संप्रदायों के द्वारा विद्वेषकोलाहल उत्पन्न हुये। किन्तु भगवान शंकराचार्य ने ब्रह्म का स्वरूप लक्षण निरुपण कर जिस विश्वव्यापी उदार मतवाद का प्रचार किया है, उस में सभी प्रकार के अधिकारीयों का स्थान रहने के कारण उससे सभी कृतार्थ हुये हैं। इसी कारण आज हिन्दु, बौद्ध, ब्राह्म, शिख, जैन, पारसी, इसाई, मुसलमान आदि संसार के सभी संम्प्रदायों को वैदान्तिक धर्म के विशाल गर्भ में आना पड़ा है। ऐसा सर्वमत समन्वयी तथा सर्वधर्म सामंजस्य उदारपंथी मतवाद को किसी देश ने आज तक प्रचार नहीं किया है। और न ऐसा धर्मवीर, कर्मवीर, ज्ञानवीर, प्रेमिक प्रचारक ही इस पृथ्वी पर कभी पैदा हुआ है। केवल ३२ वर्ष की आयु में उन्होंने सर्वविद्या, सर्वशास्त्रों में पंडित-विशारद बन कर साधना के बल से ब्रह्मसाक्षातकार करने के पश्चात, अपधर्मपरिप्लावित भारतवर्ष में पैदल चलकर, (उस समय रेल या स्टीमर या मोटर का आविष्कार नहीं हुआ था) घूम घूम कर सत्य सनातन धर्म का प्रचार किया। न जाने कितने महामहोपाध्याय पंडितों को शास्त्रार्थ में उन्होंने परास्त किया और कितने दुर्वृत्त गुंडों के हाथ उनका जीवन संशय बना होगा। इसके अतिरिक्त शारीरक सूत्रों को व्याख्या, श्रीमद्भगवत-गोता का भाष्य, दशोपनिषद का भाष्य, योग शास्त्रों की टीका, साठ वैदिक ग्रंथ तथा भक्तिभाव से पूर्ण कितने ही देव-देवीयों की

स्तवगानों की रचना उन्होंने की है। मोहमुद्गर, विज्ञानभिक्षु, आत्मवोध, मणिरत्नमाला, अपरोक्षानुभूति विवेकचुड़ामणि, उपदेश-सहश्री, सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह, आदि ग्रंथ संसार में सर्वत्र समादृत है। ये सब उनके अक्षय कीर्ति की घोषणा करते हैं। पाठक! क्या आपने ३२ बर्ष के आयु वाले किसी व्यक्ति का जीवन इतना कर्ममय देखा है? चिन्ता करने पर हमारा क्षुद्र मस्तिष्क चकरा उठता है। इसी कारण भारतवर्ष के बच्चे, बुढ़े सभी के मुख से उनका सुमहान नाम उच्च कंठो से घोषित होता सुनाई पड़ता है। भारत के अन्य किसी प्रचारक ने अपने देश की सीमा को पार कर विदेश के लोगों के हृदय को स्पर्श करने का इतना अधिक सुयोग तथा सोभाग्य लाभ नहीं किया है। किन्तु भारतवर्ष में शंकराचार्य को साक्षात शंकर के रूप में लोग अपने घरों में पूजते हैं।

किन्तु आसाम तथा बंगाल के अधिकांश लोगों को उनकी महिमा जानने का सुयोग प्राप्त नहीं हुआ है। जहाँ के लोग भगवान बुद्ध को विष्णु का नवम अवतार जानते हुये भी श्रद्धा करने के बदले उन्हें "वेद विरोधी नास्तिक" कह कर घृणा करते हैं, यदि वे शंकराचार्य को "प्रच्छन्न बुद्ध" मान कर नाकभौं चढ़ायें तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है? इसके अतिरिक्त बंगाल का एक संप्रदाय तो स्वकपोल कल्पित कहानी बना कर कहते फिरते हैं—"जब भगवान ने देखा कि भारतवर्ष के सब लोग धर्म के बल पर उद्धार होते जा रहे हैं तो उन्होंने शिव को

शंकराचार्य के रूप में अवतीर्ण किया जिससे मानव समाज को बिपथगामी किया जा सके।" क्या ही अपूर्व बुद्धि पायी है उन लोगों ने ? इस बुद्धि पर अपनी जान भी देदूँ तो कम है ! उस कहानी के प्रचार से शंकराचार्य के भाग्य में जो भी घटा हो किन्तु भगवान के "दयामय" नाम का सपिंडकरण तो निश्चित हो गया है और ब्राह्मणों के गायित्री मंन्त्र का अर्थ भी निरर्थक बन गया, किन्तु संप्रदाय बुद्धि से भ्रान्त भक्त तथा पंडितगण इसके मर्म को समझ नहीं पाये। संभवतः शंकराचार्य से पहले काल का ऐतिहासिक ज्ञान उन्हें नहीं था। यदि होता तो निर्लज्य की तरह ऐसी कहानी वे गढ़ने में समर्थ नहीं होते। उस समय का भारत वेद तथा वेद-प्रतिपादित भगवान को भूल कर नास्तिकता तथा जड़त्व के दानवी प्रभाव से नीचे गिर चुका था। उस स्थिति में, "उद्धार होते जा रहे हैं"—के कारण भगवान को व्यस्त होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। उसके बिपरीत शंकराचार्य ने आविर्भूत होकर नास्तिकता तथा जड़त्व के बदले भारत को पुनः अपने पूर्व गौरव पर प्रतिष्ठित किया है। क्या उसीके कृतज्ञता स्वरूप इन कहानियों का प्रचार किया जा रहा है। ऐसा यदि वे न करते तो फिर इस पतित जाति को भला लोग पहचान कैसे पाते ? वंगाल में ब्राह्मण्य धर्म का गौरव कभी भी प्रतिष्ठित नहीं था। और इसीलिये आदि शूर ने कान्यकुब्ज से पाँच वैदिक ब्राह्मणों को यहाँ लाया था। बंगाल के ब्राह्मण उन्हीं के बंशधर हैं। किन्तु वे धीरे धीरे स्थानीय भ्रष्टाचारी तान्त्रिक ब्राह्मण के साथ बैवाहिक

बन्धन में लिप्त होकर तथा उनके साथ मिलजुल कर रहते रहते वैदिक धर्म से च्युत हो पड़े और भ्रष्टाचारी बन गये। हमारे यहाँ लोग इसी कारण मूल बृक्ष को छोड़ कर परगच्छा का अधिक समादार करते हैं। इसीलिये हमारे यहाँ ऋषि प्रणीत स्मृति के स्थान पर रधुनन्दन की व्यवस्था चलती है। पाणिनि के स्थल पर मुग्धबोध-कलाप, आयुर्बेद के जगह पर बैद्यशास्त्र, अरबा चावल के बदले सिद्ध चावल तथा संयम के स्थल में स्वेच्छाचार ने घर बना लिया है। बंगाल के पंडित भारतीय दर्शन शास्त्र के बदले न्याय शास्त्र के शुष्क तर्क का रसस्वादन लेकर नृत्य करते हैं। बंगाल में वेद वेदान्त की आलोचना नहीं के बराबर हुई है। दो-चार पंडित जिन्होंने वेदान्त शास्त्र को पढ़ा भी है, केवल अन्वय, शब्दार्थ के अतिरिक्त "जायते ज्ञानमुक्तमम्" के दिव्यज्ञान को लाभ कर कृतार्थ नहीं हो सके हैं। सगुण तथा निर्गुण के बालकसुलभ अर्थ को लेकर केवल अनर्थ मचाया है। विश्वविद्यालय के शिक्षिन युवकों में वेदान्त का आदर बढ़ा तो है किन्तु वे भी उशृंखलतावश नाना प्रकार के मतवादों को लेकर अपना नाम कमाने में व्यस्त हैं। किन्तु सत्य-प्रत्यक्षी के सिवा उसके प्रकृत अर्थ को समझना किसी के लिये भी संभव नहीं है। क्रमशः शिक्षित संप्रदायों में शंकराचार्य का सिंहासन स्थापित हो रहा है। भगवान रामकृष्ण की कृपा से उनका मिशन इस देश में वेदान्त का प्रचार कर रहा है। बंगाल में भले ही कोई शंकराचार्य के गंभीर भाव को धारण न कर सके किन्तु सुदूर युरोप तथा अमेरीका के

गुणग्राही व्यक्तिगण वेदान्त तथा शंकराचार्य को अपना आभूषण एवं शान्तिवारि मान कर अपना रहे हैं। बंगाल के गौरव श्रीमत् विवेकानन्द ने केवलमात्र वेदान्त शास्त्र के द्वारा ही शिकागो धर्ममहासभा में भारत के धर्मगौरव को प्रतिपन्न किया है। इसीलिये तो आज वेदान्त शास्त्र ने पाश्चात्य धर्मजगत में एक युगान्तर लाया है।

भगवान शंकराचार्य का जन्म द्राविड़ देश में हुआ था। बचपन में ही उनके पिता का स्वर्गवास हो गया था। केवल मात्र ८ वर्ष की आयु में ही उन्होंने सर्वशास्त्रों में व्युत्पत्ति प्राप्त कर ली थी। उस समय अनेक राजा महराजाओं ने उनके सुकुमार शरीर, सुमधुर युक्तिपूर्ण वाक्य तथा असाधारण पांडित्य से मुग्ध हो कर उनकी सेवा में अपना जीवन उत्सर्ग किया था। १२ वर्ष की आयु होने पर उन्होंने कौशल लगाकर अपनी माता से अनुमति लेकर ब्रह्मदान तथा ब्रह्म गान से भारतवर्ष की ग्लानि को दूर करने के निमित्त गृहत्याग किया और स्वामी गोविन्दपाद आचार्य को शिष्यत्व को ग्रहण कर सन्यासी बने। वे उपलब्ध कर चुके थे कि उपनिषद तथा उसकी मीमांसा स्वरूप शारीरक सूत्र का अध्ययन-अध्यापन तथा प्राचीन ब्रह्मर्षियों के द्वारा सेवित ब्रह्मज्ञान के अनुशीलन के अभाव में—गुरु के अभाव में, अधिकार के अनुरूप तत्ववाणी के प्रचार के अभाव में, भारतवर्ष के सर्वसाधारण की आज यह दुर्दशा है। अतः उन्होंने अल्प समय में वेद आदि का अध्ययन कर विपन्न भारत को उद्धार करने का दृढ़ संकल्प

किया। यह जान कर कि कठिन ब्रह्मज्ञान के प्रचार मे अनेक आलोचनायें, यथेष्ट समय और विपुल बिघ्न-विपत्तियों का सामना करना पड़ेगा, और फिर एक जीवित काल का समय इसके लिये अत्यन्त अल्प होगा, उन्होंने संसार की माया को त्याग कर हजारों लोगों के द्वारा किये जाने वाले कार्य के परिश्रम को अकेले किया। वेदान्त और उपनिषदों का उन्होंने भाष्य बनाया तथा उसकी शिक्षा अपने शिष्यों को दी। उनके चार प्रधान शिष्य पद्मपाद, हस्तामलक, सुरेश्वर (मंडन) और त्रोटक को उन्होंने वेदान्त शास्त्र तथा तत्वज्ञान के प्रचार के लिये भारतवर्ष के कोने कोने में भेजा। भारतवर्ष के एक छोड़ से दूसरा छोड़ तक उनके जयजयकार से गुँजने लगा। उन्होंने मुमुक्ष व्यक्तियों के लिये सन्यास और ब्रह्मज्ञान की व्यवस्था तथा साधारण लागों के लिये सगुण ब्रह्मोपासना और दूर्वल अधिकारीयों के लिये विष्णु, शिव आदि प्रतीक उपासना की व्यवस्था की है। उन्होंने चित्त शुद्धि के निमित्त अपने वर्णाश्रम के अनुसार निष्काम कर्म विधियों का अनुमोदन किया है। इस तरह सब प्रकार के अधिकारींयो ने, उनके प्रचारित धर्म के उदार हृदय में स्थान पा कर, अपने को धन्य समझा। कश्मीर के सारदापीठ पर आरोहण और समस्त भारत के सर्वाधिकार जनगणों के गुरु बनने का सौभाग्य शंकराचार्य के पश्चात् अन्य किसी भो प्रचारक को प्राप्त नहीं हुआ है। यही कारण है कि शंकराचार्य जगद्गुरु के नाम से विख्यात हुये हैं। कलिकाल में संन्यास आश्रम के विधिवत पुनः प्रचलन के द्वारा भारतवर्ष में उन्होंने ज्ञान के पथ

को फिर से दर्शाया है तथा शास्त्रीय ज्ञान को यथायथ तथा प्रतिभा-सम्पन्न रखने के सद् उपायों को भी बतलाया है। केवल ३२ वर्ष की अल्प आयु में ही शिवस्वरूप शंकराचार्य ने केदारतीर्थ में अपना शरीर छोड़ा।

भगवान शंकराचार्य ने धर्म प्रचार की सुविधा के निमित्त वेदोक्त चार महावाक्यों को अवलम्बन बना कर भारतवर्ष के चार कोने पर चार बड़े मठों की स्थापना की। वहाँ उन्होंने पद्मपाद आचार्य आदि चार प्रधान शिष्यों को नियुक्त किया। प्रत्येक मठ को उन्होंने अपना स्वतंत्र क्षेत्र, देव देवी, तीर्थ, वेद और महावाक्य का निर्देश दिया। उसीके आधार पर संन्यासी मात्र को ही अपना मतानुसार उनमें से किसी भी एक को ग्रहण करना पड़ता है तथा तदानुसार अपना परिचय देना पड़ता है। यथा—

उत्तर में ज्योतिर्मठ (जोशी मठ)—

क्षेत्र : बदरिकाश्रम, देव : नारायण, देवी : पुन्नागरी,
तीर्थ : अलकनन्दा, वेद : अथर्व, महवाक्य : अयमात्मा ब्रह्म।

दक्षिण में शृंगेरी या शृंगगिरि—

क्षेत्र : रामेश्वर, देव : आदि वराह, देवी : कामाख्या
तीर्थ : तुंगभद्रा, वेद : यजुः, महावाक्य : अहं ब्रह्मास्मि।

पूर्व में गोवर्धन मठ—

क्षेत्र : पुरी, देव : जगन्नाथ, देवी : विमला, तीर्थ : महोदधि,
वेद : ऋक, महावाक्य : प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म।

पश्चीम में शारदा मठ—

क्षेत्र : द्वारका, देव : सिद्धेश्वर, देवी : भद्रकाली ।
तीर्थ : गंगा गोमती, वेद : साम, महावाक्य : तत्वमसि ।

इन चार मठों के अतिरिक्त सन्यासी सम्प्रदाय के प्राय बारह सौ मठ भारतवर्ष के विभिन्न स्थानों पर अवस्थित हैं। मठ के चार आचार्यों में विश्वरूपाचार्य के तीर्थ तथा आश्रम नामक दो शिष्य, पद्मपादाचार्य के वन तथा अरण्य नामक दो शिष्य, त्रोटकाचार्य के गिरि, पर्वत, सागर नामक तीन शिष्य एवं पृथ्वोधराचार्य के सरस्वती, भारतो तथा पूरी नामक तीन शिष्य, सब मिलाकर इस समुदाय के दश शिष्यों के द्वारा दश सम्प्रदाय बना। इस प्रकार दशनामी सन्यासीयों को अपने अपने संप्रदाय के अनुसार साधना करनी पड़ती है। अतः वे कभी निरर्थक नहीं हो सकते। इन दश उपाधियों के भी तात्पर्य हैं। यथा—

तीर्थ— त्रिवेणीसंगमे तीर्थे तत्वमस्यादिलक्षणे ।
स्नायात्तत्वार्थभावेन तोर्थनामा स उच्यते ॥

तत्वमसि आदि लक्षणायुक्त त्रिवेणी संगमतीर्थ में जो स्नान करते हैं उसे तीर्थ कहते हैं।

आश्रम— आश्रमग्रहणे प्रौढ़ आशांपाशविवर्ज्जितः ।
यातायातविनिर्मुक्तं एष आश्रम उच्यते ॥

जो आश्रम ग्रहण करने में सुनिपुण तथा निष्काम होकर जन्ममृत्यु विनिर्मुक्त बन सके हैं, उसे आश्रम कहते हैं।

बन— सुरम्ये निर्जने स्थाने बने बासं करोति यः।
आशापाशविनिर्मुक्तो वननामा स उच्यते।

जो वासना वर्जित होकर सुरम्य तथा निर्जन स्थान स्वरूप वन में वास करता हो उसे वन कहते है।

अरण्य— अरण्ये संस्थितो नित्यमानन्दे नन्दने वने।
त्यक्त्वा सर्वमिद विश्वमरण्य परिकीर्त्यते॥

जो अरण्यव्रतावलम्वी बन कर संसार को त्याग, आनन्दप्रद अरण्य में सर्वदा निवास करता हो, उसे अरण्य कहते हैं।

गिरि— वासो गिरिवने नित्यं गीताध्ययन तत्परः।
गम्भीराचलबुद्धिश्च गिरिनामा स उच्यते॥

गिरि कानन में जिसका नित्य वास हो, जो गीताध्यन में तत्पर रहता हो, गम्भीर तथा स्थिर बुद्धि जिसमें हो, उसे गिरि कहा जाता है।

पर्वत— वसन् पर्वतमूलेषु प्रौढ़ं ज्ञानं विभर्ति यः।
सारासारं विजानाति पर्वतः परिकीर्त्यते॥

जो पर्वतमूल पर बास करता हो तथा प्रौढ़ ज्ञान वाला हो, जो सार तथा असार दोनों का ज्ञाता हो, उसे पर्वत कहा जाता है।

सागर— तत्वसागरगम्भीरो ज्ञानरत्नपरिग्रहः।
मर्यादां नैव लंघेत सागरः परिकीर्त्यते॥

जो तत्व विषय में सागर समान हो, गंभीर हो, ज्ञान रत्न जिसका आश्रय हो तथा जो मर्यादा का लंघन न करता हो, उसे सागर कहा जाता है।

सरस्वती—   स्वरज्ञानरतो नित्यं स्वरवादी कवीश्वरः।
संसारसागरासारहन्तासौ हि सरस्वती॥

जो सर्वदा स्वरज्ञान में रत रहता हो, स्वरवादी, कविश्रेष्ठ और जो संसार सागर संसरण का विनाशक हो, उसे सरस्वती कहते हैं।

भारती—   विद्याभारेण सम्पूर्णः सर्वं भारं परित्यजन्।
दुःखभारं न जानाति भारती परिकीर्त्यते॥

जो विद्याभार से परिपूर्ण होकर अन्य भार का परित्याग कर चुका हो, जिसे दुःख भार का अनुभव नहीं होता, उसे भारती कहते हैं।

पुरी—   ज्ञानतत्वेन सम्पूर्णः पूर्णतत्वपदे स्थितः।
परब्रह्मरतो नित्यं पुरीनामा स उच्यते॥

जो तत्वज्ञान में परिपूर्ण होकर पूर्ण तत्वपद पर अवस्थित हो तथा सतत् परब्रह्म में अनुरक्त हो उसे पुरी कहते हैं।

आजकल तीर्थस्थानों में, वन जंगलों में, पहाड़ पर्वतों में, गाँव या शहरों में, इयोरोप-अमेरीका में जो गेरुआ धारी संन्यासी दीखाई पड़ते हैं, उसका श्रेय भगवान शंकराचार्य को है और यह उनके अपार महिमा को घोषित करते हुये, उनकी अमानुषीक कीर्ति का परिचायक है। पहले ऐसा नियम था कि यदि कोई भी ब्राह्मण जीवन के तीन आश्रम में, प्रथम आश्रम धर्म का यथाविधि पालन कर ले, तो वह सन्यास का अधिकारी बन सकता था किन्तु शंकराचार्य ने यह व्यवस्था दी कि यथार्थ वैराग्य के होने पर कोई भी व्यक्ति, चाहे वह जिस आश्रम का ही क्यों न हो, तत्काल सन्यास ग्रहण कर सकता है। इस प्रकार उनके इस उदार

मतवाद के गर्भ में सबको आश्रय मिला, जो उनका महानता को ही घोषित करता है।

ये सन्यासी प्रधानतः दो श्रेणीयों में विभक्त हैं —एक दंडोस्वामी और दूसरा परमहंस। प्रथम अवस्था में दंडी स्वामी बन कर ब्रह्मज्ञान की आलोचना में दिन बिताना पड़ता है और फिर ब्रह्म के स्वरूप को उपलब्धि होने पर परमहंस बन लोकशिक्षा, शास्त्र-व्याख्या तथा जगत कल्याण में अपने को नियुक्त करना होता है। ये सन्यासी किन्तु समाज के सब सम्प्रदायों के गुरु माने जाते हैं। यह इसलिये कि हिन्दुसमाज वेद वेदान्त तथा पूराण के मतानुसार परिचालित होता है, जो भगवान वेदव्यास द्वारा रचा गया है और उसकी व्याख्या भी उन्होंने ही दी है। अतएव हिन्दु समाज के सर्वसम्मत गुरु वेदव्यास हैं। शुकदेवाचार्य उनके संन्तान हैं और शिष्य भी। शुकदेव के शिष्य हैं गौड़पादाचार्य और उनके शिष्य हुये गोविन्दपादाचार्य। शंकराचार्य और वर्तमान सन्यासी संम्प्रदाय सब उनके ही शिष्य, प्रशिष्य हैं। अतः सन्यासी सम्प्रदाय ही हिन्दु समाज के वास्तविक गुरु हैं। फिर इसी सन्यासी सम्प्रदाय के किसी न किसी महात्मा के द्वारा ही आधुनिक समस्त सम्प्रदाय बने हैं (ब्राह्म सम्प्रदाय को छोंड़ कर)। आधुनिक सम्प्रदाय के श्रेष्ठ लोग, अपने सम्प्रदाय के आचार्य माने जाते हैं। किन्तु सन्यासी संम्प्रदाय सभी सम्प्रदाय के लोगों के द्वारा आचार्य के रूप में सेवा तथा पूजन के अधिकारी होते हैं। वर्तमान काल के किसी भी सम्प्रदाय वालों ने चाहे वे त्रैलंग स्वामी, भास्करानन्द,

विशुद्धानन्द, रामकृष्ण परमहंस आदि सन्यासी महापुरुषों को, अपने संम्प्रदाय की अपेक्षा, अपने हृदय में अधिक श्रद्धा भक्ति से आकर्षित नहीं किया है ?

चारों प्रधान मठ के अध्यक्ष अथवा महन्त को शंकराचार्य के नाम से ही पुकारा जाता है ।

प्रकृत संन्यास

सन्यास का अर्थ आश्रित स्त्रीपुत्र-परिवार वर्गों को छोड़ कर घर से भाग जाना नहीं है । केवल गेरूआ वस्त्र पहन लेने से या कमडंलु के धारण अथवा मस्तक मुंडन कर लेने से कोई सन्यासी नहीं बन जाता । महात्मा कबीर जी कहते हैं—

मुड़ मुड़ाये जटा राखये, मस्त फिरे जैसे भैंसा ।
खलड़ी उपर राख लगाये, मन ऐसा का तैसा ॥

अर्थात् केवल मस्तक मुंडन करने से अथवा जटा रख लेने से या शरीर पर भस्म लेपन कर लेने से क्या होता है यदि मन को जीत कर तत्व ज्ञान का लाभ न हुआ हो ? जिसको आत्मानुभूति न हुआ हो, मन स्थिर न हुआ हो, भगवत भक्तिरस का उच्छ्वास न मिला हो तो केवल रंगीन कपड़ा पहन कर, कौपिन कमडंलु लेकर, जटा बढ़ाकर, भस्म लगा कर बृक्ष के तले बैठने से क्या लाभ होगा ?

ऐसा सन्यासी यात्रापार्टी में अनेक दीखई पड़ते हैं।* केवल फलाहार, जलाहार, स्वल्पाहार अथवा अनाहार से मुक्तिगामी सन्यासी बनना संभव नहीं है। यदि ऐसा होता तो पशु, पक्षी, जलचर अथवा पन्नग भी मूक्ति लाभ कर लेते। यथा—

वायुपर्णकणातोयव्रतिनो मोक्षभागिनः।
सन्ति थेत् पन्नगा मूक्ताः पशुपक्षिजलेचराः॥

—महानिर्वाण तंन्त्र

तो फिर सन्यास है क्या? सं=(सम्यक रूप से)+न्यास (त्याग) अर्थात् सम्पूर्ण रूप से त्याग करने को ही सन्यास कहते हैं। सन्यास तत्व बड़ा ही दुर्विज्ञेय हैं अथति् सहज रूप में समझ सकना कठिन है। साधारण तरह लोग समझते हैं कि काम्य-कर्म के त्याग को ही सन्यास कहते हैं। काम्य कर्म का फलत्याग तथा काम्य कर्म का परिवर्जन करना ही सन्यास है। सन्यासी काम्य कर्म का अनुष्ठान तथा उसके फल को आशा कभी नहीं करते। काम क्रोध के त्याग का एकान्त प्रयोजन तो है ही किन्तु कुछ लोग सभी कर्मो के परित्याग का परामर्श दिया करते हैं। कुछ

* मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि सन्यास में वेशभूषा, नियम-संयम आदि का प्रयोजन नहीं होता। जिस प्रकार ओषधि सेवन के साथ अनुपान की व्यवस्था रहती है, यद्यपि अनुपान के न सेवन करने पर भी औषधि से कुछ लाभ तो होता ही है। किन्तु औषधि को त्याग कर केवल अनुपान के सेवन करने पर क्या लाभ होगा भला? उसी प्रकार प्रकृत त्याग वैराग्य के सिवा केवल मात्र वेशभूषा, सर्वथा निरर्थक है।

कहते हैं कि यज्ञ, दान आदि प्रकार के कर्मों का त्याग किसी हालत में करना नहीं चाहिये क्योंकि इनसे चित्त शुद्ध होता है। तत्वजिज्ञासु अर्जुन ने जब भगवान श्रीकृष्ण को कर्मानुष्ठान का त्याग तथा कर्मफल त्याग के अन्तर के विषय में पूछा तो श्रीकृष्ण ने कहा—"हे पार्थ ! यज्ञ, दान आदि कर्मों के अनुष्ठान करते समय कर्तृत्वाभिमान और स्वर्गादि लाभ फलकामना का त्याग ही मेरे मतानुसार श्रेष्ठ है।" काम्य कर्म बन्धन का हेतु होने के कारण मुमुक्षु लोग इसका त्याग तो करेंगे ही किन्तु निर्दोष नित्यकर्म का त्याग कभी भी करना उचित नहीं है। नित्यकर्म वेदविहित परमार्थ लाभ का हेतु होता है जो धर्म साधन के परम अनुकूल तथा अवश्य अनुष्ठेय है। बिना समझे बूझे अथवा हठकारितावश जो इसका त्याग करता है, वह तमोगुणी, कापुरुष तथा जड़स्वभाव के होते हैं। अतएव—

काम्यानां कर्म्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः।

—श्रीमद्भगवद्गीता

पंडितों के मतानुसार काम्यकर्म का त्याग ही सन्यास है। शरीर के रहते हुये मनुष्य कभी भी समस्त कर्मों का त्याग नहीं कर सकता। जो कर्मानुष्ठान करते हुये भी कर्मफल का त्याग करता है, वही यथार्थ में सन्यासी है। अनिष्ट, इष्ट तथा मिश्र अर्थात् पाप पुण्य रूप कर्मफल अत्यागी को देह त्याग के पश्चात, आश्रय करता हैं, किन्तु सन्यासी को वे स्पर्श नहीं कर पाते।

त्याग भी तीन प्रकार के होते हैं—सात्विक, राजस तथा तामस। फल की इच्छा का परित्याग कर कर्म करने को सात्विक त्याग, फलकामना के रहते हुये कर्मत्याग को राजस तथा फल की इच्छा सहित अनुष्ठान के त्याग को तामस त्याग कहते हैं। कर्म को कष्टसाध्य जान कर त्याग करने को राजस तथा भ्रान्तिपूर्वक कर्म त्याग को तामस माना जाता है। अतः सन्यासी के लिये सात्विक त्याग अनिवार्य है। गुणमय त्याग के अतिरिक्त गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने "त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन" रूपी जिस त्याग का उल्लेख किया है वह निर्गुणात्मक है। मुमुक्षों के लिये यह गुणातीत सन्यास ही अवलम्बनीय है। कर्मफल त्याग रूपी सात्विक सन्यास में भी नित्यकर्म का कर्त्तव्यबुद्धि वर्तमान है। फिर कर्त्तव्यबुद्धि के परित्याग न कर सकने पर शास्त्रानुसार वह सन्यास आश्रम का अधिकारी नहीं बन सकता। इन दो विरुद्ध मतवादों का सामंजस्य यही हो सकता है कि कर्त्तव्यबुद्धि प्रणोदित न होकर उपस्थित कर्मफल का त्याग ही निर्गुण त्याग है। जिस प्रकार कमल का पत्ता जल में रह कर भी जल में लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जो कर्त्तव्यशुन्य होकर अपनी इन्द्रियों के द्वारा कर्मों को यथोचित रूप से सम्पन्न करता है वह कर्म अथवा कर्मफल में लिप्त नहीं होता। इस प्रकार के त्याग को ही गुणातीत त्याग कहते हैं और यही यथार्थ में सन्यास है। इसी त्याग-सन्यास की महिमा का कीर्तन करते हुये भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं—

'सर्वलोकेष्वपि त्यागी सन्यासी मम दुर्लभः'।

अर्थात् त्यागी सन्यासी सब लोकों में, यहाँ तक कि मेरे निकट भी दुर्लभ है।

कर्म सम्पर्क के त्याग की यह एक सुन्दर मीमांसा है। कर्मत्याग के अतिरिक्त विषय भोग त्याग भी सन्यासी के लिये आवश्यक है। किन्तु उसे भी तो गुणातीत होना चाहिये। शास्त्रविधि को न मान कर कठोर तपस्या में शरीर को नष्ट करने को तामस त्याग, समाज में ख्याति प्राप्ति के हेतु फलाहारी तपस्वो को राजस तथा चित्तशुद्धि के लिये विधिविहित संयम को सात्विक त्याग कहते हैं। किन्तु ये समस्त त्याग गुणमय होने के कारण सन्यासी के लिये अवलम्बनीय नहीं है। सन्यासी का त्याग निर्गुणात्मक होता है। प्रलुब्ध न होकर अनासक्त भाव से इन्द्रिय ग्राह्य विषय भोग करने को गुणातीत त्याग कहते हैं। लंगोटी बाँधने या नंगे बदन बृक्ष के नीचे अवस्थान करने को त्याग नहीं कहते। लंगोटी के प्रति आसक्ति किन्तु पूजावस्त्र से विरक्त, कुटिर से आसक्ति किन्तु महल से विरक्त, शाक से आसक्ति किन्तु मिठाई से विरक्त, कम्बल के प्रति आसक्ति किन्तु गद्दा से विरक्त होना निर्गुण त्याग के लक्षण नहीं होते। आसक्ति अथवा विरक्ति भाव को त्याग कर इन्द्रियों के द्वारा यथा-योग्य विषय भोग करने को ही गुणातीत त्याग कहते हैं। इस प्रकार के निर्गुण त्यागो को ही प्रकृत सन्यासी कहा जा सकता है। यथा—

सदन्ने वा कदन्ने वा लोष्ट्रे वा कांचनेऽपि वा।
समबुद्धिर्यस्य शश्वत् स सन्यासी च कीर्तितः॥

जिनको उत्कृष्ट भोजन अथवा निकृष्ट भोजन में, मिट्टी और सोने में, समान बुद्धि उत्पन्न हो गया हो, वह यथार्थ में सन्यासी है। तो फिर त्याग का अर्थ क्या है? शिवावतार शंकराचार्य ने कहा है—

'त्यागोऽसौ किमस्ति ?—आसक्तिपरिहारः।'

—मणिरत्नमाला

आसक्ति के परित्याग को ही त्याग कहते हैं। ज्ञान गरिष्ठ ऋषिश्रेष्ठ वशिष्ठदेव ने भी कहा है—

यत्त्यक्तं मनसा तावत् तत्त्यक्तं विद्धि राघव।
मनसा संपरित्यज्य सेव्यमानः सुखावहः॥

—योगवाशिष्ठ

जिस बस्तु को हम मन से त्याग कर सकें वही वास्तव में त्याग होता है। मात्र वाह्य त्याग, सम्पूर्ण नहीं हुआ करता। हमें मन से विषय का परित्याग कर संकल्प विकल्प वर्जित होकर सुखी होना है।

अतएव जिसने मन से विषय की आसक्ति का त्याग किया हो, वही यथार्थ सन्यासी है। कुछ ऐसे भी हैं जो अपनी सारी वस्तुओं को त्याग देते हैं किन्तु अपना त्याग नहीं कर पाते। अतः सर्वोत्तम सन्यासी वही है जो समस्त कामनाओं को त्याग कर अन्त में शरणागत तथा भक्ति को संवल मान कर अपने को परमेश्वर के चरणों में समर्पण कर दिया हो। जब हमारा 'हम' ब्रह्मस्वरूप अथवा भगवान की सत्ता में डुब जायेगा, जब हमारे अपने अस्तित्व

की स्वतंत्रता जातो रहेगी फिर जाकर त्यागी बनना संभव होगा अथवा वैरागी—प्रकृत सन्यासी हम हो सकते हैं।

अब तक की आलोचना से यही प्रमाणित हुआ कि जो कर्त्तव्य-बुद्धि शुन्य होकर उपस्थित कर्मों को करता है तथा निर्लोभ, अनासक्त बन कर भोग करता है वही, निर्गुण त्यागी है। इस तरह के सम्यक त्याग को ही प्रकृत सन्यास कहते हैं। भगवान निर्गुण हैं अर्थात् उसमें गुण का अभाव नहीं रहता वल्कि वह गुणातोत है। अर्थात् वह गुण में लिप्त न होकर गुणों के द्वारा कर्म करता है। न वह कर्म से विरक्त होता है और न आसक्त ही। इस प्रकार का 'न्यास' ही प्रकृत 'सन्यास' शब्द कहलाने के योग्य है। गृहस्थाश्रम में रह कर भी मुमुक्ष व्यक्ति सन्यासी बन सकता है। इसीलिये जनक, अम्वरीष जैसे गृही को भी सन्यासी आख्या दी गई है। जो कौपीन-करंगा की माया को छोड़ न सकता हो, वह सन्यासाश्रम के होते हुये भी गृहस्थों से भी अधम है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति निर्लिप्त होकर, संसार में रह सके तो वह निश्चित ही सन्यासी तथा मुक्ति लाभ का अधिकारी है, चाहे वह किसी भी आश्रम का क्यों न हो। निर्लिप्त गृहस्थ और प्रकृत सन्यासी का स्थान एक जैसा है। उनमें व्यवहारिक तारतम्य रहते हुये भी परमार्थ के दृष्टिकोण से उनमें कोई अन्तर नहीं होता। हमने पुराण के हरिहर मूर्ति से यह शिक्षा पायी है।

———

हरिहर मूर्ति

यहाँ हर शब्द श्मशान निवासी शिव तथा हरि वैकुंठ-विहारी विष्णु का द्योतक है। प्रत्येक हिन्दु जानता है कि हरि तथा हर अभिन्न हैं। जो इनमें भेद की कल्पना करता है, वह नरक का वासी है। यथा—

गंगादुर्गा हरीशानां भेदकृन्नारकी तथा।

—वृहद्धर्मपूराण

हरि तथा ईशान में यदि कोई भेद बुद्धि करता है तो उसे निम्नगामी होना पड़ता है। अतः वे एक हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु वस्तुतः उनमें आकाश पाताल जैसा भेद है। एक हैं सर्वत्यागी श्मशान वासी जो खप्पर मात्र संवल लेकर विरूप वेश बना कर घूमता फिर रहा है तो दूसरे हैं मणिमुक्ताखचित नृत्यगीत परिपूरित वैकुंठ-विहारी, जिनके बगल में अवस्थित हैं अनुपमा सुन्दरी नारी। अतः यह हरि हुये भोगी विलासी, गृहवासी। स्थूल रूप से उनके बीच अन्तर दीखाई पड़ने पर भी मूलतः इनमें कोई अन्तर नहीं है। यह सत्य है कि शिव सन्यासी हैं किन्तु क्या आपने लक्ष किया कि उनके गोद में कौन हैं? वह विश्वविमोहनी रमणी कौन हैं? वे हैं, जीवजगतरूपा विश्वरूपीणी प्रकृति। शिव सन्यासी बन कर अहं तथा अहंत्व की संकीर्णता से परे जा तो सके हैं किन्तु जगत संसार को उन्होंने अपनी गोद में समेट रखा है। उन्होंने दूसरों के लिये अपने स्वार्थकी वलि दी है—उनका

अपना कुछ भी नहीं है। किन्तु वे प्रत्येक भूत के हितसाधन में रत हैं—इसी लिये तो उन्हें भूतनाथ कहा गया है। तब तो शिव सन्यासी होकर भी संसार में लिप्त हुये। एक अन्य हरि को हम गोकुलविहारी के रूप में पाते हैं। वे गोकुल में गोपगोपी के प्रेम में मत्त हैं। राधा के प्रेम में विह्वल हैं। राधा की सामान्य अवहेलना के कारण वे राधाकुंड में प्राणत्याग देने के लिये उद्यत दीखाई पड़ते हैं। सब यही समझते थे कि श्रीकृष्ण का जीवन राधा के लिये ही है। राधा से क्षणभर का विरह उनके प्राण ले लेने के लिये यथेष्ट था। किन्तु ऐसा कहाँ हुआ? मथुरा का हाल सुनते ही, अक्रूर के साथ वे उसी क्षण मथुरा के लिये चल पड़े। यहा तक कि उन्होंने राधा से विदाई तक लेने का प्रयोजन नहों समझा। श्रीकृष्ण के मथुरा जाने का संवाद मिलते ही सखीयों के साथ राधा ने बीच पथ पर रथ के चक्के के नीचे अपनी छाती बिछा दी और कहा—"तुम्हें यदि मथूरा जाना ही है तो मेरे हृदय को अपने रथ के चक्के से कुचल कर तब तुम जाओं"। किन्तु श्रीकृस्ण ने प्रेमोन्माद गोपरमणीयों की मर्म-भेदी कातरता की परवाह नहीं की और मथूरा चल दियें। राम अवतार में प्राणों से प्रिय जानकी को बिना किसी अपराध के केवल राजा के कर्त्तब्य के कारण, बनवास दिया। इससे यही पता चला कि वे चाहें कितना भी स्त्री, पूत्र, विषय विभव के बीच क्यों न रहें, कर्त्तव्य की अवहेलना उन्होंने नहीं की। अपने सुख में अंधा बन कर, वे जीव के दुःखदर्द को भूला नहीं बैठते। अपने स्वार्थ

के लिये वे परार्थ को नहीं रौंदते। अपना हित करते समय वे जगत-हित को कभी नहीं भूलते। अतएव हरि गृहस्थ होते हुये भी निर्लिप्त हैं। इसीलिये हर सन्यासी होकर भी लिप्त और हरि गृहस्थ होकर भी निर्लिप्त हैं। इस प्रकार लिप्तसन्यासी या निर्लिप्त गृहस्थ—बात एकही है। अतः हरि और हर अभेद हैं। फिर गृहस्थ के आदर्श हैं हरि और सन्यासी के आदर्श हैं हर। अतएव जो गृही हरि के आदर्श पर जीवन गठन करता है अथवा जो सन्यासी हर के आदर्श पर अपना जीवन गठन करता है—दोनों बराबर हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं होता। वल्कि हरि के आदर्श पर चलता हुआ गृहस्थ, हर के आदर्श पर न चलता हुये सन्यासी से श्रेष्ठ है। यह कहना निरर्थक होगा कि हर के आदर्श पर चलता हुआ सन्यासी का जीवन सब प्रकार से गृहस्थ जीवन से श्रेष्ठ है। यही कारण है कि प्राचीन काल में ब्राह्मण और क्षत्रिय ब्रह्मविद्या में समान पारदर्शी होते हुये भी, विलासी राजा, त्यागी ब्राह्मण के समक्ष करबद्ध रहा करते थे। उसी लिये तो राजा जनक अनेक ब्राह्मणों के शिक्षादाता गुरु होते हुये भी उनके समक्ष शिष्य जैसा बर्ताव करते थे। अतः हरिहर अभिन्न होते हुये भी हर को ही 'जगतगुरु' के पद से अभिसिक्त किया गया है।

अतएव गृहस्थ हो या सन्यासी, जो अपने स्वरूप में अवस्थान करता हुआ निर्लिप्तभाव से कर्मानुष्ठान करता है अथवा अनासक्त होकर विषयभोग करता हुआ जगत के हित साधन में अपना जीवन उत्सर्ग करता है—वही श्रेष्ठ है। इस प्रकार गृहस्थ अथवा

सन्यासी, दोनों में कोई भद नहीं रह जाता। इसीलिये तो गृही व्यासदेव तथा सन्यासी शंकराचार्य को एक ही स्थान मिला है। अतः असन, बसन, संयम, स्वेच्छाचार, कौपिन, कंथा, दंड कमंडलु, भभूत त्रिपुंड, तिलक अथवा देश पर्यटन से कोई सन्यासी नहीं बन जाता। मैं फिर से दुबारा याद दिलाता हूँ कि चाहे आप किसी भी आश्रम भूक्त क्यों न हों, यदि अहं की संकीर्णता को सारे विश्व में प्रसार कर समबुद्धि तथा समदृष्टि संपन्न होकर जगत हित को संवल बना सके हों, यदि दूसरों को अमृत बाँट कर अपने लिये कालकूट संचित रख सकें हों, अथवा लोगों के गले में मणिहार पहना कर स्वयं साँप को माला बना कर आनन्द से हँसने हँसाने नाचने गाने की शिक्षा आपको मिली हो—तो आप प्रकृत सन्यासी हैं। ऐसे ही सन्यासी के निकट जगत गलवस्त्र होकर दंडवत करता है—प्रणाम करता है।

———

आचार्य शंकर तथा गौरांगदेव

जो व्यक्ति शंकराचार्य अथवा गौरांगदेव की तरह सन्यासी बन सका है, जिसके ज्ञान भक्ति की मन्दाकिनी, अहम् रूपी गोमुख के मुख को विदीर्ण करता हुआ संसार रूपी शिवजटा के जटिल जटजाल को पार करता हुआ पृथ्वी को प्लावित कर बह चले और जिसके उच्छास की गति नास्तिक पाषंड रूपी मतवाले हाथी को

भी तृण की तरह बहा देने में बाध्य करे, यदि सन्यास के त्याग-मंन्त्र से समुद्धुत पुण्यमय आनन्दप्रवाह में तैरते हुये आत्महारा की तरह वह चल सके, तब जाकर जीवन को सार्थक समझना चाहिये। इस प्रकार के सार्थक मानव जीवन के लिये दो पथ निर्दिष्ट किये गये हैं—एक ज्ञान का और दूसरा भक्ति का। जो लोग ज्ञान को केवल ज्ञानपथ और भक्ति को केवल भक्तिपथ समझते हैं, वे भ्रान्त हैं। ज्ञान पथ पर भी कर्म, ज्ञान तथा भक्ति का समन्वय चाहिये और भक्ति पथ पर भी कर्म, ज्ञान, तथा भक्ति का समन्वय चाहिये। अतः दोनों पथ पर चलने का उपाय एक है किन्तु रास्ता अलग। ज्ञान मार्ग का नाम विश्लेषण-पथ तथा भक्ति मार्ग का नाम संश्लेषण पथ है। कार्य को पकड़ कर कारण तक पहुँचने को विश्लेषण-विचार तथा कारण तक पहुँच कर कार्य रहस्य को समझने का नाम संश्लेषण-विचार कहते हैं। जो जड़ जगत को पकड़ कर 'नेती नेती' करते हुये स्थूल तथा सूक्ष्म को अतिक्रम करता हुआ ब्रह्मानन्द में विश्राम करता है—वह ज्ञान-मार्गी कहलाता है। किन्तु जो ब्रह्म को जान लेने के पश्चात जीव जगत को उनका विकाश मान कर लीला के आनन्द में विश्राम करे—वह भक्तिमार्गी कहलाता है।

भगवान शंकराचार्य ने आकर सच्चिदानन्द भगवान के जिस स्वरूप लक्षण का वर्णन साधारण लोगों के लिये व्यक्त किये हैं, उसके विशाल गोद में सब प्रकार के अधिकारीयों को आश्रय मिला हैं और इसके लिये सब उनके कृतार्थ हैं। मानव को एक नई ज्योति

मिली है उनसे, जिसके माध्यम से संसार के अति सूक्ष्यतम आवरण के अन्तराल को भी वह देख सका है और मर्त्यलोक में ही अमरत्व को लाभ कर वह धन्य हो सका है। किन्तु आचार्यदेव ने ब्रह्मस्वरूप लाभ करने का जो पंथ दिखलाया है, वह विश्लेषण का पथ है—ज्ञान मार्ग है और भगवान गौरांगदेव ने उसको लाभ करने का जो रास्ता दर्शाया है, वह संश्लेषण का पथ है—भक्ति-मार्ग है। इसी लिये शंकराचार्य को ज्ञानावतार तथा गौरांगदेव को भक्तावतार कहा जाता है।

ज्ञानी अथवा भक्त को ज्ञानमार्ग वाला अथवा भक्तिमार्ग वाला नहीं कहा जाता। ज्ञानमार्ग में भी भक्त तथा ज्ञानी होते हैं; भक्तिमार्ग में भी ज्ञानी तथा भक्त होते हैं। किन्तु अल्प बुद्धि वाले और कट्टर सांप्रदायिक व्यक्तिगण, इस अध्यात्म सत्य को उपलब्ध न कर, अपने विद्वेष जनित बुद्धि के द्वारा भ्रान्त होकर बृथा कोलाहल करते रहते हैं। कौन बड़ा है—ज्ञानपथ या भक्तिपथ, उसी विचार में बृथा बात-बितंडा करने में अपना समय बीताते हैं। 'जितने मतवाद हैं, उतने ही पथ भी हैं'—केवल रूचि तथा प्रकृति के अनुसार जिसको जिस पथ का अधिकार है, उसको उसी पथ पर चलना चाहिये। यदि कोई भीखारी जिसे दूसरों के कृपा-अन्न पर जीना है, केवल इस तर्क में अपना समय बीता दे कि बर्धमान के राजा बड़े हैं या मुर्शिदावाद के नवाब, तो उसकी भूख कैसे मिटेगीं भला? भिक्षुक के लिये यही श्रेय है कि वह तर्क छोड़ कर, भीख के लिये निकल पड़े। उसी प्रकार धर्म में छोटे बड़े का

भेद-भाव छोड़ कर अपने अधिकारानुसार धर्मकर्म करना ही बुद्धिमानी है। जिस प्रकार नदी के किनारे पर रहने वाले नदी तक पहुँचने के लिये अपनी सुविधानुसार रास्ता निकाल लेते हैं, उसी प्रकार मनुष्य जन्मान्तर के संचित गुणकर्मानुसार जैसा अधिकारी बन सका हो, वहीं से उसे आगे बढ़ना है। अन्य पथ उसके लिये भयानक सिद्ध होगा। अतः दूसरों के पंथ की आलोचना करना विड़म्वना मात्र है। जो अवतार को छोटा बड़ा बनाता है, वह धर्मद्रोही तथा नरका का अधिकारी है। चुँकि इसाई अवतारबाद को नहीं समझते इसलिये वे शंकर अथवा गौरांग के महत्व को समझे बिना ही उनकी निन्दा किया करते हैं। किन्तु जिस हिन्दु साधक ने भी अवतार तत्व को समझ लिया है, वे महम्मद या ईशा को नमस्कार करते हैं। जैसा कि मैं कह रहा था कि आसाम के लोगों को भगवान शंकराचार्य के मतवाद को समझने का सुयोग नहीं मिला था। किन्तु गौरांगदेव को लीलाभूमि होने के कारण, वहाँ के अधिकांश लोग उन्हीं के भक्त बने हैं। किन्तु वे केवल संस्कारवश भक्त बने हैं, अल्प लोगों को ही उनकी महिमा का ज्ञान है। इस तरह रूढ़ियों की चश्मा लगाये हुये आखों को मूँद कर वे अपनी प्रधानता को दर्शाने के लिये दूसरों की निन्दा किया करते हैं। दूसरों के धर्म की निन्दा से अपने ही धर्म की गौरव-हानि होती है यदि कोई इतनी सी बात न समझ सके तो वे कृपा के पात्र है।

एक अवतार दयालु हैं और दूसरे नहीं, क्या यह संभव है ?

एक ही भगवान भिन्न भिन्न समय पर जीव के अभाव की पूर्ति के लिये अनेकों रूप ले कर अवतीर्ण होते हैं। अवतार शब्द ही दया से द्रवीभूत है। यदि जीव के प्रति उनकी दया नहीं होती तो वे अपना स्वरूप छोड़ कर जीव भाव का अवलम्वन क्यों लेते। मुझे आज भी पता नहीं कि कौन से अवतार अप्रेमिक हैं? जिस बुद्ध ने राज-ऐश्वर्य, पतिब्रता स्त्रो, शिशुपुत्र का परित्याग किया जीव के दुःख को दूर करने के लिये, क्या वे 'अप्रेमिक' हैं? जिन्होंने राजा विम्विसार से अपने जीवन के बदले चन्द छाग शिशुओं के की जीवन भिक्षा माँगी, क्या वे अप्रेमिक थे। जिस ईशा ने पवित्र क्रास पर फाँसी जाते हुये भी अत्याचारीयों के लिये ईश्वर के दया की भीख माँगी—क्या वे अप्रेमी हैं? शंकराचार्य ने भी तो प्रेम का ही बीज बोया है। क्या पापी-पुण्यवान, ब्राह्मण-चांडाल, अथवा कीट पतंग को बराबर समझ कर प्रेम करना कोई मामूलीसी बात है? क्या जवरदस्ती पकड़ कर प्रेम करवाना कभी संभव होता है? किन्तु 'मैं' 'अपने' से प्रेम करता हुँ—इसको समझने के लिये बुद्धि लगाने को जरुरत नहीं पड़ती। शंकराचार्य के मतवाद का मूल मंत्र है—कीट से लेकर ब्रह्म तक सब कुछ में उसी 'मैं' का ही विकाश है। अतः मैं के स्वरूप की उपलब्धि होते ही अपने से प्रेम करना पीछे चलकर विश्वप्रेम में रूपान्तरित हो जाता है। कुछ लोगों का ख्याल है कि शंकराचार्य भक्ति के ज्ञाता नहीं थे। यदि कोई उनके विवेक-चुड़ामणि ग्रंथ में मुक्ति साधन के उपायों में "भक्तिरेव गरियसी" के भक्ति की प्रधानता को जान कर

भी यह कहे कि वे भक्ति तत्व को नहीं समझते थे तो इसमें उस व्यक्ति की मूर्खता तथा निर्लज्यता ही प्रकाश पायेगी। एक श्रेणी के देशद्रोही और भी हैं जो भगवान गौरांगदेव को "शची फूफो का बेटा" कह कर अहंकार की चाल से नाक भौं सिंकोड़ते फिरते हैं। किन्तु पाश्चात्य देश के प्रधान पंडित Max Mullar कहते हैं— "जिस देश में गौरांगदेव जैसा महापुरुष जन्मा हो वह देश अथवा जाति कभी भी हीन नहीं बन सकता और यदि ऐसा होता तो ऐसे महापुरुष उस देश में पैदा ही नहीं होते।" जिनके आविर्भाव से पतित देश तथा पतित जाति का कलंक मिट कर गौरव लाभ हो, यदि उनके प्रति हम अपनी श्रद्धा न दिखायें तो वैसे म्लेच्छ के दासत्व में जीविका निर्वाह करने वाले घृण्य जीव के जीवन का उपाय क्या होगा? ऐसा कब होगा कि बंगाल के निवासी, भक्ति विनम्रता के साथ श्रीगौरांगदेव के श्रीचरणों पर अपना प्रेम-पुष्पांजली प्रदान करेंगें; गौरांगदेव तो हमारी जातिय सम्पद हैं, हमारे गृह के अलंकार हैं। वंगाल के निवासी जबतक श्रीगौरांगदेव को आदर करना नहीं सीखते, तबतक इस जाति की उन्नति, 'दूर अस्त'। अभी ५०० वर्ष भी नहीं बीते हैं। आज भी बंगाल के गाँव की धूल में उनके पदरेणु मिश्रित पड़े हैं। वंगाल की मिट्टी पर लोटपोट करने से भी हमें उनकी करुणा प्राप्त करने की आशा है।

अवतार तो भगवान का ही होता है इसलिये मूलतः अवतार एक होते हैं। यह धारणा सरासर भ्रान्त है कि एक अवतार

अन्य अवतार के मतवाद को नष्ट कर अपना मतवाद फैलाते है। मैं तो बस इतना जानता हूँ कि एक अवतार के मतवाद को अन्य अवतार पुष्ट करते मात्र हैं। किन्तु समाज के संस्कार को नष्ट करने के लिये अवतार, अपने पहले अवतार के मदबादों का खंडन करके नये संस्कारों का संस्कृत रूप बना देते हैं। इसी लिये बुद्धदेव को कामनामूलक कर्म की असारता को प्रतिपन्न करते समय वेद की निन्दा करते हुये हम पाते हैं। फिर भगवान शंकराचार्य के तिरोधान के पश्चात जब भारतवर्ष, ज्ञान के निरस शब्दों से भर उठा, नाम के लिये ब्रह्मविद किन्तु काम में नास्तिकता तथा भोगविलास प्रयुक्त होकर पथभ्रष्ट होने लगा, आत्मसमाधि और आत्मज्ञान के बदले बृथा तर्कजाल से भर उठा—तब गौरांगदेव आविर्भूत हुये और उन्होंने संश्लेषण के पथ को अर्थात् भक्तिमार्ग के द्वार को उद्घाटित किया। उन्हें भी अहंबुद्धि से भरे सोहंज्ञानी के संस्कार को नष्ट करने के लिये आत्म अनात्म विचार-स्वरूप विश्लेषण-मार्ग अर्थात् ज्ञानमार्ग की निन्दा का प्रचार करना पड़ा था। क्या हमारे देशवासी भूल चुके कि गौरांगदेव ने शंकराचार्य के द्वारा प्रतिष्ठित सन्यास-धर्माश्रित भारती संप्रदाय के श्रीमत् केशव भारती से सन्यास ग्रहण किया था। सन्यास लेने के बाद विश्लेषण के पथ से आत्मज्ञान लाभ करने के पश्चात ही उन्होंने संश्लेषण के पथ को ग्रहण किया था और उसी पथ पर हिन्दुसमाज को परिचालित करने का प्रयास भी किया था।

गौरांगदेव के महत्व को प्रचार करते समय कुछ विकट भक्त

ऐसे भी है जो यहाँ तक कहते फिरते हैं कि महामहोपाध्याय वासुदेव सार्वभौम तथा सन्यासी नेता श्रीमत् प्रकाशानन्द सरस्वतीने उनसे विचार में परास्त होकर उनके मतवाद को ग्रहण किया था। वे सब साधक थे और गौरांगदेव अवतार थे। यदि कोई साधक समझ ले कि अवतार आये हैं तो वह बिना किसी विचार के उनके चरणों पर झुक जायेगा। अतएव यदि उनको हम गौरांगदेव का प्रतिद्वन्दी मान लें तो फिर अवतार का महत्व क्या रहा? उससे उनके गौरव में हानि हुई। ऐसे विकट भक्तों से समाज के मंगल का प्रश्न तो उठता ही नहीं, वल्कि समाज का अधिक अमंगल होता है।

विश्लेषण अर्थात्—ज्ञानपथ के साधक ब्रह्मसत्ता में निमग्न हो जाते हैं, लीलानन्द का भोग नहीं कर पाते। फिर संश्लेषण पथ के लोग लीलानन्द में डूवते तो हैं किन्तु स्वरूपानन्द से वंचित रहते हैं। किन्तु जो विश्लेषण पथ पर चलकर संश्लेषण के पथ पर लौट आते हैं, वे वास्तव में सच्चिदानन्द समुद्र में डुब कर आत्मस्वरूप को उपलब्ध करता हुआ लीलानन्द का उपभोग किया करते हैं। एक मात्र उनका जीबन ही सम्पूर्ण होता है। और जो केवल लीलानन्द में मग्न हो जाते हैं, वे नित्यानन्द का स्वाद नहीं पाते—केवल नित्यावस्था के कठोर तथा शुष्क ज्ञान की विज्ञता को प्रकाश करते हैं। फिर जो केवल नित्यानन्द में मत्त हैं, वे अनित्य ज्ञान के लीलानन्द में अपनी अश्रद्धा का प्रकाश करते हैं। किन्तु भगवान जहाँ नित्य अथात् अनन्त है तो उनकी लीला भी अनन्त तथा अनादि है। अतएव जिन्होंने भगवान के

दोनों भाव नित्य और लीला को एक ही साथ उपलब्ध किया हो—केवल वे ही ब्रह्मविद हैं, लीलाशिरोमणि हैं। भक्तिमार्ग तथा ज्ञानमार्ग के किसी एक पथ को अवलम्बन बनाने से सच्चिदानन्द की उपलब्धि नहीं होती। दोनों मार्ग पर अर्थात् ज्ञान-भक्ति के समन्वय मार्ग पर न चलने पर कोई पूर्णानन्द का अधिकारी नहीं बन सकता और इसी कारण वह हृदय को संकीर्णता को भगा कर सार्वभौम उदार भाव को पैदा नहीं कर सकता। अतः वे सम्प्रदाय की संकीर्णता से उपर उठ कर चलने में समर्थ नहीं होते और इसीलिये वे धर्मजगत को कलुषित कर देते हैं। यदि हृदय में ज्ञान-भक्ति का मिलन हो जाये तो फिर उसके लिये कोई विषमता नहीं रहती, कोई विद्वेष नहीं रहता। वह सभी संप्रदायों में घूल जाता है, सब रसों में रस जाता है और सब कुछ में आनन्द पाता है। हनुमान, प्रल्हाद, शुकदेव, जनक आदि जैसे महात्मा ज्ञान-भक्ति के मिलन से कृतकृतार्थ हुये थे। रामप्रसाद, तुलसीदासजी, गुरुनानक आदि महापुरुषों ने भी ज्ञान-भक्ति के मिलन का आस्वादन किया था। शंकराचार्य तथा गौरांगदेव का मिलन ज्ञान-भक्ति का ही समन्वय है।

भगवान रामकृष्ण

परमहंसदेव के जीवन में शंकर तथा गौरांग का अपूर्व मिलन देखने को मिलता है। "आँचल में अद्वैत ज्ञान को बाँध कर चाहे जो करो"--ऐसा कह कर उन्होंने एक ही साँस में धर्मजगत के द्वन्द का

समाधान कर दिया है क्योंकि विश्लेषण अर्थात् ज्ञानपथ पर चल कर अद्वैत तत्व को लाभ करने के बाद फिर संश्लेषण के भक्तिपथ का अवलम्वन लिया जा सकता है। ज्ञान लाभ करने पर साधक समझ पाता है कि एक ही अद्वैत तत्व अनन्त आधार में अनन्त रूप लेकर—अनन्त प्रकार से प्रकाशित होता है। अतएव उस स्थिति में सारे भेदभाव दूर भाग जाते हैं, हिंसा द्वेष भी विदूरित हो जाता है। एक स्थान पर परमहंसदेव ने कहा है—"ज्ञानी, नेती के पथ पर चलकर सीढ़ीयों को पार करता हुआ छत पर पहुँच जाता है किन्तु छत पर पहुँच कर देखता है कि छत की तरह सीढ़ीयाँ भी चुने, सुरखी और ईंट के बने हैं।" भगवान रामकृष्ण ने सब प्रकार के संप्रदायभावों को दूर रख कर उनकी उत्पत्ति के कारण का निर्देश दिया है। उन्होंने इसाई, मुसलमान, हिन्दु, शाक्त या वैष्णव, किसी के भाव को भी नष्ट नहीं किया है। उन्होंने उपदेश दिया है कि सभी धर्मोंको सत्य मान कर निष्ठा के साथ अपने अपने सांप्रदायिक भाव को लेकर साधना करनी चाहिये।

सर्व धर्म समन्वय का तो यह अर्थ नहीं कि सभी भावों को तोड़ मड़ोड़ कर एक कर दिया जाये। स्त्री जाति एक जैसी होते हुये भी किसी को बहन भाव से, किसी को माता भाव से उपलब्ध किया जाता है। उसी प्रकार सभी संप्रदायों के उपास्य एक होने पर भी भावों के तारतम्य का होना अत्यन्त संगत है। जिस भाव को भी शिक्षा के द्वारा साधन किया जाय, वही भाव प्रस्फुटित होता है।

वौद्ध भाव से हम गोपी भाव को उपलब्ध नहीं कर सकते हैं। यह सोच लेना कि मेरा भाव ही सत्य है और दूसरों का असत्य और इस आधार पर दूसरों की कटुक्ति करना अनुचित है। हमें चाहिये कि हम सती नारी की तरह अपने भाव में विभोर रहें। जो जिस रूप में उपासना करता है उसे उसी प्रकार के मनोरथ की सिद्धि मिलती है। रामकृष्णदेव ने कहा है—"भाव अनेक हैं किन्तु मूल एक है। किसी भी सांप्रदायिक भाव को निष्ठा के साथ साधन करने पर हम एक ही सत्य पर उपस्थित होते हैं।" निष्ठा और कुसंस्कार एक नहीं होता। अपना भाव लेकर सती की तरह साधना करना चाहिये। किसी के भाव की निन्दा करना अनुचित है। स्थूल में विभिन्नता तो है किन्तु मूल एक है। यही है सर्वधर्म समन्वय। यही शंकराचार्य तथा गौरांगदेव के पूर्ण मिलन का आदर्श है। आज के इस धर्म विप्लव के काल में भगवान रामकृष्ण के आदर्श का विशेष प्रयोजन है। इस सत्य को सब के प्राणों में अंकित कर सकने के अतिरिक्त दूसरा कोई पथ दीखाई नहीं पड़ता। शंकर और गौरांग का मिलन ही पूर्ण सत्य हैं—प्रकृत धर्म है। अतः साधक मात्र को चाहिये कि वे हृदय मंन्दिर में शंकर और गौरांग को एक ही आधार पर बैठायें। हम उसी को रामकृष्ण का भक्त मानेंगे जो अपने हृदय में एक ही साथ शंकर और गौरांग को बैठाये। गौरांग के बीच शंकर को और रामकृष्ण के बीच शंकर गौरांग को यदि एक आसन पर हम बैठा न पायें तो जगत उन्हें अवतार मानने में कुंठा

प्रकाश करेगा। ऐसा दिन कब आयेगा, कब हम देख पायेंगे कि प्रत्येक साधक के हृदय में शंकर तथा गौरांग अवस्थान करेगा। शंकर और गौरांग अर्थात् ज्ञान और भक्ति के मिलन होने से ही धर्म-जगत का समस्त हिंसा-द्वेष, द्वन्द-कोलाहल दूर भागेगा और प्रेम की अमृतधारा प्रवाहित होगी और हम बिना किसी भेदभाव के उनकी गोद में स्थान पाकर कृतार्थ बनेंगे। भगवान शंकराचार्य तथा गौरांगदेव के मिलन से जगत का सारा भेदभाव दुर हट कर प्रेम-राज्य संस्थापित होगा।

———

जीवन्मुक्ति अवस्था

वे जीवन्मुक्त हैं, जिनके हृदय में शंकर और गौरांग एक सिंहासन पर बैठे हुये हों, जिनके हृदय के भक्ति की गंगा ज्ञानके समुद्र में मिल चुकी हो। इसीलिये शास्त्रकारों ने ज्ञान भक्ति के पूर्ण आदर्श शुकदेव को "शुको मुक्तः" कहा है। तत्वज्ञानी निर्लिप्त गृहस्थ तथा परमहंस सन्यासी जीवन्मुक्त हैं। एक शब्द में कहा जा सकता है कि ब्रह्मबिद व्यक्ति मात्र मुक्त होते हैं। श्रुति ने "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" कह कर ब्रह्माओं की मुक्ति घोषणा की है। किन्तु आधुनिक समाज के लोग ब्रह्मविद् के नाम से आतंकित होते हैं। वे ब्रह्मविद् का अर्थ, स्वेच्छाचारी, समाजद्रोही, देव-गुरु-निन्दक, बेद विरोधी नास्तिक, समझते हैं। यह केवलमात्र अघटन घटन

पटीयसी ही बतला सकती हैं कि जिस देश में शिवस्वरूप ब्रह्मज्ञ शंकराचार्य जैसे लोगों का जन्म हुआ है जिन्होंने ब्रह्मज्ञान प्रचार के द्वारा मुक्ति के द्वार को उद्घाटित किया है, वहाँ ब्रह्मविद् के सम्पर्क में ऐसी भ्रान्त धारणायें प्रचलित हैं। ब्रह्मज्ञ महात्मा के समक्ष, ब्राह्मण या चंडाल, पुरुष या नारी, पापी या धर्मात्मा, जड़ या चैतन्य, अणुपरमाणु, बृक्ष-शिला, कीट पतंग तक सबकुछ ब्रह्म प्रतीत होता है। एक अणु तक उसके लिये आत्मवत प्रतीत होता है और सब कुछ भगवान की तरह भक्ति की बस्तु बन जाती है। साधारण मनुष्य सिवाय अपने इष्टदेवता के अन्य को तुष्ट नहीं कर पाता किन्तु ब्रह्मविद के लिये सब कुछ इष्टदेवता समान प्रतीत होता है। शाक्त कहता है कि शक्ति के बिना अन्य चारा नहीं तो वैष्णव काली नाम सुनते ही कान पर अगुॅलियाँ डालते हैं।किन्तु ब्रह्मज्ञ के लिये काली, विष्णु, शिव सबका आदर बराबर है। साधारण मनुष्य शालग्राम शिला को नारायण मानते हैं किन्तु ब्रह्मज्ञ के लिये सब शिला नारायण का रूप है। साधारण लोग तुलसी वृक्ष को पवित्र ज्ञान करते हैं, किन्तु ब्रह्मज्ञ के लिये बृक्ष मात्र तुलसी है। हम आप गंगा को भी पुण्य नहीं मानते हैं किन्त ब्रह्मविद के समक्ष सभी नदी गंगा समान होता है। अतः जो लोग नारायण शिला को लात मार कर अथवा रमजान चाचा के विशेष चिंढ़ियों का माँस खाकर ब्रह्मज्ञान की पराकाष्ठा का प्रदर्शन करना चाहते हैं, वे किस प्रकार के ब्रह्मविद हैं, उसका ज्ञान ब्यास, वशिष्ठ, जैमिनि, पातंजल के वंशज हिन्दुओं के ज्ञान से परे का विषय है। क्या

भगवान शंकराचार्य ने अपने मठों में शिव, विष्णु, शक्ति आदि की मूर्ति स्थापना तथा गंगा मनसा के भक्ति स्तोत्र की रचना ब्रह्मज्ञानियों को नास्तिकता की शिक्षा देने के लिये, की थी ? हाय विधाता! सब काल का प्रभाव है। समाज की स्वेच्छाचारिता तथा उशृंखलता ही इस सर्वनाश का मूल कारण है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

जिन्होंने तत्वज्ञान को विचारपूर्वक ब्रह्म के मध्य आतमस्वरूप का उपलव्ध किया हो अथवा प्रेमभक्ति की अमृतधारा में बह कर इष्ट चरण में लीन हो गया हो—वही ब्रह्मवित्, वही जिवन्मुक्त हैं। मन वाक्य तथा कर्म जिस ज्ञान के होने से लय हो जाये—वही ब्रह्मज्ञान है। यथा—

एकाकी निःस्पृहः शान्तश्चिन्तानिद्राविवर्जितः।
वालभावस्तथाभावो ब्रह्मज्ञानं तदुच्यते ॥

—ज्ञानसंकलिनी तंत्र

जिस ज्ञान के प्राप्त होने से जीव निःसंग, निःस्पृह, शान्त, चिन्ता तथा निद्रा विबर्जित होता है, तथा बालक जैसा स्वभाव लाभ करता है, उसी को ब्रह्मज्ञान कहते हैं। अतः संयम तथा स्वेच्छाचार ब्रह्मज्ञान के लक्षण नहीं होते। जिनको ब्रह्मज्ञान हुआ हो, वे मांस शरीर के बने होते भी मूक्त होते हैं। अतः उन्हें जीवन्मुक्त कहा जाता है। शास्त्र में जीवन्मुक्त के लक्षण हैं—

वर्त्तमानेऽपि देहेऽस्मिन् छायावदनुवर्तिनि।
अहन्ता ममताऽभावो जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥

जो शरीर में बर्तमान रह कर भी छाया की तरह अनुगमनकारी

हैं तथा उसी शरीर में अहंत्व तथा ममत्वभावशुन्य हैं—वे जीवन्मुक्त हैं।

गुणदोषविशिष्टऽस्मिन् स्वभावेन विलक्षणे।
सर्वत्र समदर्शित्वं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम्॥

गुण तथा दोष युक्त, स्वभावतः परस्पर विभिन्नता से भरे इस संसार में समदर्शिता ही जीवन्मुक्ति के लक्षण हैं।

न प्रत्यग् ब्रह्मणा भेदः कदापि ब्रह्मसर्गयोः।
प्रज्ञया यो विजानाति स जीवन्मुक्तलक्षणः॥

जो अपने विशुद्ध बुद्धि के द्वारा जीव तथा ब्रह्म का भेद और ब्रह्म तथा सृष्टि के भेद से परिचित नहीं हैं—वे जिवन्मुक्त हैं।

इष्टानिष्ठार्थसंप्राप्तौ समदर्शितयात्मनि।
उभयत्राविकारित्वं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम्॥

इष्ट तथा अनिष्ट विषय का ज्ञान रहते हुये भी, समदर्शिता के द्वारा अपने अन्दर इष्ट और अनिष्ट को लेकर विकृतभाव के उत्पन्न न होने वाले को जिवन्मुक्त का लक्षण कहा जाता है। ज्ञानी, परमात्मा-जीवात्मा के शोधित एकभावप्राप्त विकल्पशुन्य चिन्मात्र-वृति को प्रज्ञा कहते हैं। जब यह प्रज्ञा अच्छी तरह प्रतिष्ठित होकर ब्रह्म में स्थित हो जाता है तो उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं। दुःख कष्ट से जिसका मन विषादित नहीं होता और न सुखभोग में। स्पृहा, अनुराग, भय, क्रोध आदि को परित्याग करने में जो समर्थ हुआ हो, वही स्थितप्रज्ञ कहलाते हैं।* जो ब्रह्म में विलीनचित्त

* श्रीमद्भगवद्गीता के द्वीतिय अध्याय का ५६ वाँ श्लोक देखें।

होने के कारण निर्विकार तथा निष्क्रिय रह कर नित्यानन्द सुख का अनुभव करते हों—वही स्थितप्रज्ञ हैं। इस प्रकार जिनकी प्रज्ञा निश्चल तथा जो नित्यानन्द हैं, जो प्रपंचों को स्वप्न की तरह प्रायः भूला चूके हैं, वे ही जीवन्मुक्त हैं।

यस्य स्थिता भवेत् प्रज्ञा यस्यानन्दो निरन्तरः।
प्रपंचो विस्मृतप्रायः स जीवन्मुक्त इष्यते ॥

प्रेम भक्ति के असमोर्ध रसमाधुर्य से जिसका चित्त इष्टदेवता के चरणों में चिरकाल के लिये सन्लग्न हुआ हो, जो अपने अस्तित्व तक प्राणों के देवता के प्रेमरस समूद्र में खो दिया हो, जिसको जीव मात्र इष्टदेवता स्वरूप दीखाई पड़े, जो समझे कि ईश्वर सर्वभूत में प्रविष्ट होकर विराज कर रहा है—ऐसे व्यक्ति को जीवन्मुक्त कहा जा सकता है।*

प्रकृत ब्रह्मगतप्राण जीवन्मुक्त व्यक्ति साधारण मनुष्य से अनेक उच्चस्थिति पर अवस्थान करते हैं। जिस स्तर पर वे अवस्थान करते हैं, वहाँ न रोग है, न शोक है, न भय है, न जरा-मृत्यु-दुःख-दारिद्र का संन्ताप है। चाहे वे साधुओं के द्वारा पूजित होते हों अथवा असाधुओं के द्वारा पीड़ित, दोनों अवस्था में उनका चित्त सम-भावापन्न रहता है। उनसे न लोगों को कोई उद्वेग रहता है और न वे किसी के द्वारा उद्विग्न होते हैं। ऐसा मनुष्य पृथ्वी पर रहते हुये भी ब्रह्मलोक का वासी होता है। रूग्न होते

* जीवः शिवः सर्वमेव भूते भूते व्यवस्थितः।
एवमेवाभिपश्यन् यो जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥

हुये भी वे बलवान तथा स्वस्थ रहते हैं, दरिद्र होते हुये भी महा ऐश्वर्यवान तथा भिखारी होते हुये भो राजचक्रवर्ती होते हैं। वस्तुतः जीवन्मुक्त व्यक्ति साधारण मर्त्तलोक वासी से इतनी मानसिक उँचाई पर निवास करते हैंकि साधारण मनुष्य उस उँचाई को पहचाननेमें अक्षम होने के कारण प्रायः उनकी अवज्ञा करते हैं। साक्षात अथवा परोक्ष में वे उनकी निन्दा करते हैं और नाना प्रकार से उन्हें उत्पीड़न करते रहते हैं, किन्तु फिर भी वे, उन्हें उत्तेजित करने में समर्थ नहीं होते। जिसके हाथ में शान्ति का तलवार हो, उसे दूर्वल व्यक्ति क्या कर सकता है ! वे हाथ में लिये शान्तिरूपी महाखड्ग के द्वारा उनके सभी आक्रमण को व्यर्थ कर डालते हैं। अज्ञानी भले उनकी महत्ता को समझ न पाये, किन्तु स्वर्ग के देवता भी उनकी पूजा किया करते हैं। यथा—

ते वै सत्पुरुषा धन्या वन्द्यास्ते भुवनत्रये।

—वेदान्तरत्नावली

जो जीवन्मुक्त पुरुष अति मात्रा में अपमानित होने पर भी कटु वाक्य का प्रयोग नहीं करते तथा अतिमात्रा में प्रशंसा पाने पर भी प्रिय वाक्य नहीं कहते, जो आहत होते पर भी धैर्यच्युत होकर प्रतिघात नहीं करते तथा हन्ता की अमंगल कामना तक नहीं करते, उससे बढ़ कर पुज्य त्रिलोक में कौन हो सकता है ? उनके इस महत भाव को उपलब्ध करने में अक्षम होकर हम उनके बाहरी भाव को देख कर उनके प्रति बिपरित धारणा का पोषण करते हैं। जिवन्मुक्त व्यक्ति आतमवित अव्यक्तचिह्न तथा वाह्यविषयासक्ति वर्जित

होते हैं। वे दिव्य रथरूपी इस शरीर को अवलम्बन बना कर बच्चों कि तरह दूसरों की ईच्छा से उपस्थित विषय का भोग करते हैं। उनकी चिन्ताहीनता, दीनता प्रकाश न करना, भिक्षान्न भोजन, नदी के जल से तृष्णा का निबारन, स्वेच्छा से तथा अनिवार्य कारण से अवस्थान, बिना किसी भय के श्मशान, जंगल आदि में भ्रमण, प्रक्षालन तथा शोषण शुन्य, दिग्-वसन, भूमि जिसका बिछाबन तथा वेदान्तमार्ग में जिनकी गतिविधि और परब्रह्म में रमण, जीवन्मुक्त के लक्षण हैं। फिर—

दिगम्वरो वापि च साम्वरो वा त्वगम्वरो वापि चिदम्वरस्थः।
उन्मत्तवद्वापि च बालकवद्वा पिशाचवद्वापि चरत्यवन्याम् ॥

—विवेकचूड़ामणि, ५४८

जो जीवन्मुक्त होता है वह कभी नंगा तो कभी वसनयुक्त, कभी वल्कल तथा चर्मवस्त्र धारण करता है तो कभी केवल ज्ञान परिधान करता है, कभी पागल जैसा तो कभी वालक जैसा भोला और कभी पिशाच जैसा घुमता रहता है।

क्वचिन्मूढ़ो विद्वान् क्वचिदपि महाराजविभवः
क्वचिद्भ्रातः सौम्यः क्वचिदजगराचारकलितः।
क्वचित् पात्रीभूतः क्वचिदवमतः क्वाप्यविदित-
श्चरत्येवं प्राज्ञः सततपरमानन्दसुखितः॥

—विवेकचूड़ामणि, ५४४

नित्य में परमानन्द आनन्दित जीवन्मुक्त व्यक्ति कहीं मूर्ख की तरह, कहीं पंडित की तरह, कहीं राजा की तरह, कभी अजगर धर्मावलम्वी,

कहीं दानी, कहीं अपमानित सा, कहीं अपरिचित सा भ्रमण करते रहते हैं। अतएव अल्पवुद्धि के लोग उन्हें समझ न पाकर अपनी शिक्षानुसार उनके प्रति कटुक्ति करते रहते हैं। कभी साधु के सौभाग्य तथा सन्मान से ईर्षान्वित होकर ऐसे महापुरुषों को बदनाम करते हैं किन्तु उन्हें इसका ज्ञान नहीं रहता कि ऐसे महापुरुषों की कृपा देवता भी कामना करते हैं।

जिवन्मुक्त व्यक्ति विदेहकैवल्य अर्थात् देहान्त के पश्चात् निर्वाण मुक्ति लाभ करते है। मुमुक्षु व्यक्ति मृत्युशय्या से निकल कर क्रमशः अपने स्वरूप में लीन होकर निर्वाण लाभ करते हैं और भक्त अर्थात् सगुण ब्रह्मोपासक देहान्त के पश्चात ईश्वर लोक में बास करते हैं। फिर कालान्त होने पर निर्वाण मुक्ति लाभ करते हैं। किन्तु ब्रह्मविद पुरुष का सूक्ष्म तथा कारण शरीर विनष्ट हो जाने के कारण, रक्त मांस का देह रहने पर भी वे आत्मस्वरूप में अवस्थान करते हैं। अतएव स्थूल शरीर नाश के साथ अन्य देह न रहने के कारण, उनकी उत्क्रान्ति नहीं होती, वे तत्काल निर्वाण लाभ करते हैं। इसलिये ब्रह्मनिष्ठ मनुष्य के शरीर त्याग के पश्चात उनकी मुक्ति हो जाती है। उनकी मुक्ति उनके जिवित काल में ही सम्पूर्ण हो जाता है। शरीर धारी होने पर भी वे निर्वाण सुखभोग किया करते हैं। ब्रह्म ज्ञान लाभ करने के बाद, जीवन्मुक्ति होने पर भ्रमजनित अज्ञान की निबृत्ति हो जाती है। अज्ञान के निवृत्ति होते ही माया, ममता, सुख, दुःख, शोक, भय, मान, अभिमान क्रोध, हिंसा, द्वेष, मद, मोह तथा मात्सर्य इत्यादि

अन्तःकरण की समस्त बृत्तियों निरुद्ध हो जाती हैं। केवल मात्र विशुद्ध चैतन्य स्फुरित होता है। चैतन्य स्फूर्ति के प्राप्ति को जीवित अवस्था में जीवन्मूक्ति तथा अन्त में निर्वाण कहते हैं।

जब साधक अपने हृदय का योग यथार्थ में परमात्मा के साथ कर पाता है, तो उसे अमरत्व प्राप्त होता है अर्थात् अपने को स्पष्ट रूप से वह अमर समझ पाता है। फिर वह मृत्यु को आसन्न देख भी चिन्तित नहीं होता अथवा दीर्घ जोवन मिलने पर भी वह आनन्द प्रकाश नहीं करता। अथात् वे आसन्न मृत्यु और दीर्घ जीवन को समदृष्टि से देखा करते हैं। वे मृत्युभय को तुच्छ ज्ञान कर, प्रेम में मत्त होकर गदगद स्वरों में प्राणेश्वर की महिमा का कीर्तन करते फेरते हैं। वे काल को अगुँठा दिखला कर राम-प्रसाद के स्वरों में गाते रहते हैं—

अरी मृत्यु ! मैं तो तुम्हारा आसामी नहीं हुँ,
फिर मेरे पिछे क्यों भाग रहे हो ?

और कहते हैं—'जाकर पूछो यमराज से कि मेरी तरह कितनों को उसने अपनी गोद में ले लिया है।'—ऐसा कह लाल आँखें दिखाते हुये वे यमराज को भगा देते है। वस्तुतः साधक जब अपने इष्टदेवता की चरणों में अपने को चिरकाल के लिये बेच कर नित्य आनन्द का अधिकारी बन जाता है तो उसे स्पष्ट दीखाई पड़ता है कि उसका वह प्रेम तथा आनन्द अनन्त काल व्यापी है। उसका त्तय किसी काल में होने वाला नहीं है। इस जगत में जीबितावस्था में उन्हेंने जिस आनन्द तथा प्रेम का संभोग

किया है, देहान्त के पश्चात भी वे अपने लोगों के साथ उसी प्रेम और आनन्द का संभोग करते है। अतः उनके लिये मृत्यु, प्राकृत मृत्यु नहीं होती अर्थात् मृत्यु उनके इहकाल तथा परकाल के बीच, बाधक नहीं बनती। यही जीवन, साधक के लिये कहलाता है—अमर जीवन, अनन्त जीवन अथवा सत्य जीवन। इसी सत्य जीवन लाभ को जीवन्मुक्त अवस्था कहते हैं। फिर यहाँ जो जीवन्मुक्त है परलोक में वही निर्वाणमुक्ति को लाभ करता है।

———

उपसंहार

अस्तु, ग्रन्थकार का निवेदन है कि पाठकवृन्द, परलोक में परमागति प्राप्त करने को निश्चिन्तता में अपना समय नष्ट न करें। हमें साधना के द्वारा जीवन्मुक्त होने की चेष्टा करनी चाहिये। जितने साधन हैं, उनमें मुक्ति का साधन प्रधान है, क्योंकि वह मानव के पुरुषार्थ का द्योतक है और वही है मानव जीवन का चरम लक्ष। अतः मैं आपमें से प्रत्येक को मुक्ति लाभके लिये प्रयत्न करने का सनिर्वन्ध अनुरोध करता हुँ। दुर्भाग्यवश जो मुक्ति के पथ से दूर हैं, उनको शास्त्रकारों ने मनुष्यगर्भजात गधा कहा है। यथा—

जातस्त एव जगति जन्तवः साधु-जीविताः।
जे पुनर्नेह जायन्ते शेषा जठरगर्द्धभाः॥

—योगवाशिष्ठ

हे पाठक ! सच्चिदानन्दविग्रह स्वरूप मेरे गुरु ने जिस कठिन भार को मेरे कंधों पर डाला था, आज ५ वर्ष के बाद, वह भार के उतर जाने के कारण मैं जी भर साँस ले सका हुँ। उन्होंने मुझे समन्वय तथा सामंजस्य के साथ शास्त्रों का अर्थ प्रकाश तथा साधन पंथ को प्रकट कर, ग्रंथ के रूप में प्रचार करने के लिये कहा था। यद्यपि उनके सेवकों में मैं विद्या तथा बुद्धि में सबसे निकृष्ट था, तथापि उनके आशिर्वाद से जैसा ज्ञान तथा शक्ति उन्होंने हमें दी थी तदानुसार मैं नें समस्त हिन्दु शास्त्रों को चित्तशुद्धि, ज्ञान, कर्म, योग तथा भक्ति नामक हिस्सों में विभक्त कर, उनके स्थूल मर्मों को ब्रह्मचर्य साधन, योगीगुरु, ज्ञानीगुरु, तान्त्रिकगुरु तथा प्रेमिकगुरु नामक ग्रंथों में विबृत कर साधारण लोगों के कंधों पर उसे डाल दिया है और डाल कर मैं निश्चिन्त हो गया हुँ। गुरु के आदेश को पालन करने में मैं कहाँतक कृतकार्य हो सका हुँ इसका उत्तर वही दे सकेंगे।

आज विषम काल उपस्थित हुआ है। हिन्दु समाज उपयुक्त नेता के अभाव में उशृंखल तथा सेच्छाचारी बन रहा है। लोग उल्टें पथ पर चल रहे हैं। समाज के अधिकांश लोग विपथगामी हो पड़े हैं किन्तु अपने को सभी शास्त्रवेत्ता, धर्मवक्ता और उपदेष्टा कहते फिरते हैं। वे अपने शिक्षा दीक्षा के आधार पर बने संस्कार के अनुसार शास्त्र की व्याख्या तथा धर्मशिक्षा दे रहे हैं। ऐसा करके वे अपने को प्रतारित कर रहे हैं और साथ ही औरों को भी विपथगामी बना रहे हैं। उनमें से कुछ तो अविद्या

अभिमान से उन्मत्त होकर आत्मदर्शी तथा सत्य-मर्मज्ञ ऋषियों को भी भ्रान्त बतला कर अपने कृतित्व की बड़ाई कर रहे हैं। कुछ ऐसे हैं जो शास्त्र के कुछ अंश को प्रक्षिप्त, कुछ को अतिरंजित तथा दूसरे अंश को मिथ्या कह कर उसे शास्त्रवहिर्भूत दर्शा कर, अपनी सुविधानुसार शास्त्र को खंडित बना कर धर्मप्रचारक बनते फिर रहे हैं। दूसरे हैं जो पुराण-तन्त्रों को बच्चों की कहानी कह कर स्वयं ब्रह्मविद वैदान्तिक बने बैठे हैं। वे कहीं तो शास्त्रों की आधुनिक व्याख्या देते फिरते हैं और कहीं उसे स्वार्थी ब्राह्मणों की स्वार्थजनित रचना जता कर अपने अहंकार के प्रदर्शन में व्यस्त हैं। यहाँ तक कि व्याकरण के ताप से पुराण ग्रंथों को पिघला कर कृपावश उसके स्वाद को अलग हटा कर, सत्य को इस कौशल से निकाल लेते हैं कि उस उत्ताप में ऐतिहासिक सत्य तक वाष्प बन कर उड़ जाता है। कुछ गोष्ठी नियम-संयम तथा विधि-निषेधों को कुसंस्कार कह कर, स्वेच्छाचार का प्रश्रय दे रहे हैं। किन्तु वास्तव में वे स्वयं धर्महीन तथा विपथगामी हैं। धर्म के लक्ष को उन्होंने भूला दिया है किन्तु बातें लम्वी करते हैं। वे दर्शन, उपनिषद्, योग, ज्ञान, के अतिरिक्त छोटी बाते करते ही नहीं। उनमें से कोई वेदान्त का मायावादी, कोई बौद्धों का शुन्य-वादी, कोई गीता का कर्मयोगी, कोई उपनिषद का ब्रह्मज्ञानी, कोई तन्त्र का कौलाचारी, कोई उज्ज्वलरसस्वादी, तो कोई अपने को योगसमाधि में मग्न बतलाते हैं।

ये तो रहे शिक्षित नेता, उपदेष्टा तथा उनके चेलाओं की

बात। और जो धर्म के निम्नस्तर को लेकर चलते हैं, वे तो बस तिलक माटी, माला झोला, शङ्कर केला, वाह्य शौचाचार तथा चेतन-चुटकी में ही व्यस्त रहते हैं। वहाँ तीनों प्रहर पूजा-पाठ का आड़म्वर है और उसके साथ है मिथ्या मुकदमा, झूठा साक्षी, दूसरों कि निन्दा, दूसरों की सम्पत्ति को हड़पने की चेष्टा, दूसरों की बहु बेटियों पर बुड़ी नजर। एक दृष्टान्त देखिये—हिन्दु-समाज में ब्रत तथा पावन पर उपवास की विधि है। उप का अर्थ है निकट, वास का अर्थ है रहना अर्थात् भगवान के निकट रहने को ही उपवास कहते हैं। इसके लिये अगले दिन से ही संयम, चित्तशुद्धि तथा पर्व के दिन संयतभाव से भगवत् आराधना तथा ध्यान-धारण में बिताना चाहिये। किन्तु लोग क्या समझते हैं कि झूठ बोल कर, दूसरों की निन्दा में दिन बिता कर, झगड़े लड़ाई में समय काट कर, केवल अनाहार रहते से ही उपवास की सार्थकता पूर्ण हो जाती है। प्रथम श्रेणी के लोग जहाँ ज्ञानगरिष्ठ ऋषियों के द्वारा प्रतिष्ठित सुदृढ़ धर्म के आधार को तोड़ने की चेष्टा कर रहे हैं वहाँ दूसरी गोष्ठी बन्धनों को कस कर, हृदय को शुन्य बनाने में व्यस्त हैं।

हिन्दु समाज में अन्य एक श्रेणी भी उभड़ आई है जो जारज-धर्मावलम्बी हैं। वे पाश्चात्य पंडितों के द्वारा व्याख्यात हिन्दु-शास्त्रों को पढ़ कर मूर्खों की मंडली में पंडित बने फिर रहे हैं। उनके मुहँ में केवल कुसंस्कार तथा मूर्तिपुजा के विरुद्ध आवाज सुनाई पड़ती है। वहाँ केवल धर्मसभा और भाषण का उच्च निनाद

सुनाई पड़ता है। जो गीता के प्रथम श्लोक के अनुबाद करने में ही ५० गलतियाँ करता है, उनके द्वारा समालोचित हिन्दुधर्म को पुस्तक को पढ़ कर कुछ श्रेणी के लोग आज पंडित बन बैठे हैं और गुरु बनते फिर रहे है। आज वे ऋषियों के संस्कृत का संशोधन तथा उनके शास्त्रों का संशोधन करके, श्लोकों को काटकूट कर हिन्दु समाज का निःस्वार्थ उपकार कर रहे है। इसी श्रेणी के लोगों ने हिन्दुधर्म के कल्पवृक्ष से फल फूल पत्तों तथा शाखा-प्रशाखाओं को काट काट कर, उसे प्रायः मृतवत बना दिया है।

इसके अतिरिक्त एक श्रेणो के और लोग है जो स्वयं अथवा भक्तों के द्वारा अपने को अवतार कहलवाते फिरते है ? भगवान गौरांगदेव के बाद से इस देश में अवतारों की भीड़ लग गई है। प्रत्येक जिला में २-४ अवतार अवश्य पाये जाते है। उनमें से २-४ अवतार जेल तथा कालापानी की हवा भो खा चुके है। फिर भी धर्मप्राण सरल लोग झुँड़ बाँध कर अपना नाम अवतारों की गोष्ठी में लिखवा रहे हैं। ऐसे ही लोगों के कारण भारतवर्ष खंड खंड हो रहा है और प्रकृत साधुचरित अवतार हमारो नजरों से दूर होते जा रहे हैं। अवतारों के संशयजाल को तोड़े बिना साधु महात्माओं के त्याग-वैराग्य अथवा ज्ञानभक्ति के आदर्श को साधारण मनुष्य ग्रहण नहीं कर पा रहा है।

अब भला, साधारण मनुष्य करे क्या ? उनके लिये क्या उपाय है ? वह कौन पंथ पर चलेगा ? वह किसको विश्वास करेगा ? इसी कारण मैं कह रहा था कि विषम काल उपस्थित

हुआ है। विषम काल से भय लगता है। किसकी बात पर विश्वास करें ? उस पर जो हमें इधर होशियार करता है कि "गृहस्थ जागो" और उधर कहता है कि "अभी रात बाकी है, उठो मत।" तो अब हमारा कर्त्तव्य क्या है ? हमारा कर्त्तव्य है कि जो मनुष्यता ईश्वर ने हमें दी है, उसका आश्रय लेना क्योंकि उन्होंने हमें इस कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण होने के लिये जो ज्ञान प्रदान किया है, उसी ज्ञान का आश्रय कुछ काल के लिये लेकर तथा विवेक की बात मान कर यदि हम चलें तो हमें मुहको खानी नहीं पड़ेगी। हमारे शरीर रूपी रथ के विवेक हैं श्रीकृष्ण जो सशंय-विषाद से भरे शिष्य तथा सखा अर्जुन रूपी मन को सर्वदा गीता का अमृत पीला रहे हैं। अतएव विवेक का शरणागत होकर ज्ञान लाभ करना होगा। किन्तु जिसका चित्त शुद्ध न हुआ हो, वह विवेक का आदेश न सुन कर माया के सम्मोहन मंन्त्र से मुग्ध होकर काम करेगा। अतएव विवेक को जगाने के लिये सबसे पहले विधि अनुसार चित्तशुद्धि करने का प्रयोजन है और चित्त-शुद्धि की इच्छा रहने पर भगवत निर्दिष्ट नियमों का पालन अवश्य कर्त्तव्य है। अतः ऋषिगणों ने मानवजीवन के प्रथम अवस्था में ब्रह्मचर्य आश्रम का निर्देश दिया है। ब्रह्मचर्य आश्रम में शास्त्रादि पाठ से ज्ञानलाभ तथा आहार संयम एवं शमदम आदि के अभ्यास से चित्त की शुद्धि होती है। इसीलिये धर्म का आधार ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के अभाव में ही हमारे समाज की आज यह दुर्दशा है। चित्त शुद्ध न होने पर धर्म की ओर अग्रसर होना असंभव है। चित्तशुद्धि के

मामले में सभी धर्मो का मत एक है—चाहे वह इशाई धर्म हो, इश्लाम हो, शाक्त या वैष्णव हो, पौराणिक या दार्शनिक मतवाद हो। इसाई तथा ईश्लाम धर्म ने भी चरित्र गठन पूर्वक चित्तशुद्धि की आवश्यकता पर बल दिया है। कोई भी सम्प्रदाय चोरी या झूठ बोलने के लिये नहीं कहता। तो हम प्रथम जीवन से ही सर्बमत-सम्मत चित्तशुद्धि की साधना को अनायास ही आरंभ कर सकते हैं। इसमें न धोखा खाने का भय है और न किसी विशेष शिक्षा की आवश्यकता। केवल देश काल पात्र भेदानुसार सात्विक आहार और सात्विक चिन्ता के अभ्यास से ही चित्तशुद्धि सहज बन जाती है। इससे शरीर निरोग तथा स्वस्थ रहता है और हृदय भक्ति-विश्वास से भर उठता है।

चित्तशुद्धि होने पर जो जिस भाव तथा विश्वास को मानता हो, उसी का अवलम्वन उसे लेना चाहिये। उसे कभी भी दूसरे के मत की श्रेष्ठता अथवा अपने मतवाद की निकृष्टता, अपने मत को मिथ्या अथवा कुसंस्कारपूर्ण जान कर भी, विचलित नहीं होना चाहिये। अपने मतवाद को दृढ़तापूर्वक धारण कर उसकी परिणति तथा परिपुष्टता के लिये उसे प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि कोई भी मतवाद या संप्रदाय निरर्थक नहीं होता। अज्ञानता के कारण लोग साम्प्रदायिक मतवादों की समालोचना कर दूर्बल अधिकारीयों का मन बिगाड़ देते हैं। उन्हें यह समझना चाहिये कि कोई भी मतवाद मिथ्या नहीं होता। सभी मतवादों के आश्रित लोग या तो पूर्ण सत्य तक अथवा सत्य के निकट तक निश्चित ही

पहुँचेंगे। जब मानव समाज में लोग एक दूसरों से भिन्न प्रकृति के होते हैं, तो फिर उनके मतवादों का भिन्न होना भी स्वाभाविक ही है। अतः मतवादों को पंथ मान कर किसी भी मत की निन्दा करना अनुचित है। विभिन्न मतों (काली, कृष्ण, इसामसीह आदि) की खिचड़ी पकानी उचित नहीं है। अपने मतवाद को, सती नारी की तरह धर्मनिष्ठ बन कर, निभाना पड़ेगा। शिक्षा संस्कार, तथा रुचिभेद के अधिकारानुसार किसी भी एक मतवाद को अवलम्बन बनाना पड़ेगा। फिर विश्वास दृढ़ बन जाने पर भाव पुष्ट होकर लक्ष स्थिर हो जाता है और तदनुरूप साधनप्रणाली का अवलम्बन लेना पड़ेगा। साधना करते हुये लक्षवस्तु की उपलब्धि होते ही, उसके प्रति भक्ति का संचार होगा—उसको पाने के लिये प्राण व्याकुल होने लगेगा। फिर संसार की सब बस्तुओं के प्रति वैराग्य जन्मेगा और अभिष्ट बस्तु की ओर चित्त की अविच्छिन्नता एकांगी गति लाभ करेगा। फिर चित्तवृति का निरोध होकर तत्वज्ञान प्रकाश पायेगा। अब आत्मस्वरूप लाभ से कृतार्थ होकर साधक मुक्तिपद पर अवस्थान करेगा।

किन्तु मुक्तिलाभ करने के लिये किसी मुक्त व्यक्ति के सहायता की विशेष आवश्यकता पड़ती है। हिन्दुशास्त्र में उसी को गुरु कहते हैं। गुरुकृपा बिना मुक्ति के पथ पर अग्रसर होना असंभव है। गुरु यदि शिष्य में अध्यात्मिक शक्ति का संचार न करे तो अध्यात्य ज्ञान लाभ से कृतार्थ होना असंभव सा है। अतएव गुरु की आवश्यकता बिशेष रूप से उपलब्धि होती है। जिन्होंने

आत्मस्वरूप को लाभ किया है, वही गुरु हैं। वह अभाव अन्य किसी के द्वारा पूर्ण नहीं होता। ऐसे गुरु के अभाव में सरल भाव से भगवान की प्रार्थना करनी चाहिये। अकपट तथा सरल भाव के प्रार्थना में बड़ी शक्ति है। जब किसी प्रकार की दूर्वलता का अनुभव हो तो उसके लिये भगवान से प्रार्थना करने पर हाथों हाथ फल प्राप्त होता है। अतः गुरु का प्रयोजन हो तो ही व्याकुल होकर प्रार्थना करनी चाहिये—भगवान गुरु भेज देंगे। उपयुक्त समय आने पर गुरु लाभ अनायास हो जाता है। गुरु मिल जाने पर फिर चिन्ता किस बात की? उनके चरणों में अपना सब कुछ न्योछाबर करके, केवल उनकी आज्ञा का पालन करना होता है और सारा उद्देश्य सिद्ध हो जाता है।

प्रकृत धर्मपिपासु व्यक्ति का जगत में, किसी भी वस्तु का अभाव नहीं रहता। जिस प्रकार दूर से मेला का कोलाहल जोर से सुनाई पड़ता है किन्तु मेले में पहुचते पर वह बन्द हो जाता है, उसी प्रकार धर्मजगत में बाहर से अनेक बात-वितंडा, द्वेष-कोलाहल सुनाई पड़ती है किन्तु प्रकृत धार्मिक के लिये कोई द्वन्द नहीं रहता। मुक्त होना हमारा स्वभाव है इसलिये मुक्तिलाभ हमारे लिये अपेक्षाकृत सहज काम है। धर्म लाभ करने के लिये विद्याबुद्धि का मूलधन अथवा बलवीर्य की आवश्यकता नहीं होती, केवल पूर्ण विश्वास और भक्ति चाहिये। मनुष्य के मन में स्वभावतः दो प्रश्नों का उदय होता है—भगवान हैं या नही? यदि नहीं हैं तो चार्वाक के मत का अनुसरण करना होगा। यदि हैं, तो 'मैं कौन

हुँ ?' का अनुसंधान करना होगा। यदि ईश्वर हैं तो किसी ने तो अवश्य देखा होगा तो उसके निकट जाकर हम ईश्वर को दखेंगे। जिन उपायों के अवलम्वन से उन्होंने ईश्वर को पाया है, उसे उनके निकट सीख कर हम कृतार्थ हो सकते हैं। जो भगवान को नहीं मानते वे काली कृष्ण आदि के संस्कार को भूला कर सरल समाहित चित्त से अपने को पूछे कि उसे किस वस्तु का अभाव है ? वह भला चाहता क्या है ? हम सुख चाहते हैं। चिरकाल तक निरविच्छन्न सुख लाभ, हम चाहते हैं। किन्तु सुख है कहाँ ? धन, जन, विद्या, बुद्धि, ख्याति, प्रतिपत्ति अथवा नाम-यश आदि अनित्य पार्थिव पदार्थ से कभी कोई सुखी नहीं बन सका है। अतः उससे आप सुखी कभी नहीं रह सकते। तुम स्वयं आनन्दमय हो। तुम अपने स्वरूप को जान लेने पर ही सुखी बनोगे। जो व्यक्ति भगवान को नहीं मानता लेकिन सुख माँगता है और जो व्यक्ति सुख नहीं चाहता किन्तु भगवान लाभ करने के लिये व्याकुल है—वे दोनों प्राय एक ही बस्तु के भीखारी हैं। सुखस्वरूप भगवान के सिवा सुख कहाँ ? और ईश्वर लाभ होते ही सुखलाभ होता है। अतः वे दोनों एक ही पथ के पथिक हैं किन्तु अनभिज्ञ स्थूलदर्शी व्यक्ति उन्हें नास्तिक और भक्त की आख्या देकर द्वन्द तथा हिंसा की सृष्टि करते हैं। प्रकृत ईश्वरभक्त यदि श्रीकृष्ण को निन्दा भी करे फिर भी वह नास्तिक नहीं कहलाता क्योंकि श्रीकृष्ण भगवान हैं—इस सत्य को या वह नहीं जानता अथवा वह नासमझ है। वैष्णव संम्प्रदाय को चाहिये कि वैसे धार्मिक व्यक्ति को भी कृष्ण-

भक्त मान ले। हम सब प्रवाह के जल है, अनन्त धाम के यात्री है। यद्यपि अपने अपने निवासस्थल से यात्रा करने के कारण अनेक पथों की सृष्टि हुई है तथापि सबकी गति भगवान के चरणों में ही केन्द्रित है। फिर वृथा हिंसाद्वेष, द्वन्द-कोलाहल क्यों? यदि हमें सुख चाहिये तो सब प्रकार से भगवान का शरण लेना चाहिये। उनकी कृपा से अनन्त सुख शान्ति का अधिकारी बन कर हम नित्यधाम को प्राप्त कर सकेंगे।

अतएव धर्म लाभ करने में बाधा का प्रश्न उठता ही नहीं। किसी भी एक मतवाद को मान कर चलने से ही कृतार्थ होना संभव है। आत्महत्या करने के लिये केवल एक आलपीन ही यथेष्ट है किन्तु दूसरों की हत्या करने के लिये ढाल तलवार तथा युद्धशिक्षा का प्रयोजन पड़ता है। उसी प्रकार अपने धर्म के लिये विशेष कष्ट करना नहीं पड़ता किन्तु यदि लोकशित्ता देनी हो तो उसे अनेक शास्त्र, अनेक पंथ, अनेक मतवाद तथा अनेक साधन प्रणालियों का ज्ञान रखना पड़ता है। किन्तु सत्य को प्रत्यक्ष न कर गुरु होने की स्पर्धा तथा शास्त्रालोचना करना केवल बिड़म्वना मात्र है। ऐसे ही कुछ लोगों के कारण हिन्दुसमाज आज इतना नीचे आ गिरा है। अधिकारी बने बिना ही जो लोग शास्त्र की ब्याख्या तथा धर्म प्रचार करते हैं, वे देश तथा मनुष्य समाज के घोर शत्रु है। सत्यलाभ किये बिना शास्त्र पाठ किये शास्त्र का निगुढ़ अर्थ तथा उसका मर्मरहस्य भेद करना संभव नहीं होता। हिन्दु-शास्त्र अनन्त है। सब प्रकार के अधिकारीयों के लिये स्थान

रखने के लिये, प्रवृत्ति-पथ को शाखा प्रशाखायें विभक्त होकर निवृत्ति के पथ की ओर बढ़ती हुई भी धीरे धीरे अनन्त देश तकपहुँच गयी है। वालक के सुकोमल हृदय में धर्मवीज वपन करने के लिये वर्णाश्रमोचित ब्रत-नियमों से लेकर ब्रह्मगतप्राण, निराकार ब्रह्मोपासना, सन्यास तक, हिन्दुधर्म का शरीर है। गुरुकृपा से, प्रकृत ज्ञान न होने तक, शास्त्रपाठ के द्वारा उन्हें हृदयंगम करना कठिन है। वास्तव में शास्त्र तथा सब साधनों का मुख्य उद्देश्य तथा फल एक है। किन्तु उद्देश्य-पथ पर चलने की प्रणाली या पद्धति अलग हो सकते हैं। शास्त्र सत्यदर्शी ऋषियों के द्वारा रचे गये हैं। सत्य एक हैं। अतएव क्या शास्त्र कभी परस्पर विरोधी या मिथ्या संवादी हो सकता हैं? जो अनधिकारी हैं, वे अपने स्थूल बुद्धि के द्वारा शास्त्रों की आलोचना में भिन्नता ढूंढ पाते हैं। इसी कारण आज एक ही शास्त्र को भिन्न भिन्न लोग अपने संस्कार तथा शिक्षानुसार भिन्न भिन्न व्याख्या देकर समाज को हिंसा द्वेष की आग में जला रहे हैं। वे एक अधिकारी का उपदेश, दूसरे अधिकारी को देकर, गृहस्थ के लिये दिये गये उपदेश को सन्यासी को दे रहे हैं और सन्यासी के उपदेश को ब्रह्मचारी के समक्ष रख कर, समाज को विपथगामी कर रहे हैं। साधारण मनुष्य, इन शास्त्र व्याख्या कारीयों, प्रचारकों तथा उपदेशकों के विभिन्न भवँर में पड़ कर, डूब रहे हैं। इसीलिये सत्यलाभ किये बिना, किसी भी शास्त्र के भूलन्भुलैया में प्रवेश करना, उचित नहीं है। ऐसा करने पर जीवन भर में वहाँ से बाहर निकलना मुश्किल

हो जायेगा। लोग केवल व्यवहारिक बुद्धि को आधार बना कर शास्त्र पढ़ते हैं और मूर्ख समाज में पंडित बन कर, केवल वृथा तर्कजाल के माध्यम से बात का बितंडा बनाते फिरते हैं। ऐसे लोग प्रकृत ज्ञान लाभ नहीं कर सकते वल्कि सैंकड़ो लोगों को बिपथ पर ले जाकर दलों की सृष्टि किया करते हैं। हमें चाहिये कि भगवान तथा भक्त के लीला ग्रंथों का हम नियमित पाठ करें— और अपने अपने साधन पंथ का कार्यसाधनोपयोगी सारांश, शास्त्रों को भी पढ़ें। फिर सत्य लाभ करने के बाद, साधारण लोगों में शिक्षा देने के निमित्त समग्र हिन्दुशास्त्र का अध्ययन करें। तब जाकर पता चलेगा कि हिन्दु शास्त्र में किस तरह शृंखलावद्ध रूप से सारे तत्व सजाये गये हैं। कोई भी शास्त्र मिथ्या अथवा निरर्थक नहीं है। किसी न किसी अधिकारी के लिये वह प्रयोजनीय सिद्ध होगा ही। कोई ऐसा विषय जाहे वह राजनीति हो, समाजनीति हो या धर्मनीति हो, नहीं मिलता जिसकी चर्चा हिन्दुशास्त्र ने न की हो। किन्तु हमलोग उपयुक्त गुरु के अभाव में, उपयुक्त शिक्षालाभ से वंचित होने के कारण, असीम ज्ञान-सम्पन्न आर्यवंश में जन्म लेकर भी अकर्मन्य तथा नगण्य बने हुये हैं और सदा सर्वदा रोग शोक तथा संकल्पित कर्मनाश के हेतु हताशा में बस जी रहे हैं मात्र।

अतएव जो सत्य लाभ से कृतार्थ हुये हों, केवल वे ही हिन्दुशास्त्र-रूप कल्पभंडार का द्वारपाल बन कर जन साधारण के समक्ष अधिकारानुरूप तत्वकथा के प्रचार से समाज में सुखशान्ति की

प्रतिष्ठा करने में समर्थ हैं। केवल वे ही त्रितापदग्ध जीवगणों के शुष्क कंठों में धर्म की अमृतधारा पिला कर उन्हें संजीवित कर सकते हैं। हे पाठक! हमारे प्रकाशित ब्रह्मचर्य साधन, योगीगुरु, ज्ञानीगुरु, तान्त्रिकगुरु तथा प्रेमिकगुरु,* ये पाँच ग्रंथ हिन्दुशास्त्र के सार हैं। हिन्दुशास्त्रसमुद्र के मंथन से इस सुधा का उद्भव हुआ है। इस सुधा के पीने से मरजगत के लोग भी अमृतत्व को लाभ कर सकेंगे। उनके आत्मज्ञान की अपूर्ण आकांक्षा दूर भागेगी। हमने जिस द्वन्दहीन धर्मलाम की चर्चा की है उसको लाभ करने में ये पुस्तकें सहायक बनेंगी। यदि ये पुस्तकें घरमें रहें तो विशाल हिन्दुशास्त्र को लेकर सर ठोकना नहीं पड़ेगा। इसमें चित्तशुद्धि, योग, ज्ञान, कर्म, भक्ति, सभी शास्त्रों का सारतत्व मिलेगा। फिर मन को स्थिर करने के लिये 'योगीगुरु' में वर्णित

* ग्रंथकार की इन पुस्तकों ने धर्म जगत में एक युगान्तर लाया है। सारे बंगाल में इन सब ने एक आलोड़न जगाया है। इससे पहले सरल सहज भाव से आध्यात्मिक रहस्यों की उच्चांग पुस्तक बगला भाषा में प्रकाशित नहीं हुई हैं। प्राणवन्त भाषा की मनोहरता ने इसको चार चाँद लगाये हैं। बृटिश म्युजियन ने इन्हें सादर ग्रहण किया है और उनके गुणी सम्पादक ने पुस्तक से मुग्ध होकर एक लम्बा प्रशंसा पत्र लेखक को भेजा है और आन्तरिक धन्यबाद भी। भारतवासीयों की प्रशंसा तथा आग्रह की चर्चा अधिक न ही करे तो अच्छा है। ये पुस्तकें ग्रंन्थकार के जीवनव्यापी साधना का सुखमय फल है। इस गंथ के निर्देशित पथ पर चलने से इसाई या मुसलमान तक भी अपने संप्रदाय के भाव को मान्यता देते हुये, अपूर्ण आकांक्षा को पूर्ण कर सकेंगे। मानव जीवन के पूर्णत्व की साधना करनी है तो मैं उन्हें इसे पढ़ने के लिये अनुरोध करूँगा। —प्रकाशक

आसन, मुद्रा, प्राणायाम, तथा छोटी मोटी साधनाओं का अभ्यास करना पड़ेगा। इसके साथ आत्मज्ञान के लिये 'ज्ञानीगुरु' ग्रंथ के तत्वों को विचार करना पड़ेगा। फिर जीवन के चरम लक्ष के स्थिर होते ही स्थूलरूप से 'तान्त्रिकगुरु' के कर्मानुष्ठानों अथवा 'योगीगुरु' या 'ज्ञानीगुरु' के वर्णित योग साधना के माध्यमसे लक्ष-वस्तु को उपलब्ध करना होगा। फिर जाकर 'प्रेमिकगुरु' के प्रेमभक्ति के अमृतप्रवाह में बह कर अनन्त काल के लिये लक्षबस्तु में मग्न होकर निर्वाण लाभ करना होगा। इन ग्रंथों में साधक के अधिकार अनुसार अनेक प्रकार के साधन पंथों की चर्चा है। नया कोई भी तत्व इन ग्रंथों में अछूता नहीं है। इन ग्रंथों में हिन्दुशास्त्र को उपलब्ध करने के लिये जिन पद्धतियों का अवलम्बन करने के लिये कहा गया है—धर्म के जटिल तथा गुह्य तत्वों को जिस प्रकार उद्घाटित किया गया है—साधन के गुह्य तथा कूटस्थान के जो नियम यहाँ बखाने गये हैं, ज्ञान कर्म भक्ति से आचार तथा साधना के जो तारतम्य यहाँ दिखलाये गये हैं—योग, याग, तप, पूजा, संध्याह्निक पद्धतियाँ, नित्यानुष्ठान कर्मो के उद्देश्य तथा युक्तियाँ जो इनमें दिखालायी गई हैं—तन्त्र पूराणों की देवदेवी, लीला कहानी, मुक्ति तत्व, तंन्त्र, यन्त्र, अवतारवाद, मतवाद आदि के मर्म को अवगत होने की जिन उपायों का वर्णन इनमें किये गये हैं —समन्वय तथा सामंजस्य के साथ अधिकारानुसार शिक्षा दान की व्यवस्थायें जो यहाँ दी गई हैं—इन्हें सीख कर यदि कोई हिन्दुशास्त्र की आलोचना करे तो स्पष्ट रूप से वह हिन्दुधर्म के मर्मरहस्य को

जान सकेगा। फिर वह विष्मित तथा स्तम्भित होकर विनम्र हृदय से शास्त्रकार ऋषियों के उद्येश्य में प्रणाम निवेदन करेगा। तब जाकर लोग हमारे इस उदार मतवाद की शीतल छाया में आश्रय लेकर कृतार्थ हो जायेंगे। यदि ऐसा न कर, हम प्राचीन तथा महापुरुषों के परम्परागत प्रकाशित शास्त्रसमुद्र को एक ही गंडुष में पी जाने की चेष्टा करें, तो लोग हमारी हँसी उड़ायेंगे। आशा है कि स्वजाति, स्वधर्म के हित चाहने वाले लोग, इस बात को कभी भी नहीं भूलेंगे।

अन्त में देश के महामान्य नेता तथा धर्म और समाज के संस्कारकगणों के निकट ग्रंथकार का निवेदन है कि आपलोग पथ को छोड़ कर बिपथ पर क्यों चल रहे हैं? घर की नींव को त्याग कर आपलोग छत तैयार करने में क्यों व्यस्त हो पड़े हैं? धर्म या समाज बचेगा तब तो आप उसका संस्कार करेंगे? आज भाई भाई का, पिता पूत्र का, स्वामी-स्त्री का, समाज तथा धर्म भिन्न है। फिर आप संस्कार किसका करेंगे? सिर रहने पर ही सिर का दर्द होगा। पहले समाज को एकता के बन्धन में बाँधिये, फिर जाकर दोष का संस्कार कीजिये। मृत समाज के शरीर में आघात पहुँचा कर, देह के अंगों को गलाइये मत। पहले समाज के शरीर को संजीवित कीजिये, फिर दूषित अंगों को काट फेंकिये। दबा और पथ्य पड़ने पर घाव दो चार दिनों में भर आयेंगे। पहले स्वयं संस्कृत बनिये, धर्मलाभ कीजिये, फिर जाकर संस्कार या धर्मप्रचार कीजिये। स्वयं अंधे होकर, अंधों

को रास्ता दिखलाने के बहाने, दोनों गड्डे में न गिरिये। ब्राह्मणों की निन्दा करने से पहले अन्य जाति को यह सोचना चाहिये कि वे स्वयं अपने जातिधर्म का पालन कर रहे भी हैं या नहीं? बनाबटी सन्यासी या वैरागी के अधःपतन से जो दुःख प्रकाश कर रहे हैं, उन्हें यह देखना चाहिये कि क्या वे स्वयं गार्हस्थ धर्म का पालन कर रहे हैं? हमारे जातिय जीवन के अवनति का प्रधान कारण यह है कि हम अपने दोषों को न देखकर, दूसरों के दोष को ढूँढते फिरते हैं। दूसरों की निन्दा, आलोचना करते समय यह नहीं सोचते कि हम स्वयं कितने नीचे उतर आये हैं। अतएव हमें चाहिये कि दूसरों के चर्खे में तेल न डाल कर अपने को सुधारने की चेष्टामें हम अपने आप को उत्सर्ग कर दें। लम्बी लम्बी बाते न बना कर, सबसे पहले शिक्षा बिस्तार की चेष्टा करनी होगी। छोटे बड़े सबको शिक्षा दिलवाने की व्यवस्था करनी पड़ेगी। हम प्रकृत शिक्षालाभ करने के पश्चात जब जीवजगत तथा भगवान के अच्छेद्य सम्पर्क को हृदयंगम कर सकेंगे, तब जाकर भगवान शंकराचार्य के निम्नलिखित इस श्लोक के महान उदार भाव—अच्छेद्य प्रेम-भाव, को समझ पायेंगे।

"माता च पार्वती देवी पिता देवो महेश्वरः।
वान्धवाः शिवभक्ताश्च स्वदेशो भुवनत्रयम्।"

फिर 'मैं' का छोटा बृत्त सारे विश्व में प्रसारित होगा और जगत के स्वार्थ के सामने अपना क्षुद्र आत्म-स्वार्थ पीछे पड़ जायेगा। इस प्रसारित "मैं" के बन्धन में राजा-प्रजा, धनी-दरिद्र, ब्राह्मण-चाण्डाल,

पशु-पक्षी तथा कीट-पतंग तक जकड़ जायेगा। तब जाकर प्रकृत समाज प्रतिष्ठित होगा। उस स्थिति में हम गले में एकता का हार पहन कर, विश्व विजय करने में समर्थ होंगे। यदि हमारे पढ़ाये हुये शिक्षा से जीवन गठन न हो सके तो वह शिक्षा के नाम पर धब्बा है। अतएव सबसे पहले शिक्षा लाभ कर उसके अनुरूप चरित्र को गठन करना चाहिये। फिर साधु-शास्त्र की कृपा तथा साधना के द्वारा सत्यलाभ करके कृतार्थ होकर जगत के हित साधन में अपना जीवन उत्सर्ग करना चाहिये। हमें न किसी की निन्दा करनी चाहिये और न बृथा समालोचना ही वल्कि पापी-तापी, ब्राह्मण-चांडाल, स्त्री-पुरुष, सब को शिक्षा देनी चाहिये और सब बन्धुओं को अपने कंधो पर उठाकर अध्यात्मिक राज्य की सीड़ीयों पार लगा देनी चाहिये। किसी के विश्वास को नष्ट किये बिना यदि संभव हो तो उन्हें अपने पास से कोई नई बस्तु दे देनी चाहिये। उनकी आँखों में अंगुली डाल कर जता दो कि हम सब एक ही पिता के सन्तान हैं, एक ही पथ के यात्री हैं और सबको एक ही जगह जाकर विश्राम लेना है। क्रमश हम देखेंगे कि जगत से हिंसा-द्वेष विदुरित होकर सब प्रेम के बन्धन में बँध गये हैं। एकता के इस पवित्र बन्धन में—प्रेमसुधा से सिंचित हवा के झोंके से समाज संजीवित हो उठेगा और ऐसा होते ही तत्काल हिन्दुधर्म की विजयपताका भारत के गगन में लहराने लगेगा। फिर से हिन्दुधर्म और हिन्दुजाति का गौरव चारों ओर प्रतिध्वनित हो उठेगा।

हे पाठक! भारतवर्ष के स्वर्णयुग में देव कल्प ऋषियों ने साधना रूपी पर्वत के समाधि रूप उच्चशिखर पर बैठ कर, ज्ञान की दीप्त-शिखा को प्रज्वलित कर जिस नित्य सत्य अध्यात्मिक तत्वावलियों का आविष्कार किया है, उसी का सुधामय फल हिन्दुशास्त्र है। इन आर्य ऋषियों के तप-प्रभाव से प्राप्त तथा लोकहित के कारण प्रचारित अमुल्य ग्रंथों की अवहेलना कर, अपने स्वकपोलकल्पित धर्म मतवाद की सारहीन वस्तु को आधार बना कर, स्वजाति तथा स्वधर्म को कलंकित करना अनुचित है। आत्मशक्ति, आत्मप्रतिभा, आत्मसाधना तथा युक्ति-विचार को त्याग कर, दूसरों का अनुकरण करना, हाथ आये खीर को त्याग, मुट्ठि भर भीख के निमित्त दूसरों के द्वार को खटखटाने के बराबर है। अपने हाथों अपने कान को टटोले विना, दुसरों की बात पर खोये गये कुंडल की खोज में बाहर मत निकलो। जड़ पदार्थों की तरह, जड़, मूर्तिपूजक, कुसंस्कार का बितंडा खड़ा करके तुम अपने पूर्वपूरुष ऋषियों की, स्वदेश तथा स्वजाति तथा स्वधर्म की निन्दा प्रचार मत करो। अपनी रसना को तुम कलुषित मत बनाओ। आत्म मर्यादा को भूल कर, दुसरों के पैर चाटते हुये, समग्र जाति को तुम कलंकित मत करो। जिस देश तथा जिस जाति में तुम्हारा जन्म हुआ है उसके गौरव को उपलब्ध न कर सकने के कारण स्वरूप, अपने भाग्य को दोष न दें। इस देश की तो बृक्षलता तक भी तपस्वी हैं—उनका तन न जाने कितने साधु, कितने अवतारों के पैरों की धूल से पवित्र बन चुका है।

केबल इस देश की मिट्टी पर, मात्र लोटपोट करने से, बिना साधना के ही जीवन धन्य हो जाता है। क्या आपने कभी मुड़ कर देखा है कि भारतवर्ष की पवित्र गोद में कितने संप्रदाय, कितने मन्दिर, कितने धर्मशाले आज भी मौजुद हैं ? क्या कभी आपने अनुसन्धान किया है कि यहाँ कितने आश्रम, कितने तीर्थ, कितने त्यागी बैरागी वर्त्तमान हैं ? हमारे अशिक्षित वालक को भी परलोक के सम्पर्क में जितना अध्यात्म संस्कार है, अन्य देशों के नामी-धामी शिक्षित व्यक्ति को भी उतना सा लाभ करने में बहुत समय लगेगा। यह सौभाग्य है कि इस पतित देश, पतित जाति में मेरा जन्म हुआ। इस देश में जन्म लेकर, बचपन से ही इस देश के संस्कार को लाभ करने पर भी यदि हम उस अध्यात्म तत्व को उपलब्ध कर न पायें तो दूर समूद्र पार के देशवासी उसे कैसे लाभ करेंगे। यदि हम उनकी बातों में आकर, उनके मतवाद पर चल कर, अपने आत्म-गौरव को नष्ट कर दें तो यह दूर्भाग्य की बात है। यदि दर्भाग्यवशतः हम उन तत्वों को समझ न पायें, हमारे क्षूद्र मस्तिष्क में यदि वे तत्व घर न बना सकें तो उसे हमें ग्रहण नहीं करना चाहिये किन्तु मूर्ख की तरह उनकी निन्दा करने पर विद्वत समाज हमारी अवज्ञा अवश्य करेगा। सर्व प्रथम नियन्त्रित जीवन गठन पूर्वक ज्ञान लाभ करने का प्रयत्न करना चाहिये और फिर अज्ञान के स्थूल यवनिका को भेद कर दृष्टि प्रसारित होने पर हम समझ पायेंगे कि इस वैचित्रमय सृष्टि राज्य की सीमा कहाँ तक है ? फिर हम अनुधावन कर सकेंगे कि आर्य ऋषियों के द्वारा युग-युगान्तर के आविष्कृत

शास्त्र में कितना अमूल्य रत्न छिपा हुआ है। हिन्दुशास्त्र के विशाल कल्पभंडार में इहलोक तथा परलोक के कितने अगणित, अजानित, अप्रकाशित तत्व स्तरों में संवार कर रखे हुये हैं। हमें उनका अनुसंधान करना चाहिये और साधना के द्वारा मानव जन्म को धन्य बनाकर इसका उपभोग करना चाहिये। हिन्दुधर्म के विमल स्निग्ध-किरण के द्वारा उद्भासित तथा प्रफुल्लित होकर भारतवर्ष के पूर्व-गौरव को फिर से उद्दीप्त करना होगा जिससे उसके विजयदुन्दुभि की ध्वनि से चारों दिगन्त प्रतिध्वनित हो उठे। अब मैं भी आपलोगों से क्षमा मांगुंगा। आइये, भाई-भाई के गले लग जायें और इस पतित देश, तथा जाति को मंगल कामना की कृपाभिक्षा उस पतितपावन, दीनशरण, अधमतरण, भय-निवारण, सर्व सामंजस्य रूपी, सत्यस्वरूप सनातन गुरुब्रह्म के धर्म-कामार्थ-मोक्षप्रद अतुलनीय कृपालु चरणों में, प्रार्थणा करें—

नित्यं शुद्धं निराभासं निराकारं निरंजनम्।
नित्यबोधं चिदानन्दं गुरुब्रह्म नमाम्यहम्॥

ॐ शान्तिरेव शान्तिः ॐ

सम्पूर्ण

ॐ श्रीश्रीकृष्णार्पणमस्तु

आसाम-वङ्गीय सारस्वत मठके प्रतिष्ठाता
परमहंस परिव्राजकाचार्य
श्रीमदाचार्य स्वामी निगमानन्द सरस्वतीदेव प्रणीत

सारस्वत ग्रन्थावली

१। **ब्रह्मचर्य-साधन** या ब्रह्मचर्य पालनकी नियमावली। इस पुस्तकमें ब्रह्मचर्य साधनकी धारावाहिक नियमावली व उनकी उपकारिता सुशृङ्खल और सरल भाषामें विबृत की गई है एवं ब्रह्मचर्य रक्षाकी बहुतसी योगोक्त साधन-प्रणालीयोंका भी वर्णन है। मूल्य २.५० ढ़ाई रुपये मात्र। इसका हिन्दी संस्करण २.५० ढ़ाई रुपये, आसामी संस्करण २.०० दो रुपये।

२। **योगीगुरु** या योग और साधन पद्धतियाँ। इस पुस्तकमें सहज उपायसे योग साधना को पद्धतियाँ सरल भाषामें वर्णन की गई हैं। यह पुस्तक चार कल्पमें खण्डित है—योगकल्प, साधनकल्प, मन्त्रकल्प और स्वरकल्प। योग साधक के लिये बड़ा उपकारी पुस्तक है। मूल्य ग्रन्थकारके चित्रके साथ ७.०० सात रुपये, हिन्दी संस्करण १०.०० दश रुपये, आसामी संस्करण ५.०० पाँच रुपये।

३। **ज्ञानीगुरु** या ज्ञान और साधन पद्धतियाँ। इसमें खासकर ज्ञान और योगके ऊँचे अंगोंकी विशेष रूपसे आलोचना की गई है। यह पुस्तक तीन काण्डोंमें खण्डित है—नानाकाण्ड, ज्ञानकाण्ड और साधनकाण्ड। इस ग्रन्थको योगीगुरुका दूसरा खण्ड कहा जा सकता है। यह बहुत बड़ा पुस्तक है। ग्रन्थकारके हाफटोन चित्रके साथ मूल्य ८.०० आठ रुपये हैं, हिन्दी संस्करण ८.०० आठ रुपये हैं।

४। **तान्त्रिकगुरु** या तन्त्रसाधन पद्धतियाँ—इस देशमें तन्त्र मतमें ही दीक्षा और नित्यनैमित्तिक क्रियाकलाप हुआ करते हैं। इसीलिये यह कहना वृथा है कि, यह पुस्तक सर्व साधारणके लिये विशेष आवश्यक है। यह युक्तिकल्प, साधनकल्प और परिशिष्ट—इन तीन खण्डोंमें विभक्त है। परिशिष्ट में योगिनी-साधन, सर्वज्ञतालाभ, दिव्यदृष्टिलाभ, अदृश्य होनेके उपाय, शूलरोग प्रतिकार इत्यादि बहुत विषय वर्णित है। ग्रन्थकारके चित्रके साथ मूल्य ८·०० आठ रुपये हैं, हिन्दी संस्करण ६·०० छे रुपये हैं।

५। **प्रेमिकगुरु** या प्रेमभक्ति और साधन पद्धतियाँ। इसमें मानव जीवनकी पुर्णतम साधना प्रेमभक्ति और मुक्ति के विषयका विशुद्ध रूपसे वर्णन किया गया है। यह दो खण्डोंमें विभक्त है—पूर्वस्कन्ध—प्रेमभक्ति और उत्तरस्कन्ध—जीवन्मुक्ति। मूल्य ७·०० सात रुपये हैं। हिन्दी संस्करण १५·००।

६। **माताकी कृपा**—इस ग्रन्थमें एक साधकने किस तरह से साधना करके मातासे साक्षात् किया और माताने अपने श्रीमुखसे जो उपदेशामृत दिये उनका पूरा पूरा वर्णन किया गया है। मूल्य १·५० देढ़ रुपये। हिन्दी संस्करण १·५०।

७। **उपदेश-रत्नमाला**—इस पुस्तकमें ऋषि और साधु महापुरुषोंके कर्म, ज्ञान और भक्ति के सम्बन्धमें बहुतसी आध्यात्यिक तत्वपूर्ण उपदेशावली निबन्ध हुई है। मूल्य ॥।) बारह आने।

बंङ्ला भाषामें लिखित पुस्तकें

कुम्भयोग २.००, तत्वमाला १म खण्ड ३.००, २य खण्ड ३.००, ३य खण्ड ३.००, साधकाष्टक ३.५०, बेदान्त-बिबेक ३.००, शिक्षा ५.००, उपदेश रत्नमाला ०.७५, स्तोत्रमाला १.००, श्रीश्रीनिगमानन्द की जीवनी और वाणी ६.००, अभय-वाणी १.००, निगमवाणी १.००, कीर्तनमाला ५.००, श्रीश्रीनिगमानन्द-उपदुशामृत ५.००, निगमप्रसाद २.००, श्रीश्रीगुरुतत्वसंचयन ३.००, संघवाणी ०.७५, मनःशिक्षा ३.००, उत्कलतीर्थे ४.००, नीलाचले ठाकुर निगमानन्द १म खण्ड १५.००, २य खण्ड १०.००, भक्तसम्मिलनी का भाषण १०.००, श्रीश्रीठाकुर का लौकिक विद्या और अलौकिक शक्ति ७.००, उपनिषद् मनन १म खण्ड ४.००, २य खण्ड ५.००, ३य खण्ड ४.००, श्रीश्रीनिगमानन्द गल्पसंचयन ५.००, वेदान्तकेशरी १म खण्ड २.५०, आभासवादी निगमानन्द १.५०, ॐ तत् सत् ०.५०, गुरुसर्वस्व आगम तन्त्रशास्त्र ०.५०, देवी भूत्वा देवं यजेत् ०.५०, छन्दे निगमानन्द १म खण्ड ६.००, २य खण्ड ७.००, ३य खण्ड ८.००, ४र्थ खण्ड १२.००, आचार्य शंकर और तदीय मतवाद ६.००, तोमादेर निगमानन्द २.५०, महापुरुष (नाटक) ६.०० ।

— प्राप्तिस्थान —

(१) आसाम-वंगीय सारस्वत मठ, पो० हालिशहर, २४ परगणा ।

(२) महेश लाइब्रेरी, २/१ श्यामाचरण दे ष्ट्रीट्, कलकत्ता-७३ ।

(३) सर्वोदय बुक स्टल, हावड़ा ष्टेशन, पो० जि० हावड़ा ।

(४) संस्कृत पुस्तक भंडार, ३८ विधान सरणी, कलकत्ता-६ ।